नागरिकशास्त्र के सिद्धान्त

लेखक

राजनारायण गुप्त

एम० ए० (अर्थशास्त्र और राजनीति), एलएल० बी०

लेखक—*Principles of Civics, Indian Constitution & Civic Life, Iran—An Economic Study, Oil in the Modern World etc.*

किताब महल

इलाहाबाद • बम्बई

मूल्य ३॥)

प्रथम संस्करण, (२००० प्रतियाँ) १९४८

द्वितीय संस्करण, (५००० प्रतियाँ) १९५०

प्रकाशक—किताब महल, ५६-ए, ज़ीरो रोड, इलाहाबाद

मुद्रक—गंगादीन जायसवाल, श्याम प्रिंटिङ्ग प्रेस, इलाहाबाद

प्रस्तावना

नागरिकशास्त्र का अध्ययन प्रत्येक मनुष्य के लिए आवश्यक है। यह वह शास्त्र है जिसके ज्ञान के बिना मनुष्य सच्चा मनुष्य कहलाने का अधिकारी नहीं। यह वह ज्ञान है जो मनुष्य को उसके सामाजिक कर्तव्यों और अधिकारों का ज्ञान कराता है। यह वह विद्या है जिसका सम्बन्ध हमारे नित्य के दैनिक जीवन से है ? यदि हम चाहते हैं कि हमारे सबके जीवन में सुख और शान्ति का साम्राज्य रहे और हमारा समाज प्रगतिशील बने तो हमें अपने कर्तव्यों को जानकर उनका पालन करना और अभिकारों को जानकर उनको प्राप्त करना सीखना चाहिए। यदि हम चाहते हैं कि आजकल की दुनिया से हम सारा विषाद, कलह, द्वेष, प्रतिस्पर्धा, अभिमान, लड़ाई-झगड़े, निर्धनता और दूसरे हर प्रकार के दोष निकाल सकें और इस पृथ्वी पर एक सच्चे स्वर्ग का निर्माण कर सकें तो हमें नागरिकशास्त्र का अध्ययन करना और उसके सिद्धान्तों पर अमल करना सीखना चाहिए।

यह हमारे देश का दुर्भाग्य है कि ऐसा उपयोगी विषय भी अब तक हमारे कालेजों की शिक्षा का एक आवश्यक अंग नहीं बन पाया है। भारत के केवल थोड़े से ही प्रान्तों में यह विषय इन्टरमिडीएट कक्षाओं में एक ऐच्छिक विषय के रूप में और हाई स्कूल की कक्षाओं में एक अनिवार्य विषय के रूप में पढ़ाया जाता है। संसार के प्रत्येक दूसरे सभ्य देश में यह विषय प्राय: अनिवार्यरूप में पढ़ाना पड़ता है इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि यह विषय भारतवर्ष की प्रत्येक परीक्षा के लिए ऐच्छिक न रहकर आवश्यक बना दिया जाय।

अब तक इस विषय पर अंग्रेजी भाषा में ही पुस्तकें मिलती थीं क्योंकि विद्यार्थियों को यह विषय अंग्रेजी में ही पढ़ाया जाता था। परन्तु हिन्दी हमारे देश की राष्ट्र-भाषा बन चुकी है। इसलिये इस विषय पर अब कुछ पुस्तकें हिन्दी में लिखी गई हैं। परन्तु इनमें से अधिकतर

पुस्तकें ऐसी हैं जिनमें बोर्ड द्वारा स्वीकृत एफ० ए० के पाठ्य-क्रम का कोई ध्यान नहीं रखा गया है और जिन्हें एफ० ए० के परीक्षार्थियों के लिए उपयुक्त और प्रमाणिक नहीं कहा जा सकता। प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने इन सब बातों पर ध्यान दिया है। एफ० ए० के विद्यार्थियों और जन-साधारण को इस विषय का समुचित ज्ञान कराने के लिए यह पुस्तक सरल हिन्दी में लिखी गई है। प्रयत्न इस बात का किया गया है कि कोई भी विषय, जिस पर परीक्षा में प्रश्न पूछे जाते हैं, अछूता न रह जाय। प्रत्येक अध्याय के अन्त में उन सब प्रश्नों की एक सूची भी दे दी गई है जो अब तक उस अध्याय के विषय के सम्बन्ध में यू० पी० की एफ० ए० की परीक्षा में पूछे गये हैं।

इस पुस्तक के लिखने में लेखक ने अनेक प्रामाणिक (Standard) अंग्रेजी और हिन्दी की पुस्तकों से सहायता ली है और इसलिये लेखक उन सब पुस्तकों के लेखकों का आभारी है।

इस पुस्तक के लिखने में जिस उद्देश्य को समने रखा गया है वह कहाँ तक सफल हुआ है, इसका निर्णय तो पाठक ही करेंगे। परन्तु यदि इस पुस्तक से कुछ भी सुविधा विद्यार्थियों को इस विषय के समझने में मिल सकी तो लेखक अपने परिश्रम को सार्थक समझेगा।

नई दिल्ली, राजनारायण गुप्त

ता० १ जनवरी, १९४८

द्वितीय संस्करण

प्रस्तावना

'नागरिकशास्त्र के अध्ययन' का प्रथम २००० पुस्तकों का संस्करण एक वर्ष में ही समाप्त हो गया. यह इस पुस्तक की लोकप्रियता तथा उपयोगिता का समुचित प्रमाण है। लेखक नागरिकशास्त्र के उन सभी अध्यापकों का हृदय से आभारी है जिन्होंने इस पुस्तक को अपने पाठ्यक्रम में स्थान देकर उसे इस बात का अवसर प्रदान किया कि वह इस पुस्तक का दूसरा सशोधित संस्करण इतनी शीघ्र निकाल सके। प्रस्तुत संस्करण में बहुत सी नई सामग्री जोड़ दी गई है तथा भारत की स्वतंत्रता प्राप्ति तथा नये विधान के लागू होने से उत्पन्न स्थिति का पूर्ण विवरण भी दे दिया गया है। इस सस्करण में राजनैतिक शब्दों का प्रयोग उसी भाषा में किया गया है जिसमें कि वह भारत के नये हिंदी संविधान में प्रयोग में लाए गये हैं। इस प्रकार अंग्रेज़ी राजनैतिक शब्दों का अनुवाद प्रामाणिक कहा जा सकता है। पुस्तक के अत में अंग्रेजी तथा हिन्दी में ऐसे सब शब्दों की सूची दे दी गई है जो साधारणतया नागरिक तथा राजनीति शास्त्र के अध्ययन में प्रयोग में आते हैं। आशा है इससे पाठकों को इन गूढ़ विषयों के हिन्दी में अध्ययन करने में आसानी होगी। पुस्तक अत्यन्त ही सरल तथा रोचक भाषा में लिखी गई है और आशा है कि इस कारण नागरिकशास्त्र के अध्ययन में उन सब विद्यार्थियों को भी सुविधा रहेगी जिनका हिन्दी का ज्ञान अभी सीमित है। मुझे पूर्ण आशा है कि विद्यार्थी तथा अध्यापक संशोधित संस्करण को पहिले से कहीं उपयोगी पायेंगे।

नई दिल्ली

राजनारायण गुप्त

विषय-सूची

अध्याय 1

भूमिका

§ १. नागरिकशास्त्र क्या है ?

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज में ही जन्म लेता है, समाज में ही पलता है और समाज में ही बड़ा होकर अपने जीवन का विकास करता है। वह समाज को छोड़ नहीं सकता। जिस प्रकार एक मछली पानी से अलग अधिक समय तक जीवित नहीं रह सकती, ठीक उसी प्रकार मनुष्य भी समाज से अलग होकर न जीवित रह सकता है और न अपने व्यक्तित्व का विकास ही कर सकता है। घर में, स्कूल में, गाँव में, कारखाने में, खेत में, मन्दिर में, दफ्तर में, अर्थात् जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मनुष्य एक दूसरे के साथ मिलकर रहता, काम करता और कमाता है। इस प्रकार एक साथ रहना और एक दूसरे के सहयोग से मिल-जुलकर काम करना मनुष्य जीवन की सबसे बड़ी देन है।

परन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि हमारे सामाजिक जीवन या एक दूसरे के साथ मिल-जुलकर रहने में किसी प्रकार का संघर्ष पैदा नहीं होता। मनुष्य की बहुत-सी इच्छाएँ और उद्देश्य इस प्रकार के होते हैं कि वे दूसरे मनुष्यों की इच्छाओं और उद्देश्यों से समानता नहीं रखते। उदाहरण के लिए जैसे एक मनुष्य पुस्तकों से प्रेम रखता है, दूसरा उन्हें ज़रा भी पसन्द नहीं करता। कुछ लोग शराब पीना पसन्द करते हैं, दूसरे इसे घृणा की दृष्टि से देखते हैं। कुछ लोग मांस खाना चाहते हैं, दूसरे

इसे छूते तक नहीं। इस प्रकार यह हो सकता है कि असमान इच्छा रखने वाले मनुष्यों में झगड़ा हो जाय।

झगड़ों के और भी अनेक कारण हो सकते हैं। जैसे एक धर्म और सम्प्रदाय के लोग एक प्रकार से अपने भगवान् की पूजा करते हैं और दूसरे धर्म और सम्प्रदाय के लोग ठीक इसके विपरीत ढङ्ग से। हमारे देश के हिन्दू और मुसलमानों की आरती और नमाज़ का झगड़ा इसी प्रकार के संघर्ष का एक उदाहरण है। समाज में मनुष्यों की भिन्न-भिन्न प्रकार की इच्छाओं की पूर्ति करने के लिए सामग्री की कमी और सरकार के कुप्रबन्ध के कारण भी अनेक प्रकार के झगड़े हो जाया करते हैं। अकाल के समय एक-एक अन्न के दाने को प्राप्त करने के लिए मनुष्यों का एक दूसरे के साथ लड़ना और सरकार के प्रबन्ध में ज़रा सी शिथिलता आ जाने पर जगह-जगह लड़ाई, दंगों और फ़िसाद का होना इसी बात का द्योतक है।

झगड़े और संघर्ष से मनुष्य के सामाजिक जीवन को भारी ठेस पहुँचती है। मनुष्य एक दूसरे से प्रेम करने की अपेक्षा घृणा करने लगते हैं। वह अपने भाइयों की सहायता करने की अपेक्षा उनके विनाश के उपाय सोचने लगते हैं। सामाजिक जीवन में संघर्ष से आपस का स्नेह और विश्वास उठ जाता है, मनुष्य की नारकीय प्रवृत्तियाँ जाग्रत हो उठती हैं। उसके अन्दर से दैवी गुणों का लोप होने लगता है, समाज की उन्नति भी रुक जाती है और देश की शान्ति और व्यवस्था ख़तरे में पड़ जाती है।

नागरिकशास्त्र इसी प्रकार के संघष, कलह, झगड़े और सामाजिक विषाद को दूर करने की विद्या है। यह वह विज्ञान है जो मनुष्यों को आपस में मिल-जुलकर रहना, एक दूसरे से प्रम करना, एक दूसरे के प्रति श्रद्धा और विश्वास उत्पन्न करना और एक दूसरे के सहयोग से

जीवन में उन्नति करना सिखाता है। हम अपने जीवन को पूर्णरूप से किस प्रकार सुखी और समृद्ध बना सकते हैं, अपने व्यक्तित्व का किस प्रकार पूर्णरूप से विकास कर सकते हैं और अपने आपको किस प्रकार एक आदर्श समाज का नागरिक बना सकते हैं—ये कुछ प्रश्न हैं जिनका नागरिकशास्त्र हमें स्पष्ट उत्तर देता है।

नागरिकशास्त्र की परिभाषा

नागरिकशास्त्र की भिन्न-भिन्न लेखकों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से व्याख्या की है। कुछ लेखकों का मत है कि "नागरिकशास्त्र नागरिकता का विज्ञान है।"[१] दूसरे लेखकों का मत है कि नागरिकशास्त्र वह विद्या है जो "हमारे अधिकारों और कर्तव्यों का ज्ञान कराती है।"[२] एक प्रसिद्ध अंग्रेज लेखक गोल्ड (Gould) का कहना है कि नागरिकशास्त्र "उन संस्थाओं, आदतों, कार्यों और शक्तियों का अध्ययन है जिनके द्वारा कोई मनुष्य या स्त्री अपने कर्तव्यों की पूर्ति कर सके और एक राजनीतिक सम्प्रदाय के सदस्य होने के लाभ प्राप्त कर सके।"[३] एक दूसरे प्रसिद्ध भारतीय लेखक पुन्ताम्बेकर (Puntambekar) का कथन है कि "नागरिकशास्त्र नागरिकता का विज्ञान और दर्शन है।"[४] यदि हम इन ऊपर दी हुई नागरिकशास्त्र की परिभाषाओं में से प्रत्येक परिभाषा का विश्लेषण करें तो हमें इस बात का ज्ञान हो जायगा कि नागरिकशास्त्र का मुख्य उद्देश्य

---

[१] "Civics is the science of citizenship."

[२] "Civics is the science of rights and duties of man."

[३] "Civics is the study of Institutions, habits, activities and spirit by means of which a man or a woman may fulfil the duties and receive the benefits of membership of a political community."

[४] "Civics is the science and philosophy of citizenship."

मनुष्य के सामाजिक जीवन की उन अवस्थाओं का ज्ञान कराना है जिनके द्वारा वह समाज में सबसे अच्छा, सुखी, उपयोगी और समृद्ध जीवन व्यतीत कर सकता है। इसलिए हमारी राय में इस विज्ञान की सबसे सुन्दर परिभाषा यह है कि "नागरिकशास्त्र वह विज्ञान है जो सबसे अच्छे सामाजिक जीवन की दशाओं का अध्ययन करता है।"१

हम अपने पड़ोसियों के साथ कैसे रहें, किन बातों से हमारा और हमारे पड़ोसियों का जीवन सुन्दर और सुखी हो सकता है, किन बातों को पूरा करने से हम अपने और अपने पड़ोसियों के बीच का भेदभाव तथा संघर्ष मिटा सकते हैं, किन बातों को पूरा करने से हम इस पृथ्वी पर एक सच्चे स्वर्ग की स्थापना कर सकते हैं और किन उपायों से हम अपने प्राकृतिक वातावरण पर विजय प्राप्त कर सकते हैं, ये कुछ प्रश्न हैं जिनका नागरिकशास्त्र हमें सही उत्तर देता है। दूसरे शब्दों में नागरिकशास्त्र हमारे जीवन के उन मुख्य प्रश्नों का उत्तर देता है जिन पर मनुष्य की सामाजिक उन्नति और शांति निर्भर है।

§ २. नागरिकशास्त्र का क्षेत्र

प्रत्येक शास्त्र का अपना क्षेत्र होता है। कोई शास्त्र जड़ पदार्थों का अध्ययन करता है तो कोई जीव-जन्तुओं का। कोई शास्त्र रेखाओं का ज्ञान कराता है तो कोई अंकों का। कोई शास्त्र मनुष्य-जीवन के आर्थिक सम्बन्धों का अध्ययन करता है तो कोई राजनीतिक पहलुओं का। यह सच है कि इन शास्त्रों का और विशेषकर सामाजिक विज्ञानों का एक दूसरे के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। हम एक सामाजिक विज्ञान और दूसरे सामाजिक विज्ञान के क्षेत्र के बीच कोई लोहे की दीवार खड़ी नहीं कर सकते। परन्तु फिर भी प्रत्येक विज्ञान की अपनी एक परिधि होती है—

१"Civics is the science which studies the conditions of the best possible social life."

एक सीमा होती है। उस सीमा के बाहर की चीज़ों का वह विज्ञान अध्ययन नहीं करता।

नागरिकशास्त्र के विज्ञान की भी एक परिधि है। पुराने ज़माने में लोगों का विचार था कि नागरिकशास्त्र का सम्बन्ध केवल मनुष्य के नागरिक जीवन से है। वह राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय सामाजिक जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं रखता। इस प्रकार का ग़लत विचार पुराने लेखकों में इस प्रकार हुआ कि नागरिकशास्त्र का जन्म ग्रीस और रोम के नगरों में हुआ था। उस ज़माने में मनुष्य का सामाजिक जीवन शहर की चहारदीवारी तक ही सीमित होता था। शहर के बाहर न आने जाने के रास्ते थे, न तार टेलीफोन और न पुलिस और फ़ौज का ही प्रबन्ध। इस कारण मनुष्य का सारा जीवन नगर में ही व्यतीत होता था और उस ज़माने के नागरिक और सामाजिक जीवन में किसी प्रकार का अन्तर न था। अत: रोम और ग्रीस के विचारकों ने यही समझा कि नागरिकशास्त्र केवल नगर के सामाजिक जीवन की अच्छाई की अवस्थाओं का ही अध्ययन करता है।

परन्तु आज-कल के ज़माने में सामाजिक जीवन नगर की चहारदीवारी में ही बन्द नहीं, आज तो वह सारे भूमण्डल पर ही फैल गया है। एक प्रकार से यह कहने में कोई अत्युक्ति नहीं होगी कि आज सारी पृथ्वी ही एक नगर बन गई है। यातायात के साधनों की क्रान्ति ने देश-देश के फ़ासलों का अन्त करके उनको एक ही सामाजिक जीवन का अंग बना दिया है। आज अमरीका में बैठे हुए एक मनुष्य का रेडियो पर दिया गया भाषण हम तुरन्त ही अपने घर में बैठ कर सुन सकते हैं। यदि हमें इङ्गलैंड पहुँचना हो तो कुछ ही घंटों की हवाई जहाज़ की उड़ान के पश्चात् हम लन्दन या मानचैस्टर के शहरों की सैर कर सकते हैं। देश-विदेश की बनी हुई चीज़ें कुछ ही दिनों में हमारे नगरों में पहुँच जाती हैं। इसलिए यह कहना उचित होगा कि आजकल हमारा सामाजिक जीवन उतना ही व्यापक

बन गया है जितना भूमण्डल का क्षेत्र। अतः **नागरिकशास्त्र आजकल मनुष्य के केवल नागरिक जीवन का ही अध्ययन नहीं करता, वरन् उसके सामाजिक जीवन का अध्ययन करता है।** फिर वह सामाजिक जीवन चाहे घर का हो अथवा बाहर का, गाँव का हो अथवा नगर का, देश का हो अथवा सारे संसार का।[१]

नागरिकशास्त्र मनुष्य के वर्तमान सामाजिक जीवन का अध्ययन करता है—इतना ही नहीं, नागरिकशास्त्र मनुष्य के सामाजिक जीवन की उन सारी संस्थाओं का भी अध्ययन करता है जिनको वह अपने जीवन को नियमित और संगठित बनाने के लिए, जाने या अनजाने, जन्म देता है। उदाहरणार्थ नागरिकशास्त्र विवाह-पद्धति, शिक्षा, सम्मति, दण्ड, क़ानून, शासन संगठन इत्यादि ऐसी सारी संस्थाओं का अध्ययन करता है जिनका मनुष्य के सामाजिक जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह शास्त्र मनुष्य की उन सारी संस्थाओं—जैसे कुटुम्ब, राज्य, राजनैतिक, धार्मिक और आर्थिक संस्थाओं, सांस्कृतिक संगठन इत्यादि का भी अध्ययन करता है जिनको मनुष्य अपने जीवन का विकास करने के हेतु जन्म देता है[२]।

नागरिकशास्त्र मनुष्य के भूतकाल के सामाजिक जीवन का अध्ययन करता है—नागरिकशास्त्र केवल वर्तमान सामाजिक जीवन से ही सम्बन्ध नहीं रखता, वरन् भूतकाल के सामाजिक जीवन पर भी दृष्टि डालता है। ऐसा करना नागरिकशास्त्र के लिए अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि ऐसा न करने पर वर्तमान सामाजिक जीवन का यथार्थ ज्ञान

---

[१] "Civics studies not only the village and the city but also the nation and the world."

[२] "Civics studies all the associations, institutions and communities with which man is connected in his social life".

नहीं हो सकता। आज का सामाजिक जीवन हमको भूतकाल की देन है। अतः हमको यह जानना आवश्यक है कि किन आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए, वह किन परिस्थितियों में पैदा हुआ, और वह इनको कहाँ तक सफलता के साथ पूरा कर सका। तभी हम सामाजिक संस्थाओं और सभाओं के महत्व को ठीक-ठीक समझ सकते हैं। अतः नागरिकशास्त्र को एक सरसरी नज़र भूतकाल के सामाजिक जीवन पर भी डालनी पड़ती है।

नागरिकशास्त्र भविष्य का आदर्श निश्चित करता है— नागरिकशास्त्र केवल वर्तमान और भूतकाल से ही सम्बन्ध नहीं रखता, वरन् भविष्य से भी उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसका ध्येय, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, ऐसी अवस्थाओं का अध्ययन करना है जिनमें सामाजिक जीवन अच्छे से अच्छा हो सके। दूसरे शब्दों में नागरिकशास्त्र इस बात पर ध्यान देता है कि हमारा भविष्य का समाज कैसा हो और वह किस प्रकार हो। एक प्रकार से हम कह सकते हैं कि नागरिकशास्त्र समाज का वह निरीक्षण है जो समाज सेवा में लगाया जाता है।[१] इस प्रकार हम देखते हैं कि नागरिकशास्त्र का क्षेत्र बड़ा व्यापक है। यह ग्राम और नगर, देश और दुनिया, घर और बाहर, खेत और कारखाने, मन्दिर और रंगभूमि, भूत, वर्तमान और भविष्यत्, सब के ही जीवन से सम्बन्धित है।[२] दूसरे शब्दों में इसका क्षेत्र सभ्यता और नागरिकता के समान विस्तृत और उनका सहगामी है।[३]

---

[१] "Civics is social survey applied to social service"—Word.

[२] White defines civics as "that branch of human knowledge which studies everything appertaining to citizenship—past, present and future, local, national and human."

[३] "Civics is co extensive with civilisation and citizenship"—F. I. Gould.

नागरिकशास्त्र का क्षेत्र व्यापक ही नहीं, वरन् बढ़ता ही जा रहा है। ज्यों-ज्यों मनुष्य की सभ्यता का विकास होता है त्यों-त्यों नागरिक-शास्त्र का क्षेत्र भी बढ़ता है। इसलिए यह कहना उचित होगा कि नागरिकशास्त्र केवल एक स्थायी विज्ञान ही नहीं, वरन् प्रगतिशील है।

§ ३. नागरिकशास्त्र विज्ञान है अथवा कला ?

नागरिकशास्त्र विज्ञान है

नागरिकशास्त्र विज्ञान है अथवा नहीं, इस प्रश्न पर विद्वानों में काफ़ी मतभेद है। कुछ विद्वानों की सम्मति में यह विज्ञान है और कुछ की सम्मति में नहीं। जो विद्वान् नागरिकशास्त्र को विज्ञान नहीं बताते वे विज्ञान शब्द का अर्थ केवल यह समझते हैं कि विज्ञानशास्त्र वह विद्या है जो अपनी अध्ययन वस्तु के व्यवहार के विषय में निश्चित और स्थिर सिद्धान्त निर्धारित कर सके, जैसे भौतिकशास्त्र (Physics) या रसायनशास्त्र (Chemistry) में हम कह सकते हैं कि चीज़ें गरम करने से फैलतीं और ठंडा करने से सिकुड़ती हैं, या दो अंश हाइड्रोजन और एक अंश ऑक्सीजन मिलाने से पानी बन जाता है। भौतिक और रसायनशास्त्र के यह नियम अटल हैं, उनमें कभी किसी प्रकार की ग़लती नहीं हो सकती। सामाजिक शास्त्रों के नियम इस प्रकार सत्य नहीं हो सकते। अनुभव के आधार पर हम ऐसे नियम तो अवश्य बना सकते हैं जो अधिकांश दशाओं में सत्य हों, परन्तु हम ऐसे नियम नहीं बना सकते जिनके बारे में हम कह सकें कि वह शत-प्रतिशत सत्य हैं और उनमें कभी किसी प्रकार की त्रुटि नहीं हो सकती। उदाहरणार्थ नागरिकशास्त्र के एक नियम का हम इस प्रकार उल्लेख कर सकते हैं कि यदि किसी देश में सच्चा प्रजातंत्र शासन हो तो वहाँ की जनता सुखी रहती है। परन्तु यह नियम ज़रूरी नहीं कि प्रत्येक देश और प्रत्येक प्रजातंत्रवादी शासन के लिए सही साबित हो। संसार में कितने ही

प्रजातंत्रवादी देश हैं जहाँ जनता सुखी नहीं और इसके अनेक कारण हैं। इसलिए सामाजिक शास्त्रों के नियमों के विषय में यह कहना उचित होगा कि वह संभावनाएँ तो बतला सकते हैं परन्तु एक निश्चित व सर्वथा सत्य नियम नहीं बना सकते। इसी कारण नागरिकशास्त्र और दूसरे सामाजिक शास्त्रों के विषय में कुछ विद्वानों का कहना है कि इन शास्त्रों को विज्ञान (Science) का नाम ही नहीं देना चाहिए। परन्तु यह मत ठीक नहीं।

किसी शास्त्र का वैज्ञानिक होना इस बात पर निर्भर नहीं कि उसके सिद्धान्त सर्वथा सत्य हैं या नहीं। विज्ञान का असली अर्थ तो वह विद्या है जिसका अध्ययन एक क्रमबद्ध नियम के अनुसार किया जा सके और जो कारण और कार्य का सम्बन्ध स्थापित कर सके।[१] कुछ भौतिक विज्ञान भी ऐसे हैं जिनके नियम निश्चित नहीं परन्तु जिनकी वैज्ञानिकता के विषय में किसी को सन्देह नहीं। उदाहरणार्थ मैटीयरलौजी (meteorology) शास्त्र मौसम के विषय का अध्ययन करता है और अपने सिद्धान्तों के आधार पर मौसम के विषय में पूर्वानुमान करता है। कई बार यह अनुमान ग़लत भी निकलते हैं। परन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि उक्त शास्त्र एक अन्धे की सूझ के समान है, वरन् इसका अर्थ तो यही है कि इस शास्त्र का विषय इतना विषम है कि उसके सम्बन्ध में हम अभी सम्भावना ही व्यक्त कर सकते हैं। ऐसे ही और भी बहुत से ज्ञान हैं जिनका हम विधिपूर्वक अध्ययन करते हैं और जो जीवन के लिए उपयोगी हैं परन्तु जो निश्चित सिद्धान्त न बनाकर केवल संभावित सिद्धान्त ही निश्चित करते हैं। ऐसे शास्त्रों को विज्ञान न मानना भारी भूल है।

---

१ Science is a body of systematized knowledge. It is something which lays down a relationship between a cause and an effect.

नागरिकशास्त्र कला है

कुछ लोगों का कहना है कि नागरिकशास्त्र एक विज्ञान नहीं वरन् कला है। कला का अर्थ वास्तविक जीवन में ज्ञान का प्रयोग है।[१] मनुष्य एक अच्छा नागरिक, नागरिकशास्त्र के ज्ञान से या इस शास्त्र की मोटी-मोटी पुस्तकों के पढ़ने से नहीं बनता किन्तु इस ज्ञान को अपने रोज़ाना के जीवन में परिणत करने से बनता है। यह बात ठीक है, परन्तु इससे यह मतलब निकालना कि नागरिकशास्त्र केवल एक कला है, विज्ञान नहीं सर्वथा अनुचित है। संगीत एक कला भी है और विज्ञान भी। संगीत का विज्ञान हमें राग-रागनियों की पहचान और स्वरों का शुद्ध स्वरूप सिखाता है। संगीत की कला का सम्बन्ध गाने से है। संगीत शास्त्र के पंडित के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह एक अच्छा गायनाचार्य भी हो, परन्तु एक अच्छे गायक के लिए संगीत शास्त्र का ज्ञान अनिवार्य है। ठीक इसी प्रकार नागरिकशास्त्र एक विज्ञान भी है और कला भी। एक अच्छे नागरिक के लिए यह आवश्यक है कि वह नागरिकता के नियम भी जानता हो और उन पर ठीक प्रकार से अमल भी करता हो। नागरिकशास्त्र का अध्ययन निश्चित विधियों से किया जा सकता है इसलिए वह विज्ञान है और एक अच्छा नागरिक बनने के लिए मनुष्य को नागरिकता के सिद्धान्तों को ठीक रूप से व्यवहार में लाना पड़ता है, इसलिए नागरिकशास्त्र एक कला भी है।

सामाजिक और भौतिक शास्त्रों के नियमों में अन्तर

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे यह अर्थ कदापि नहीं निकालना चाहिये कि नागरिकशास्त्र और भौतिक शास्त्र के नियमों में किसी प्रकार का भेद नहीं। भौतिक शास्त्रों के सिद्धान्त बहुत कुछ अमिट होते हैं। उन नियमों में न तो

---

१ "Art is the application of knowledge to real life."

समय ही कोई परिवर्तन ला सकता है और न स्थान ही। सामाजिक शास्त्रों के नियम, जैसा पहले कहा जा चुका है, इस प्रकार अमिट नहीं हो सकते। यह सिद्धान्त तो केवल अधिक से अधिक संभावनाओं को व्यक्त कर सकते हैं निश्चितता को नहीं।[१] नागरिकशास्त्र दूसरे सामाजिक शास्त्रों की तरह इस प्रकार, एक अनिश्चित विज्ञान है। इसके निम्नलिखित कारण हैं :—

१. भौतिकशास्त्र ऐसे विषयों का अध्ययन करते हैं जिनके व्यवहार या गुण समय अथवा स्थान बदलने पर नहीं बदलते। वह हर स्थान पर और हर समय में वैसे ही बने रहते हैं। उदाहरणार्थ आक्सीजन के गुण भूतकाल में भी वही थे जो आज हैं और भविष्यत् में भी वही रहेंगे। इसी प्रकार उसके गुण भारत में भी वही हैं जो अमरीका में हैं। परन्तु नागरिकशास्त्र की अध्ययन वस्तु है मनुष्य का सामाजिक जीवन और यह जीवन समय और देश के अनुसार बदलता रहता है। वह कल कुछ और था, आज कुछ और है और आगे कुछ और होगा। वह भारत में एक प्रकार का है और अमरीका में दूसरी प्रकार का। अतः नागरिकशास्त्र इसके विषय में ऐसे सिद्धान्त नहीं बना सकता जैसे कि भौतिकशास्त्र अपने विषयों के सम्बन्ध में बना सकते हैं।

२. भौतिकशास्त्र अपने अध्ययन में ऐसी विधियों को काम में लाते हैं जिनसे कि उनके निश्चयों में भूल की मात्रा नहीं के बराबर हो। वह प्रयोगशाला में उन विषयों के व्यवहारों अथवा गुणों का अध्ययन अपने अनुकूल पैदा की हुई दशाओं में कर सकते हैं। अपने प्रयोगों को बार-बार दोहराकर उनके परिणामों की तुलना कर सकते हैं और इस प्रकार भूल की मात्रा को मिटा सकते हैं। परन्तु नागरिकशास्त्र का विद्वान् ऐसी विधियों का पालन नहीं कर सकता। इसके अनेक कारण हैं। समाज की

---

१ "Social sciences indicate the highest possibilities but cannot lay down certainties."

परिस्थितियाँ मनुष्य के हाथ में नहीं और इस कारण वह यह नहीं कह सकता कि जो परिणाम उसके सामाजिक प्रयोगों से हुए हैं वह कहाँ तक उसके प्रयोग से पैदा हुए और कहाँ तक वह समाज की परिस्थितियों का परिणाम है। उदाहरणार्थ हम यदि एक नये प्रकार का क़ानून बनाते हैं और उसके बनाने के बाद समाज में कुछ परिवर्तन होता है तो हम यह नहीं कह सकते कि कहाँ तक वह परिवर्तन उस क़ानून के कारण हुआ और कहाँ तक वह समाज की अन्य परिस्थितियों का परिणाम है।

३. भौतिकशास्त्र अपने प्रयोगों में सही यंत्रों जैसे कैमीकल बैलैंस इत्यादि की सहायता ले सकता है परन्तु सामाजिक विज्ञानवेत्ता के पास ऐसे नापने या तोलने के औज़ार नहीं होते। इस प्रकार सामाजिक विज्ञानों में भौतिक विज्ञानों की अपेक्षा अधिक ग़लतियों की संभावना होती है।

§ ४. नागरिकशास्त्र की अध्ययन-विधि

नागरिकशास्त्र के अध्ययन में हम निम्नलिखित विधियों का प्रयोग करते हैं:—

१. ऐतिहासिक—सामाजिक जीवन के तथ्य को समझने के लिए इतिहास हमें बड़ी सहायता देता है। हमारी जितनी भी सामाजिक संस्थाएँ अथवा सभाएं हैं वह सब हमें भूतकाल से प्राप्त हुई हैं। भूतकाल में वह मनुष्य के जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करने के हेतु जाने या अनजाने पैदा हुई थीं। अतः उन सब का मूल्य समझने के लिये यह आवश्यक है कि हम यह पता लगावें कि वह किन दशाओं में और किन आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए पैदा हुईं और कहाँ तक वह इन बातों को पूरा करने में सफल हुईं। इन सब बातों का ज्ञान हमें इतिहास से ही हो सकता है। अतः इतिहास की सहायता से हम इन सब का ठीक-ठीक महत्व समझ सकते हैं। साथ ही इतिहास की सहायता से हम भविष्यत् के लिए भी इन संस्थाओं का अच्छा प्रकार निर्माण कर सकते हैं। हमको इतिहास

बतलाता है कि मनुष्यों की सामाजिक संस्थाओं का उसके जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा। हम उन सिद्धान्तों को, जो उसकी प्रगति और उन्नति में सहायक हुए, रख सकते हैं और जो उसमें बाधक हुए उन्हें बदल सकते हैं। इस प्रकार इतिहास की सहायता से हम सामाजिक जीवन को समझ सकते हैं और उसकी अच्छाई की अवस्थाओं का पता लगा सकते हैं।

परन्तु इतिहास की सहायता हमको निष्पक्षरूप से लेनी चाहिए। हमारा प्रयत्न तो केवल यह होना चाहिए कि हमको सत्य का पता लग जाय, यह नहीं कि इतिहास की सहायता से हम अपनी इच्छित बातों को सिद्ध करें।

२. **अवलोकन अथवा संस्थाओं और सभाओं के आधुनिक कार्य की प्रत्यक्ष देख-भाल**—ऐतिहासिक विधि के प्रयोग से सामाजिक जीवन को हम एक हद तक ही समझ सकते हैं। उसका पूर्णरूप से अध्ययन करने के लिए हमें दूसरे तरीक़ों का भी आसरा लेना पड़ता है। उदाहरणार्थ संस्थाओं का अवलोकन करना हमारे लिए इतना ही आवश्यक है जितना उनका ऐतिहासिक विज्ञान। मनुष्य किन संस्थाओं का सदस्य है, वह संस्थाएँ क्या-क्या उपयोगी कार्य करती हैं, उनमें से कौन सी संस्थाएँ बुरी हैं, इत्यादि; यह वह प्रश्न हैं जिनका नागरिकशास्त्र के प्रत्येक विद्यार्थी को समुचित ज्ञान होना चाहिए। परन्तु हमारा अवलोकन पक्षपातरहित होना चाहिए। यदि हम पक्षपात के साथ कोई देख-भाल करेंगे तो हम सचाई का पता न लगा सकेंगे। हमें, बिना किसी पूर्वनिर्धारित निर्णय के ही, किसी संस्था अथवा सभा का काम देखना चाहिए और साथ ही यह देख-भाल काफ़ी समय तक होनी चाहिए। थोड़े दिनों की देख-भाल में त्रुटि रह सकती है।

३. **तुलना**—देख-भाल की विधि से हम सामाजिक जीवन के विविध अंगों के विषय में बहुत-सी सामग्री इकट्ठी कर सकते हैं परन्तु

यह नहीं जान सकते कि उस प्रकार की संस्थाओं और सभाओं का दूसरे देशों में क्या स्वरूप है। अपने देश की संस्थाओं और सभाओं की उपयोगिता जानने के लिए हमें उसी प्रकार की दूसरे देशों की संस्थाओं और सभाओं का भी अध्ययन करना चाहिए। उदाहरण के लिए यदि हम विवाह प्रथा की अच्छाई और बुराई जानना चाहें तो हम तब तक इस बात का ठीक पता नहीं लगा सकते जब तक कि हम इसके परिणामों को प्रत्येक देश में देखकर और उनकी आपस में तुलना करके यह पता न लगा लें कि अमुक परिणाम प्रत्येक देश में मिलते हैं। एक देश के परिणामों के आधार पर ही इसको अच्छा या बुरा समझना ठीक न होगा, क्योंकि यह संभव है कि उस देश में वह परिणाम विवाह-प्रथा की अच्छाई अथवा बुराई से न होकर किसी दूसरे कारण से ही हुए हों। परन्तु यदि एक ही जैसे परिणाम सभी देशों में मिलते हों तो हम कह सकते हैं कि विवाह-प्रथा के ही वह परिणाम हैं। इसलिए हमें तुलनात्मक विधि का प्रयोग अवश्य करना चाहिए ?

४. **प्रयोग विधि**—नागरिकशास्त्र में हम उस प्रकार के प्रयोग तो नहीं कर सकते जैसे कि हम भौतिकशास्त्रों में कर सकते हैं क्योंकि नागरिकशास्त्र के प्रयोगों की वस्तु अर्थात् मनुष्य के सामाजिक जीवन की दशा सदा एक सी नहीं रहती। परन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि हम नागरिकशास्त्र में प्रयोग-विधि अपना ही नहीं सकते। हम सामाजिक जीवन में बराबर ही प्रयोग करते रहते हैं। कोई भी नया कानून, नई धनोत्पादन-विधि, आदि सामाजिक जीवन में प्रयोग ही हैं और उनके परिणामों की बुनियाद पर ही हम इसी प्रकार की और संस्थाएँ बनाते हैं। अतः प्रयोगविधि से भी हम सामाजिक जीवन के तथ्यों को समझ सकते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि नागरिकशास्त्र में बहुत कुछ हम उन्हीं

विधियों को अपनाते हैं जिनका कि हम भौतिक शास्त्र में पालन करते हैं और हर प्रकार से इस बात का प्रयत्न करते हैं कि हमारे निश्चयों में भूल की मात्रा कम से कम हो।

इन विधियों के अतिरिक्त हम नागरिकशास्त्र में दार्शनिक मार्ग का भी अवलम्बन कर सकते हैं। नागरिकशास्त्र में हम अच्छे और बुरे के प्रश्न हल करते हैं और यह प्रश्न हम दार्शनिक तत्वों की सहायता से ही हल कर सकते हैं।

§ ५. मानव ज्ञान की विभिन्न शाखाओं का पारस्परिक सम्बन्ध

नागरिकशास्त्र मानव ज्ञान की एक शाखा है। मानव ज्ञान तत्वत: एक है परतु सुविधा के हेतु वह शाखाओं में बाँट दिया गया है। अत: मानव ज्ञान की इन सब शाखाओं में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। प्रत्येक शाखा को दूसरी शाखाओं से अपने विषय को समझने में बहुत कुछ सहायता मिलती है। नागरिकशास्त्र भी अपने विषय को समझने में दूसरे सामाजिक और भौतिक शास्त्रों से बड़ी सहायता प्राप्त करता है। दूसरे शब्दों में अन्य शास्त्रों की नींव पर बहुत कुछ नागरिकशास्त्र के तथ्य स्थिर हैं। नीचे नागरिकशास्त्र के अन्य निकटतम शास्त्रों के साथ सम्बन्ध का संक्षिप्त विवरण दिया जाता है :—

नागरिकशास्त्र और इतिहास

इतिहास मनुष्य के भूतकाल के सामाजिक जीवन की कहानी का वर्णन करता है। हम पहले ही बता चुके हैं कि इतिहास से किस प्रकार नागरिकशास्त्र को सहायता मिलती है। यहाँ इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि इतिहास का सम्बन्ध नागरिकशास्त्र से इतना ही घनिष्ठ है जितना मक्खन और दूध का। इतिहास को हम एक प्रकार से नागरिक-

शास्त्र की नींव कह सकते हैं। इतिहास मनुष्य के सामाजिक जीवन को समझने में बहुत कुछ सहायता पहुँचाता है। इतिहास की घटनाओं के अध्ययन से नागरिकशास्त्र के बहुत से विषय निकाले जाते हैं। इतिहास हमको भविष्य का निर्माण करने में भी बहुत कुछ सहायता देता है। वह हमें बताता है कि पिछले ज़माने में मनुष्य के सामाजिक प्रयोगों का क्या परिणाम हुआ। अतः हम अपने वर्तमान काल में ऐसी संस्थाओं को छोड़ सकते हैं जो भूतकाल में हानिकारक सिद्ध हुईं और ऐसी संस्थाओं को अपना सकते हैं जो लाभदायक रहीं।

नागरिकशास्त्र और अर्थशास्त्र

अर्थशास्त्र मनुष्य के उन सम्बन्धों और कार्यों का अध्ययन करता है जिनका सम्बन्ध धन की उत्पत्ति, धन के विभाजन, धन के भोग और धन के विनिमय से होता है। धन का समाज की शांति और सुख से बहुत गहरा सम्बन्ध है। समाज का कोई भी मनुष्य उस समय तक सुखी और सन्तुष्ट नहीं रह सकता जब तक उसे पेट भरने के लिए रोटी और तन ढाँपने के लिए कपड़ा नहीं मिलता। ऐसा मनुष्य न केवल अपनी व्यक्तिगत ज़िन्दगी में ही दुखी रहता है वरन् वह समाज की शांति को भी ख़तरे में डाल देता है। एक कहावत प्रसिद्ध है. 'भूखा मरता क्या पाप नहीं कर सकता।" रोटी मिल जाने के पश्चात् ही मनुष्य चरित्र-निर्माण, लोक-सेवा, देश-सेवा और आदर्शवादिता की बातें सोचता है। रोटी के बिना मनुष्य न धर्म की ही बातें सोच सकता है और न एक आदर्श सामाजिक जीवन की ही। अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो मनुष्य को एक सुखी और समृद्ध जीवन बिताने के लिए धन कमाना सिखाता है। नागरिकशास्त्र समाज के प्रत्येक मनुष्य के जीवन को सुखी और सन्तुष्ट देखना चाहता है। इन दोनों विद्याओं का इसलिए बहुत गहरा सम्बन्ध है। नागरिक-जीवन उस समय तक सुखी नहीं हो सकता जब तक उसका संगठन अर्थशास्त्र के नियमों के आधार पर न किया जाय।

परन्तु इन सब बातों का यह अर्थ कदापि नहीं कि अर्थशास्त्र और नागरिकशास्त्र में किसी प्रकार का भेद नहीं। अर्थशास्त्र का मुख्य उद्देश्य धन की उत्पत्ति है, किन्तु नागरिकशास्त्र का मूल सिद्धान्त आदर्श सामाजिक संगठन है। अर्थशास्त्र की बहुत सी बातों से नागरिकशास्त्र का कोई सम्बन्ध नहीं और इसी प्रकार नागरिकशास्त्र की बहुत सी बातों से अर्थशास्त्र का। परन्तु फिर भी यह कहना ठीक ही होगा कि अर्थशास्त्र नागरिकशास्त्र की, इतिहास के पश्चात्, दूसरी नींव है।

नागरिकशास्त्र और मनोविज्ञान

मनोविज्ञान (Psychology) वह विद्या है जो मनुष्य के मन के व्यवहार की जाँच-पड़ताल करती है। यह मनुष्य की भावनाओं, स्वभाविक वृत्तियों और आन्तरिक वेदनाओं आदि का अध्ययन करती है। यह बात तो स्वयं प्रत्यक्ष है कि मनुष्य का सामाजिक जीवन मनुष्य के इन्हीं मानसिक व्यवहारों पर निर्भर है। मन की गति को समझे बिना सामाजिक जीवन को अच्छा बनाने का प्रयास सर्वथा ही निष्फल है। इतना ही नहीं, वरन् मानसिकशास्त्र के ज्ञान के बिना सामाजिक जीवन का समझना भी असंभव है। अतः नागरिकशास्त्र सही नतीजों के लिए मानसिकशास्त्र के ज्ञान से लाभ उठाता है और सामाजिक जीवन का पुनर्निर्माण करने में मानसिकशास्त्र के सिद्धान्तों का ध्यान रखता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मनोविज्ञान से नागरिकशास्त्र को मानसिक व्यवहार का ज्ञान प्राप्त होता है। इसकी सहायता से नागरिकशास्त्र सामाजिक जीवन की सफलता और उसकी अच्छाई की अवस्थाओं का निर्णय करता है। यहाँ हम यदि इस प्रकार कहें तो अनुचित न होगा कि आजतक सामाजिक जीवन के विषय में जितने विद्वानों ने भी विचार किया है उन सबने अपने पूर्व अनुमानित मानसिक सिद्धान्तों पर ही अपने इस विचार की नींव रखी है। इससे बड़ा अनहित हुआ है और सामाजिक जीवन के विषय में बहुत-सी भूलें हो गई हैं। अतः इस बात की नितान्त आवश्यकता है कि हम अब मनो-

विज्ञान के सर्वमान्य सिद्धान्तों को ही ठीक मानकर उनकी नींव पर ही अपने नागरिकशास्त्र के निश्चयों को स्थिर करें। इस प्रकार प्रत्यक्ष है कि मनोविज्ञान नागरिकशास्त्र की तीसरी नींव है।

नागरिकशास्त्र और समाजशास्त्र

समाजशास्त्र मनुष्य के सामाजिक जीवन का शास्त्र है। यह सामाजिक जीवन की उत्पत्ति, उसका विकास, उसका सगठन और उसके ध्येय का अध्ययन करता है। एक प्रकार से तो समाजशास्त्र को सब सामाजिक शास्त्रों की जननी कहा जा सकता है। समाजशास्त्र इन सब शास्त्रों की नींव का तो काम करता ही है, इसके नियम इन सब शास्त्रों को अपना विषय समझने में भी सहायता देते हैं। नागरिकशास्त्र को समाजशास्त्र से सामाजिक विकास के क़ानूनों का ज्ञान प्राप्त होता है। अतः समाजशास्त्र नागरिक-शास्त्र की एक महत्वपूर्ण नींव है। इसकी सहायता के बिना नागरिक-शास्त्र अपना कार्य सम्पन्न नहीं कर सकता। परन्तु नागरिकशास्त्र को समाजशास्त्र की एक शाखामात्र मानना भूल होगी क्योंकि समाजशास्त्र का सम्बंध जीवन के अच्छे या बुरे बनाने से नहीं। वह तो जैसा सामाजिक जीवन है या रहा है उसीका अध्ययन करता है, उसके पुनर्निर्माण का प्रयत्न नहीं करता। इसके विपरीत नागरिकशास्त्र सामाजिक जीवन की अच्छाई की अवस्थाओं का पता लगाता है। अतः यह समाजशास्त्र से भिन्नता भी रखता है।

नागरिकशास्त्र और आचारशास्त्र

आचारशास्त्र (Ethics) वह विद्या है जो मनुष्य को अच्छे और बुरे कामों की पहचान करना सिखाता है। यह शास्त्र आदर्श अच्छाई (Ideal good) का अध्ययन करता है और मनुष्य के व्यक्तिगत और सामाजिक, दोनों ही जीवनों की आलोचना करता है। इसका क्षेत्र, इसी कारण, नागरिकशास्त्र से भी अधिक विस्तृत है। नागरिकशास्त्र मनुष्य

के सामाजिक जीवन की अच्छाइयों का अध्ययन करता है। किन बातों पर चलने से मनुष्य एक आदर्श नागरिक बन सकता है और किस प्रकार के व्यवहार से वह अपने और अपने समाज के पतन का कारण बन जाता है, इस बात का ज्ञान नागरिकशास्त्र आचारशास्त्र से प्राप्त करता है। अतः नागरिकशास्त्र को आचारशास्त्र के सिद्धान्तों से बहुत सहायता मिलती है। यह उसके सिद्धान्तों को ही ध्यान में रखकर अपने आदर्श निश्चित करता है।

नागरिकशास्त्र और राजनीति

राजनीतिशास्त्र राज्य (State) का विज्ञान है। यह हमें राज्य की उत्पत्ति, विकास, स्वभाव, ध्येय, सगठन आदि के विषय में ज्ञान देता है। राज्य सामाजिक जीवन में बहुत ही महत्व रखता है। किसी देश में शांति और व्यवस्था बनाए रखना राज्य का ही कार्य है। इसलिए यदि यह कहा जाय कि राज्य सामाजिक जीवन की अच्छाई की पहली नींव है तो कोई अत्युक्ति न होगी। यह सभ्यता और समाज का रक्षक और पोषक है अतः राज्य का पूरा ज्ञान नागरिकशास्त्र के अध्ययन के लिए बहुत आवश्यक है। राजनीति के ज्ञान के बिना जीवन को सुन्दर बनाने का प्रयास अंधकार में छलाँग लगाने के समान है। जब तक किसी देश में उचित राजनैतिक व्यवस्था न हो और लोगों को यथेष्ट राजनैतिक अधिकार व स्वतंत्रता प्राप्त न हो तब तक उच्चकोटि की नागरिकता का विकास होना ही असम्भव है। इस प्रकार राजनीति ही लोगों को उच्चकोटि के नागरिक बनाने की सुविधाएँ देती है।

कुछ विद्वान् तो यह भी कहते हैं कि नागरिकशास्त्र कोई अलग शास्त्र ही नहीं, वह तो राजनीतिशास्त्र की ही एक शाखा है जो राज्य द्वारा निर्धारित अधिकारों और कर्तव्यों का अध्ययन करती है। सम्भवतः उनका यह विचार नागरिकशास्त्र और राजनीतिशास्त्र के अंग्रेज़ी नामों की

एकार्थी होने से ही उत्पन्न हुआ है। अंग्रेज़ी में नागरिकशास्त्र का नाम सिविक्स (Civics) है और राजनीतिशास्त्र का नाम पालिटिक्स (Politics) है। सिविक्स का धात्वर्थ है 'शहर सम्बन्धी बातें' और पालिटिक्स का धात्वर्थ भी यही है। पहला शब्द लैटिन भाषा का है और दूसरा ग्रीक भाषा का। इन नामों के आशय की समानता के भ्रम में पड़कर कुछ पुराने लेखकों ने कह दिया है कि सिविक्स, पालिटिक्स से कोई भिन्न शास्त्र नहीं। परन्तु वास्तव में नागरिकशास्त्र राजनीतिशास्त्र की एक शाखा नहीं, वरन् एक अलग ही विज्ञान है। राजनीतिशास्त्र में मनुष्य का हम केवल एक राज्य का सदस्य होने के नाते अध्ययन करते हैं. इसके विपरीत सिविक्स में हम मनुष्य का दूसरी सामाजिक संस्थाओं और सभाओं का सदस्य होने के नाते भी अध्ययन करते हैं। मनुष्य जीवन में केवल राज्यनिर्धारित अधिकारों और कर्तव्यों का ही प्रश्न नहीं उठता, वरन दूसरी संस्थाओं द्वारा निर्धारित अधिकारों और कर्तव्यों का भी प्रश्न उठता है। राजनीतिशास्त्र इन संस्थाओं का अध्ययन नहीं करता। अतः नागरिकशास्त्र का क्षेत्र राजनीतिशास्त्र से इस दशा में अधिक विस्तृत और व्यापक है। संक्षेप में नागरिकशास्त्र राजनीतिशास्त्र से निम्नलिखित बातों में भिन्नता रखता है :-

१. नागरिकशास्त्र के अध्ययन का क्षेत्र है समाज के सारे अङ्ग। इसके विपरीत राजनीतिशास्त्र का अध्ययन क्षेत्र है केवल राज्य का संगठन।

२. नागरिकशास्त्र केवल नगर और राष्ट्र के सामाजिक जीवन का ही विवेचन नहीं करता, अपितु अन्तर्राष्ट्रीय सामाजिक जीवन का भी। राजनीतिशास्त्र केवल राष्ट्रीय जीवन और एक राज्य का दूसरे राज्यों के साथ सम्बन्ध का अध्ययन करता है।

३. नागरिकशास्त्र सामाजिक जीवन की अच्छाई की अवस्थाओं का अध्ययन है किन्तु राजनीतिशास्त्र सामाजिक जीवन की अच्छाई के मुख्य साधन — राज्य — का अध्ययन है।

नागरिकशास्त्र और धर्मशास्त्र

धर्मशास्त्र की परिभाषा करना एक अत्यन्त कठिन कार्य है। हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि यह वह शास्त्र है जो मनुष्य का भगवान के साथ सम्बन्ध निर्धारित करता है। यह उन नियमों का विवेचन करता है जिनके पालन करने से मनुष्य अपने सृष्टिकर्ता को प्रसन्न कर सकता है और सांसारिक दुखों से मुक्त पा सकता है। इसका मुख्य ध्येय है मनुष्य को इहलोक और परलोक के अनन्त सुख और शान्ति प्रदान करना और इस ध्येय की प्राप्ति के निमित्त मनुष्य-जीवन के लिए नियम बनाना। नागरिकशास्त्र, जैसा कि हम देख चुके हैं, सामाजिक जीवन की अच्छाई की अवस्थाओं का पता लगाता है। इसलिए हम यह कह सकते हैं कि इन दोनों ज्ञानों में परस्पर बहुत कुछ समता है क्योंकि मनुष्य का धार्मिक जीवन बहुत कुछ उसके सामाजिक जीवन पर ही निर्भर है। यदि सामाजिक जीवन बुरा हुआ तो मनुष्य का धार्मिक जीवन कदापि अच्छा नहीं हो सकता। इसी प्रकार सामाजिक जीवन भी बहुत कुछ ऐसे गुणों पर निर्भर है जिनका धर्मशास्त्र मनुष्यों में प्रसार और संचार करता है। अतः दोनों बहुत कुछ एक से ही विषय से सम्बन्ध रखते हैं। परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि धर्मशास्त्र और नागरिकशास्त्र एक ही चीज़ है। इन दोनों शास्त्रों में निम्नलिखित भिन्नताएँ हैं :—

१. नागरिकशास्त्र मनुष्य के सामाजिक जीवन की अच्छाई की अवस्थाओं का अध्ययन करता है। इसके विपरीत धर्म मनुष्य के वैयक्तिक जीवन की अच्छाई से सम्बन्ध रखता है।

२ नागरिकशास्त्र मनुष्य के केवल इस जीवन की अच्छाई से संबन्ध रखता है और धर्मशास्त्र विशेषकर मनुष्य के मृत्यु के पश्चात्कालीन जीवन की अच्छाई का ध्यान रखता है।

३. नागरिकशास्त्र अधिकतर मनुष्य के अपने पड़ोसी के साथ सम्बन्ध

का विवेचन करता है किन्तु धर्मशास्त्र मनुष्य का परमात्मा के साथ संबन्ध का मुख्यरूप से वर्णन करता है।

नागरिकशास्त्र और भूगोलशास्त्र

भूगोलशास्त्र किसी देश के जल-वायु, नदी, पहाड़ आदि का अध्ययन करता है और साथ ही इन बातों का भी विवेचन करता है कि इन चीज़ों का मनुष्य के वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है। यह बात तो प्रत्यक्ष है कि भौतिक वातावरण का हमारे सामाजिक जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। अतः इस प्रभाव के जाने बिना सामाजिक जीवन का निर्माण ठीक-ठीक नहीं हो सकता। इस प्रकार नागरिकशास्त्र को भूगोलशास्त्र से अपने निश्चय स्थिर करने में पर्याप्त सहायता मिलती है। भूगोल विद्या से हमको उन प्रभावों का ज्ञान हो जाता है जिन्हें मनुष्य का भौतिक वातावरण उसके सामाजिक जीवन पर डालता है।

नागरिकशास्त्र और जीवनविज्ञान (Biology)

सामाजिक जीवन मनुष्य जीवन का एक अङ्ग है। सामाजिक जीवन में बहुत कुछ वही नियम लागू होते हैं जो जीवन के विकास में काम में आते हैं। जीवनविज्ञान मनुष्य के विकास का अध्ययन करता है और उन नियमों का पता लगाता है जो जीवन के विकास में काम आते हैं। इन नियमों के ज्ञान से नागरिकशास्त्र को भी अपने विषय के अनुसंधान में सहायता मिलती है।

अतः हम देखते हैं कि नागरिकशास्त्र का सम्बन्ध उन सभी सामाजिक और भौतिक शास्त्रों से है जो मनुष्य-जीवन के भिन्न-भिन्न अङ्गों का सूक्ष्म रूप से अध्ययन करते हैं।

§ ६. नागरिकशास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता

नागरिकशास्त्र का अध्ययन हर व्यक्ति के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज में ही उसका जीवन संभव है और समाज में ही वह सुख और सौंदर्य प्राप्त कर सकता है। हमारा समाज के प्रति क्या कर्तव्य है तथा हम किस प्रकार अपने समाज के एक आदर्श नागरिक और उपयोगी सदस्य बन सकते हैं, इसका समुचित ज्ञान हमें नागरिकशास्त्र ही देता है। नागरिकशास्त्र की शिक्षा के बिना मनुष्य एक सच्चा मनुष्य कहलाने का अधिकारी नहीं। यह वह शास्त्र है जो मनुष्य को अपने कुटुम्ब, अपने पड़ोसियों, अपने नगर, अपनी जाति, अपने देश और समस्त मानव-समाज के प्रति अपने कर्तव्यों का ज्ञान कराता है। यह वह विद्या है जो मनुष्य में प्रेम, सद्भावना, सहानुभूति, सेवा, बलिदान और बन्धुत्व की भावना उत्पन्न करती है। मनुष्य किस प्रकार अपने जीवन से सारा कलह, द्वेष, संघर्ष और झूठा दंभ निकाल कर इस पृथ्वी पर एक सुख और वैभव का साम्राज्य स्थापित कर सकता है, यह शिक्षा हमें नागरिकशास्त्र ही देता है।

आज सारे संसार में संघर्ष का वातावरण है। एक देश दूसरे देश की शक्ति से भयभीत होकर उसके विनाश की तरकीबें सोचता है। विज्ञान के आविष्कारों का प्रयोग आजकल मानव-समाज की भलाई के लिए नहीं, वरन् उसकी संस्कृति और सभ्यता का विनाश करने के लिए होता है। आज हमारे हाथ में शक्ति है किन्तु हम उसका सदुपयोग करना नहीं जानते। नागरिकशास्त्र का अध्ययन और उसके सिद्धान्तों का आचरण ही आज मानव-समाज को अवनति के गर्त में गिरने से बचा सकता है।

नागरिकशास्त्र सामाजिक निर्माण का विज्ञान है—जिस प्रकार कोई भी मकान उस समय-तक टिकाऊ नहीं रह सकता जब तक वह भवन-निर्माण कला (Engineering के सिद्धान्तों के आधार पर न बनाया गया हो, ठीक उसी प्रकार सामाजिक जीवन उस समय तक आदर्शमय नहीं बनाया जा सकता जब तक उसका निर्माण नागरिकशास्त्र के सिद्धान्तों की नींव पर न किया गया हो।

आज से तीन सौ वर्ष पूर्व शाहजहाँ ने एक पत्थर का सुन्दर भवन बनाकर और उसे सजाकर यह समझा था कि उसने पृथ्वी पर स्वर्ग बना लिया। परन्तु उसका यह विचार भ्रमपूर्ण ही था क्योंकि स्वर्ग बनाना तो दूर रहा, वह स्वयं ही कारागार का बन्दी बना और उसका जीवन पीड़ा की एक कहानी बन गया। मनुष्य की पृथ्वी पर स्वर्ग स्थापित करने की इच्छा सदा ही रही है परन्तु वह अब तक सफल न हो सकी। इसका कारण यही है कि मनुष्य ने स्वर्ग बनाने का प्रयास भ्रमपूर्ण उपायों से किया। यदि पृथ्वी पर स्वर्ग की स्थापना हो सकती है तो वह केवल सामाजिक जीवन के तथ्यों को समझकर ही संभव है और वह तथ्य हमें नागरिकशास्त्र से ही प्राप्त हो सकते हैं। अतः नागरिकशास्त्र का अध्ययन प्रत्येक देश और काल में, सब नर-नारियों के लिए आवश्यक है।

आधुनिक संसार में तो नागरिक-विज्ञान का अध्ययन और भी आवश्यक हो गया है। इसका कारण यह है कि आज मनुष्य की शक्ति वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण बहुत बढ़ गई है और उस शक्ति का दुरुपयोग मनुष्य की सभ्यता और सामाजिक जीवन के लिए अत्यन्त ही घातक सिद्ध हो सकता है। अतः उस शक्ति के सदुपयोग के लिए यह आवश्यक है कि नागरिकशास्त्र के सिद्धान्तों पर चला जाय। इतना ही नहीं, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, आज सारी जातियों का सामाजिक जीवन एक दूसरे से इतना मिला हुआ है कि यदि कोई भी जाति किसी प्रकार की भूल करती है तो उससे सभी जातियों को हानि उठानी पड़ती है। इस कारण भी यह आवश्यक है कि नागरिकशास्त्र के सिद्धान्त सबको ज्ञात हों।

नागरिकशास्त्र के अध्ययन की विद्यार्थियों के लिए विशेष उपयोगिता—वैसे तो नागरिकशास्त्र के सिद्धान्तों का जानना सभी मनुष्यों के लिए आवश्यक है परन्तु विद्यार्थियों के लिये उसका अध्ययन और भी अधिक उपयोगी है। एक कवि ने कहा है कि 'बालक मनुष्य

का पिता होता है।' इसका मतलब यही है कि बच्चों का मस्तिष्क अत्यन्त कोमल होता है। जो भी आदतें और भावनाएँ मनुष्य के बचपन में पड़ जाती हैं वह उसके सारे जीवन में प्रभावशाली रहती हैं। अतः यह आवश्यक है कि युवकों और युवतियों को नागरिकशास्त्र के सिद्धान्त बचपन में ही सिखा दिए जायँ जिससे उनका प्रभाव इनके जीवन पर अमिटरूप से पड़ सके।

आज के विद्यार्थी हमारे देश के भावी नागरिक हैं। आज जो बच्चे स्कूल और कालेज की बेंचों पर बैठकर अपना पाठ्यक्रम याद करते हैं वही आगे आने वाले युग में व्यवस्थापिका सभाओं, मंत्रिमंडल, ज़िला और म्यूनिसिपल बोर्ड और शासन की दूसरी संस्थाओं के चालक होंगे। इसलिए यह आवश्यक है कि हमारे विद्यार्थी शासन की पेचीदगियों और नागरिक जीवन के तथ्यों से भली प्रकार परिचित हो जायँ जिससे वे आगे आने वाले युग में एक आदर्श समाज का निर्माण कर सकें।

नागरिकशास्त्र का अध्ययन हमारे देश के विद्यार्थियों के लिए एक विशेष महत्व रखता है। आज हमारा देश सदियों की गुलामी की चक्की में पिसने के पश्चात् अपने पैरों पर खड़ा हुआ है। हमारी स्वतन्त्रता आज कुछ ही महीनों पुरानी है। इस स्वतन्त्रता को सदा बनाये रखने के लिए हमारे लिए आवश्यक है कि हम स्वतन्त्र देश के नागरिकों के कर्तव्य और अधिकारों को समझें और उनका पालन करना सीखें। हम अपने देश की प्राचीन सभ्यता और संस्कृति को याद करें और अपने चरित्र के बल से संसार को यह दिखा दें कि भारतवर्ष आज भी आध्यात्मिक और नैतिक क्षेत्र में संसार का गुरु बन सकता है। संसार की आँखें आज भारत की ओर लगी हैं। दुनिया के दूसरे देश देख रहे हैं कि हम अपनी आज़ादी का किस प्रकार प्रयोग करते हैं और किस प्रकार अपनी नई ज़िम्मेदारियों को निभाते हैं। आज हमारा देश साम्प्रदायिकता के विषैले दौर से गुजर रहा है। आज़ादी प्राप्त करने के

कुछ ही दिन बाद हमारे देश में जो गुन्डाशाही और अंधी साम्प्रदायिकता का तांडव नृत्य रचा गया उसे देखकर संसार के सभ्य देश हमारी पुरानी सभ्यता और हमारी आध्यात्मिकता की डींग की खिल्ली उड़ाते हैं और हमारे प्यारे देश को तरह-तरह के अभियोग लगाकर बदनाम करते हैं। नागरिकशास्त्र की सच्ची शिक्षा ही ऐसे संकट-काल में हमारे देशवासियों को उनके असली कर्तव्यों का ज्ञान करा सकती है और हमको साम्प्रदायिकता के विषैले वातावरण से निकालकर मानवता के पुण्य क्षेत्र में डाल सकती है।

एक स्वतन्त्र देश के नागरिक होने के नाते आज हमारी अनेक ज़िम्मेदारियाँ हैं। हमें अपनी सरकार स्वयं चलानी है, हमें शासन की पेचीदगियों को समझना है और अपने देश में एक सच्चे राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक प्रजातंत्रवादी शासन का निर्माण करना है। हमें मताधिकार का उचित उपयोग सीखना है, अपने देश से निर्धनता और निरक्षरता को मिटाना है। इस सब के लिए हमें नागरिकशास्त्र के सिद्धान्तों का सहारा लेना है।

संसार के किसी दूसरे देश में आज इतनी सामाजिक कुरीतियाँ देखने में नहीं आतीं जितनी कि हमारे देश में। आज स्वतन्त्र होने पर भी हम जाति-पाँति, छूत-छात, परदा और इसी प्रकार की दूसरी बीमारियों में फँसे हैं। इन सब को दूर करने के लिए भी और अपने देश में एक नए प्रगतिशील समाज की स्थापना करने के लिए हमें नागरिकशास्त्र की शिक्षा की नितान्त आवश्यकता है।

योग्यता-प्रश्न

१. नागरिकशास्त्र के विषय की व्याख्या कीजिये और इसके क्षेत्र का विवेचन कीजिए
(यू० पी०, १९३०, १९४६, १९४८)

२. कालेजों में नागरिकशास्त्र के पढ़ाने की क्या आवश्यकता है? (यू० पी०, १९२९)

३. नागरिकशास्त्र के अध्ययन से क्या लाभ है? (यू० पी०, १९४७)

४. आधुनिक सामाजिक जीवन में नागरिकशास्त्र के अध्ययन का क्या महत्व है? नागरिकशास्त्र, राजनीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र के पारस्परिक सम्बन्ध और भेद की व्याख्या कीजिए. (यू० पी०, १९३९)

५. नागरिकशास्त्र की परिभाषा क्या है? नागरिकशास्त्र का समाजशास्त्र, नीतिशास्त्र और इतिहास से क्या सम्बन्ध है, स्पष्ट व्याख्या कीजिए। (यू० पी०, १९४१)

६. नागरिकशास्त्र से आप क्या समझते हैं? इसका राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र से क्या सम्बन्ध है। (यू० पी०, १९२८, १९३४)

७. नागरिकशास्त्र और इतिहास के पारस्परिक सम्बन्ध की व्याख्या कीजिए। नागरिकशास्त्र का क्षेत्र क्या है? (यू० पी०, १९३७)

८. राजनीतिशास्त्र और धर्मशास्त्र के क्षेत्रों से नागरिकशास्त्र के क्षेत्र की भिन्नता स्पष्ट कीजिए। (यू० पी०, १९४१)

९. 'नागरिकशास्त्र अथवा राजनीतिशास्त्र' का अध्ययन ठीक भौतिकशास्त्र और रसायनशास्त्र की शैलियों के अनुसार होना चाहिए, इस कथन की व्याख्या कीजिए। (यू० पी०, १९२८)

१०. क्या नागरिकशास्त्र एक विज्ञान अथवा कला है अथवा दोनों हैं?

११. नागरिकशास्त्र के नियमों का स्वरूप क्या है? भौतिक विज्ञानों के नियमों से उनमें क्या भिन्नता है?

१२. 'सामाजिक निरीक्षण का सामाजिक सेवा में लगाना ही नागरिकशास्त्र है,' इस कथन की विवेचना कीजिए।

१३. नागरिकशास्त्र के अध्ययन का क्या महत्व है? यह शास्त्र इतिहास और अर्थ-शास्त्र से किस प्रकार सम्बंधित है? (यू० पी०, १९४९)

दूसरा अध्याय

समाज और मनुष्य

समाज का अर्थ

मानव जीवन की अपनी एक महान् विशेषता है, वह यह, कि मनुष्य एक साथ रहते हैं और समान उद्देश्य की प्राप्ति के लिए साथ ही काम करते हैं। उदाहरण के लिए, मनुष्य, बहुत अधिक संख्या में, गाँवों और नगरों में रहते हैं। वे अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए साथ ही साथ काम करते हैं और आवश्यक सामान तैयार करते हैं। वे अपने बचे हुए समय को आनन्दपूर्वक व्यतीत करने के लिए एक साथ खेलते हैं। वे नाना प्रकार के शत्रुओं से बचने के लिए एक दूसरे की सहायता प्राप्त करते हैं। मनुष्य आपस में ऐसे लोगों का पालन भी करते हैं जो अपना निर्वाह स्वयं नहीं कर सकते। माता-पिता अपने बच्चों का उस समय तक लालन-पालन करते हैं जब तक वे स्वयं अपनी रक्षा करने के योग्य नहीं बन जाते। डाक्टर उन लोगों की चिकित्सा करते हैं जो शरीर से अस्वस्थ हों। सारांश यह है कि मनुष्य एक दूसरे के साथ अनेक कारणों से रहते हैं।

इस प्रकार साथ रहने और काम करने से मनुष्यों में आपसी बहुत से सम्बन्ध स्थापित हो जाते हैं। ऐसे सम्बन्ध क्षणिक या स्थायी, संगठित या असंगठित, कई प्रकार के हो सकते हैं। उदाहरण के लिए ऐसे दो मनुष्यों में क्षणिक सम्बन्ध उत्पन्न हो जाता है जो एक रेल के डिब्बे में मिलकर किसी समान हित' के विषय पर बातचीत करते हैं। दो मित्रों

की आपस में स्थायी मित्रता होती है। एक विद्यार्थी का अपने कालेज के साथ सङ्गठित सम्बन्ध रहता है, परन्तु सार्वजनिक सभा में बैठे हुये एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य से असङ्गठित संबंध रहता है। दो या दो से अधिक मनुष्यों के इस प्रकार के सम्बन्ध को सामाजिक कहा जा सकता है। इस प्रकार समाज भिन्न-भिन्न मानव प्राणियों के आपसी बहुत से सम्बन्धों का मेल है। इसलिए समाज की परिभाषा हम इस प्रकार कर सकते हैं कि **समाज मनुष्य के उन हर प्रकार के सम्बन्धों और सब प्रकार की संस्थाओं का समूह है जिनको मनुष्य अपने समान उद्देश्यों की प्राप्ति तथा अपने व्यक्तित्व का विकास करने के लिये जन्म देता है**। समाज शब्द का अर्थ इस प्रकार बहुत व्यापक है, मनुष्य की सारी संस्थायें, यहाँ तक कि राज्य (State) भी इसी के अन्तर्गत आ जाते हैं।

§ १. समाज की आवश्यकता

प्रश्न यह उठता है कि मनुष्य के लिये समाज में रहना क्यों आवश्यक है। समाज में रहने से मनुष्य को बहुत-सी चिन्ताओं और आपत्तियों का सामना करना पड़ता है। क्या हम इन चिन्ताओं और आपत्तियों से दूर समाज को छोड़कर जङ्गल के किसी कोने में अपना जीवन व्यतीत नहीं कर सकते? क्या मनुष्य के लिये यह संभव नहीं कि वह सामाजिक ज़िम्मेदारियों, नाना प्रकार के दुःखों, असफलताओं और बाधाओं के बोझ से बरी होकर एकान्त वास कर सके? क्या सामाजिक संसार की, व्यक्ति को पागल बना देने वाली, तकलीफ़ों का ख़्याल करते हुये, मनुष्य के लिये एकान्तवास अच्छा नहीं? ये और इसी प्रकार के अनेक प्रश्न संसार के सभी विचारकों के मस्तिष्क में उथल-पुथल पैदा किया करते हैं। इस समस्या पर विशेषकर भारतीय विचारकों ने बहुत मनन किया है। इनमें से बहुत से विचारक तो इसी परिणाम पर पहुँचे हैं कि एकान्त जीवन व्य-

तीत करना और मानव-समाज से कोई भी सम्बन्ध न रखना मानव प्राणियों के लिए सबसे अच्छा जीवन है। परन्तु उनकी यह राय ठीक नहीं जान पड़ती क्योंकि इसमें मनुष्य की आवश्यकताओं और उसके स्वभाव पर विचार नहीं किया गया। मानव-जीवन का निर्माण ही इस प्रकार हुआ है कि मनुष्य बिना समाज की सहायता के न जीवित ही रह सकता है और न अपनी सांस्कृतिक और मानसिक उन्नति कर सकता है।

भौतिक जीवन के लिए समाज की आवश्यकता—मनुष्य समाज के सहयोग के बिना जीवित नहीं रह सकता। इसके निम्नलिखित कारण हैं :—

(१) मनुष्य की रोटी और कपड़े की आवश्यकता—प्रत्येक मनुष्य को जीवन व्यतीत करने के लिए रोटी और तन ढाँपने के लिए कपड़े की आवश्यकता पड़ती है। भोजन के बिना मनुष्य कुछ दिनों तक तो शायद अपने जीवन को चला सके परन्तु कोई भी व्यक्ति, चाहे वह कितना ही स्वस्थ क्यों न हो, कुछ दिन बाद बिना भोजन किये जीवित नहीं रह सकता। भूख लगने पर मनुष्य को अपने लिए खाद्य-सामग्री जुटानी ही पड़ती है। यह सामग्री मनुष्य दूसरों के सहयोग के बिना प्राप्त नहीं कर सकता। अनाज पैदा करने, बोने या कपड़ा तैयार करने में अनेक मनुष्यों की सहायता की आवश्यकता पड़ती है। जंगली अवस्था में भी मनुष्य अपने साथियों की सहायता के बिना न शिकार ही मार सकता है और न पेड़ों से फल ही तोड़ सकता है। इसके अतिरिक्त मनुष्य के जीवन में ऐसे बहुत से अवसर आते हैं जब कि परिस्थितियों से विवश होकर वह स्वयं कुछ भी काम नहीं कर सकता। बीमारी या बुढ़ापे की ही अवस्था ले लीजिए। ऐसी दशा में मनुष्य अपने साथियों की सहायता के बिना कुछ भी नहीं कर सकता। यही दशा मनुष्य की बचपन में भी होती है। बच्चे को अपने जीवन के लिए अपनी माँ के

सहारे ही रहना पड़ता है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य को जीवित रहने के लिए समाज की आवश्यकता पड़ती है।

(२) **जंगली जानवरों से रक्षा**—रोटी खाकर मनुष्य जीवित रह सकता है परन्तु इससे वह अपने आपको जंगली जानवरों के आक्रमण से नहीं बचा सकता। प्रकृति ने मनुष्य को तेज़ दाँत और पंजे प्रदान नहीं किए जिनकी सहायता से वह जंगली जानवरों के आक्रमण से अपने आप को बचा सके। इन जानवरों के आक्रमण से बचने का उपाय तो केवल मनुष्यों की संख्या-वृद्धि और बनावटी औज़ारों का प्रयोग है। 'सहयोग एक महान् शक्ति है और फूट कमज़ोरी' यह कहावत ऐसी ही दशाओं में सही नज़र आती है। बन्दूक और राइफल तथा इसी प्रकार के दूसरे औज़ार बनाने के लिए बहुत से आदमियों की सहायता की आवश्यकता पड़ती है। अतः यह स्पष्ट है कि केवल समाज ही मनुष्य को वह शक्ति प्रदान करता है जिसके द्वारा वह संसार के पाशविक शत्रुओं से अपनी रक्षा कर सकता है।

(३) **बुरे मौसम से बचाव**—अन्त में मनुष्य को ऐसे स्थान की आवश्यकता पड़ती है जहाँ वह बिना किसी आक्रमण और छेड़-छाड़ के डर के रह सके। इस प्रकार का स्थान मनुष्य को मकान की चहरदीवारी में ही मिल सकता है। मकान मनुष्य की रक्षा केवल जंगली जानवरों से ही नहीं करता वरन् वह उसे वर्षा, तूफ़ान, बिजली और बर्फ़ से भी बचाता है। लेकिन मकान एक ही आदमी के द्वारा, अन्य व्यक्तियों की सहायता के बिना बनाया नहीं जा सकता। उसको बनाने के लिए बहुत से औज़ारों की ज़रूरत पड़ती है और ये औज़ार बहुत से आदमी एक साथ मिलकर ही बना सकते हैं।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि सहयोग ही जीवन का प्रधान स्त्रोत है। दूसरे शब्दों में मनुष्य को अपना जीवन बनाए रखने के लिए समाज

की आवश्यकता पड़ती है। जीवन के संग्राम में उन्हीं प्राणियों को अधिक सफलता मिलती है जिनका किसी न किसी प्रकार का सामाजिक जीवन रहा हो। एकान्त-जीवी प्राणियों के लिए सदा भय बना रहता है। उदाहरण के लिए शेर और भालुओं की अपेक्षा पक्षियों और मधुमक्खियों को इस जीवन-संग्राम में अधिक सफलता मिली है। मनुष्य इन प्राणियों से भी अधिक समुन्नत सामाजिक जीवन व्यतीत करता है। अतः दूसरे प्राणियों की अपेक्षा उसका जीवन बहुत अधिक सुरक्षित बन गया है।

समाज मनुष्य के लए स्वभाविक है*

मनुष्य समाज में केवल इसलिए नहीं रहता कि उसके जीवन का मूल्य अधिक है, वरन् इसलिए भी रहता है कि वह यहाँ अपनी भावनाओं और इच्छाओं को पूरी कर सकता है। मनुष्य की मौलिक भावनाएँ एकान्त जीवन में कभी व्यक्त नहीं हो सकतीं। इन भावनाओं को व्यक्त करने के लिये उसे समान शरीर और समान मस्तिष्क वाले प्राणियों की आवश्यकता पड़ती है। प्राणीशास्त्र (Biology) के सिद्धान्त के अनुसार एक पुरुष का स्त्री के साथ रहना आवश्यक है। संभवतः इसी सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य के पहले सगठन अर्थात् परिवार का प्रादुर्भाव हुआ। पितृभाव की सन्तुष्टि के लिए मनुष्य को बच्चों की आवश्यकता पड़ती है। आदेश देने का भाव तभी पूरा हो सकता है जब एक मनुष्य दूसरों पर शासन करता है। खेलने का भाव दूसरों के साथ रहकर ही पूरा हो सकता है। सारांश में इन सब भावनाओं को पूर्ण करने के लिए दूसरों की उपस्थिति की आवश्यकता पड़ती है। सच बात तो यह है कि मनुष्य अपने समान प्राणियों की उपस्थिति में ही पूर्ण संतुष्ट और प्रसन्न रह सकता है। निर्जन एकान्तवासी मनुष्य बहुत ही दुखी और दयनीय प्राणी होता है। उसका जीवन निस्सार और भारस्वरूप बना रहता है। यही कारण है

* 'Society is natural for man.'

कि किसी भी अपराधी को एकान्त कारावास का दंड देना अन्य सभी दंडों से अधिक कड़ा समझा जाता है। इसलिए बिना किसी अतिशयोक्ति की आशंका के यह कहा जा सकता है कि नरक की सबसे उचित व्याख्या अनन्त एकाकीपन ही है। वास्तविकता यह है कि समान प्राणियों की उपस्थिति से ही मनुष्य को आनन्द और सन्तोष प्राप्त होता है। यह बात उस समय पूर्णरूप से स्पष्ट होती है जब एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से बहुत दिन के बाद मिलता है। इसके अतिरिक्त इस तथ्य की वास्तविकता उस समय भी ज्ञात होती है जब विदेश में एक मनुष्य अपने देशवासी से मिलकर एक अद्भुत आनन्द प्राप्त करता है। इन सब बातों से प्रतीत होता है कि प्रसिद्ध ग्रीक दार्शनिक श्री आरिस्टोटल की कहावत "मनुष्य स्वभाव से एक सामाजिक प्राणी है" में कितना तथ्य भरा है।

समाज मनुष्य की भलाई के लिए आवश्यक है

अन्त में यह कहा जा सकता है कि सभ्यता, संस्कृति, प्रचुरता, सुख और शान्ति का जीवन केवल समाज के अन्दर ही सम्भव है। मनुष्य एकाकी जीवन व्यतीत तो कर सकता है परन्तु जैसा हौब्स (Hobbes) ने कहा है इस प्रकार का जीवन "गंदा, जंगली और क्षणिक" होता है। इस प्रकार के जीवन में न तो सुख और शान्ति ही संभव है और न सभ्यता और संस्कृति का विकास ही। सहयोग और आपसी मेल-जोल के द्वारा मनुष्य को वह सुविधाएँ प्राप्त हो जाती हैं जिनकी सहायता से वह सृष्टि का मुकुटमणि बन सकता है।

(१) **समाज सभ्यता की उन्नति करता है**—सर्वप्रथम सामाजिक जीवन के कारण सभ्यता की उन्नति होती है। सभ्यता का अर्थ है मनुष्य का अपने निकट वातावरण पर, चाहे वह भौगोलिक हो अथवा सांस्थानिक, अधिकाधिक आधिपत्य प्राप्त करना। सभ्यता मनुष्य की उस शक्ति में सन्निहित रहती है जिसकी सहायता से वह सांसारिक जीवन का पुनर्निर्माणकर

अपने जीवन को सुखी और सुरक्षित बना सकता है। वह रेलगाड़ी भाप से चलने वाली मशीनें, हवाई जहाज, रेडियो, टेलीफ़ोन, बैंक और दूसरे अनेक सुख के साधन उत्पन्न कर सकता है। परन्तु वातावरण पर इस प्रकार का नियंत्रण उसी दशा में संभव हो सकता है जब कि मनुष्य उनके गुप्तभेदों को जान सके और अपने ज्ञान के द्वारा उस वातावरण को अधिकाधिक उपयोगी बनाने की क्षमता धारण कर सके। मनुष्य सहयोग के द्वारा ही इस प्रकार के ज्ञान और क्षमता को प्राप्त कर सकता है।

(२) यह ज्ञानोपार्जन में सहायता देता है—सहयोग के द्वारा मानव-समाज ज्ञान का वह भंडार प्राप्त कर सकता है जिसे मनुष्य एकान्त जीवन व्यतीत करते हुए कभी भी प्राप्त नहीं कर सकता। एक अकेला मनुष्य के लिए, चाहे वह कितना ही अधिक बुद्धिमान् क्यों न हो, अपने छोटे से जीवन में सारी विद्याओं का ज्ञान प्राप्त करना असंभव है। उदाहरण के लिए वह तारागण और आकाश, पशु और मनुष्य, अंक और संख्या, जमीन और समुद्र आदि विषयों का सम्पूर्ण ज्ञान कभी प्राप्त नहीं कर सकता। सारांश में वह पक्का ज्योतिषी, प्राणशास्त्री, गणितज्ञ, अर्थशास्त्री, राजनीतिज्ञ, आदि सब एक साथ ही नहीं बन सकता। वह तो केवल एक ही विज्ञान और उसके भी कुछ ही अंश का अच्छी तरह से अध्ययन कर सकता है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि यदि प्रत्येक मनुष्य अकेला ही रहता तो वह प्रकृति की गुप्त बातों का बहुत थोड़ा अंश ही जान पाता। परन्तु आज तो मनुष्य के पास ज्ञान का एक भारी भंडार जमा हो गया है। वह सब इसीलिए हुआ कि मनुष्य समाज के साथ रहता आया है। मनुष्यों ने अपने परिश्रम का बँटवारा करके विभिन्न विज्ञानों का अध्ययन किया है और इस प्रकार युगों के हजारों वैज्ञानिक कार्यकर्ताओं के परिश्रम के जोड़ से मानव ज्ञान आज बढ़ता और फैलता हुआ प्रतीत होता है।

(३) सामाजिक जीवन से ज्ञान की अनन्त काल तक रक्षा होती है—यदि मनुष्य एकान्त जीवन व्यतीत करता तो उसका ज्ञान उसके जीवन के अन्त के साथ ही नष्ट हो जाता। वह अपने ज्ञान को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी के लोगों तक नहीं पहुँचा सकता था। परन्तु सामाजिक जीवन के कारण यह सम्भव बन जाता है। आज संसार में लाखों और करोड़ों वर्ष का सञ्चित मानव ज्ञान सुरक्षित है, वह केवल इसी कारण कि मनुष्य ने सामाजिक जीवन व्यतीत किया है। आज एक मनुष्य की मृत्यु के बाद उसका सञ्चित ज्ञान दूसरे लोगों की निधि बन जाती है।

(४) सामाजिक जीवन ज्ञान प्राप्त करने और सत्य का पता लगाने के लिये समय प्रदान करता है—एक एकान्तवासी मनुष्य को अपनी प्रतिदिन की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये इतना अधिक समय और शक्ति लगानी पड़ती है कि उसे विज्ञान और कला के अध्ययन के लिये जरा भी समय नहीं मिल पाता। परन्तु सामाजिक मनुष्य के कार्यों का विभाजन इस प्रकार होता है कि यदि कुछ आदमी भोजन-सामग्री उत्पन्न करने में लग जाते हैं तो दूसरे समाज की बाहरी और भीतरी शत्रुओं से रक्षा करते हैं और दूसरे लोग अपना सारा समय ज्ञानोपार्जन में व्यतीत कर देते हैं। इस प्रकार सामाजिक ज्ञान की वृद्धि बराबर होती रहती है।

सामाजिक जीवन एक और प्रकार से भी मनुष्य की सहायता करता है। समाज में रहकर एक मनुष्य का मस्तिष्क दूसरे मनुष्यों के मस्तिष्क के सम्पर्क में आता है, इस प्रकार विचारों में सङ्घर्ष पैदा होकर नये विचारों का प्रादुर्भाव होता है और कितने ही नये प्रकार के आविष्कारों की उत्पत्ति हो जाती है। इस प्रकार सामाजिक जीवन सभ्य जीवन की जड़ समझा जाता है।

(५) **सामाजिक जीवन संस्कृति की उन्नति और भाषा का विकास करता है**—मानव प्रवृत्ति का 'सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम्' की आराधना करना ही संस्कृति कहलाता है। रेखा चित्रकारी, गायन और नृत्य कलाओं का जन्म समाज में ही होता है। इस प्रकार समाज सांस्कृतिक जीवन की जड़ है। इसके अतिरिक्त सांस्कृतिक भावनाओं को व्यक्त करने के लिए समाज माध्यम का काम करता है। एकान्तवासी मनुष्य संभवतः कोई भी भाषा नहीं सीख सकता। फलस्वरूप उसकी सांस्कृतिक उन्नति भी नहीं हो सकती। इसके विपरीत समाज मनुष्य को भाषा सिखाता है और उसके माध्यम के द्वारा अपने भाव और विचार प्रकट करने में सहायता प्रदान करता है। एक प्रसिद्ध लेखक मेकलवेर (Maclever) ने कहा है—"समाज मानव भावनाओं का आश्रयस्थल है"। इसका अर्थ यही है कि समाज एक पीढ़ी की संस्कृति को सुरक्षित रख उसे आगे आनेवाली पीढ़ी को प्रदान कर देता है और इस प्रकार ज्ञान का स्रोत कभी सूखने नहीं पाता।

(६) **समाज मनुष्य की आर्थिक उन्नति करता है**—समाज आर्थिक प्रचुरता भी प्रदान करता है। एक साथ काम करने से मनुष्यों ने उत्पादन के प्रश्न को सफलतापूर्वक हल कर लिया है। पहिले आदमी अपने परिश्रम द्वारा अपनी आवश्यकताओं को भी पूर्ण कर सकते थे। उन्हें अकाल का सदा डर बना रहता था। परन्तु वर्तमान समय में वैज्ञानिक तरीकों से इतनी अधिक चीजें पैदा की जा सकती हैं कि वे आवश्यकता से भी अधिक होती हैं।

(७) **सामाजिक जीवन से व्यवस्था में भी सहायता मिलती है**—राज्य समाज का एक अंग है। राज्य का ठीक संगठन होने पर ही समाज में शान्ति और सुव्यवस्था क़ायम रह सकती है। सामाजिक जीवन हमें राज्य के नियमों को समझकर उनका पालन करना सिखाता है और

इस प्रकार समाज में शांति और सुव्यवस्था क़ायम करने में सहायता देता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि "समाज व्यक्तित्व का विस्तार है, व्यक्तिगत समानता का वाहन है और मनुष्य के जीवन के विकास का आधार है। वह मनुष्य के रीति-रिवाजों और विशुद्ध विश्वासों का रक्षक है और जीवन के अनुभवों का योग है"। वह मनुष्य को न केवल वर्तमान काल में ही सुखी और सफल जीवन व्यतीत करने में सहायता प्रदान करता है, वरन् अपने आगे आने वाली पीढ़ियों को भी ज्ञान का अमूल्य भंडार प्रदान करता है। वह मनुष्य को अपने चारों ओर एक नई सृष्टि का निर्माण करने में सहायता पहुँचाता है और उसे प्रकृति की शक्तियों का स्वामी बनाता है। वह उसे बिजली पर आधिपत्य प्राप्त करने, नदी पर पुल बनाने, रेगिस्तानों को पार करने, पहाड़ों पर चढ़ने और आसमान में उड़ने की शक्ति प्रदान करता है। सारांश में समाज मनुष्य को सृष्टि का मुकुटमणि बना देता है।

§ २. समाज और मनुष्य के सम्बन्ध का स्वरूप

मनुष्य की अपेक्षा समाज की अधिक प्रधानता होने के कारण लोगों को ऐसा न समझ लेना चाहिए कि वह उन मनुष्यों की अपेक्षा जो उसमें रहते हैं, अधिक अच्छा है या उनसे भिन्न है। समाज, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, मानव जीवन की एक दशा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वह केवल रहन का एक तरीका है। जब कभी मनुष्य एक साथ रहते या किसी समान उद्देश्य के लिए मेल से काम करते हैं तभी वे समाज कहलाते हैं। इस प्रकार मनुष्यों की समष्टि को ही समाज कहते हैं। समाज मनुष्य के मस्तिष्क और हृदय में रहता है। मनुष्य के अन्दर अनेक विचार होते हैं। अवसर पाकर वह विचार बाह्य जगत् में संस्थाओं और समुदायों का रूप धारण कर लेते हैं। शिक्षा की आवश्यकता पड़ने पर मनुष्य

शिक्षालय, स्वास्थ्यप्रद जीवन व्यतीत करने के लिए व्यायामशाला और हँसी-खेल के लिये क्लब आदि बनाता है। यदि मनुष्य इन भावनाओं को हृदय से सर्वथा निकाल दे तो समाज का अस्तित्व ही न रह सकेगा, उसका अन्त हो जायगा। कहा जाता है कि मनुष्य के अन्दर विचारों का एक समाज है और बाहरी समाज उसीका क्रियात्मक रूप है। इस प्रकार व्यक्ति और समाज में कोई भेद नहीं। मेल और एक दूसरे पर अवलम्बित रहने के दृष्टिकोण से वह मनुष्य का ही एक स्वरूप है। दूसरे शब्दों में मानव-जीवन के दो स्वरूप हैं—सामाजिक और व्यक्तिगत। सामाजिक स्वरूप वह है जिसमें मनुष्य कोई भी काम मेल के साथ करता है और व्यक्तिगत स्वरूप वह है जिसमें मनुष्य कोई भी कार्य स्वयं अकेला ही करता है। इस प्रकार समाज मनुष्य के विरुद्ध कोई चीज़ नहीं है। वह व्यक्तिगत जीवन को पूरा करता है और उसकी श्रीवृद्धि करता है।

समाज का आङ्गिक सिद्धान्त

एक दूसरा मत भी है जो समाज को एक बिल्कुल स्वतंत्र चीज़ समझता है। इस मत के अनुयायी समाज को उन मनुष्यों से बिल्कुल पृथक् समझते हैं जो मिलकर समाज को बनाते हैं। यह सिद्धान्त समाज का आङ्गिक सिद्धान्त कहलाता है। इस सिद्धांत के अनुसार मनुष्य और समाज का सम्बन्ध स्वभाव से आङ्गिक (Organismic) रहता है। 'आङ्गिक' सम्बन्ध का स्पष्ट अर्थ ठीक तरह से तभी बतलाया जा सकता है जब कि आङ्गिक शब्द के अर्थ को अच्छी तरह समझ लिया जाय। 'आङ्गिक' एक इस प्रकार का संगठन है जिसमें संगठन शक्ति के भाग अपना अलग अस्तित्व न रखते हुये एक केन्द्रीय शक्ति पर अवलम्बित हों। इस शब्द का अर्थ सम्भवतः मनुष्य शरीर की रचना पर ध्यान देने से ठीक समझ में आ जायगा। मनुष्य के शरीर में हाथ, पैर, सिर, आँख, नाक इत्यादि बहुत से भाग होते हैं परन्तु केवल इन भागों के योग को हम

शरीर नहीं कह सकते। शरीर को एक जीवित वस्तु उसी समय कहा जा सकता है जब कि उसमें एक गुप्त शक्ति जिसे आत्मा कहते हैं, विद्यमान हो। इस जीवन-शक्ति के शरीर के अन्दर आ जाने पर ही शरीर के विभिन्न भागों का महत्व और उनकी उपयोगिता दिखलाई पड़ती है। इस शक्ति के बिना, मनुष्य शरीर, एक मिट्टी के ढेले के समान कहा जा सकता है। ठीक इसी प्रकार प्रत्येक आङ्गिक वस्तु अपनी एक केन्द्रीय शक्ति रखती है और उस शक्ति के बिना उसके भिन्न-भिन्न भागों का कोई भी मूल्य नहीं होता। हम ऐसी प्रत्येक चीज़ को आङ्गिक वस्तु (Organism) कह सकते हैं जिसमें जीवन हो और जो एक छोटे स्वरूप से बढ़कर अपने यौवन और वृद्ध काल को प्राप्तकर अन्त में मृत्यु का ग्रास बन जाय। इस प्रकार छोटे-छोटे पेड़-पौधे, जीव-जन्तु, पशु-पक्षी सभी आङ्गिक कहे जा सकते हैं।

शरीर और समाज में समानता—आङ्गिक सिद्धान्त में विश्वास रखने वाले दार्शनिकों का कथन है कि मनुष्य समाज की एक आङ्गिक वस्तु है और इस कथन की पुष्टि के लिए वह मनुष्य शरीर और समाज के संगठन के स्वरूप में अनेक प्रकार की समानता बताते हैं। उदाहरणार्थ इन दार्शनिकों का कहना है कि जिस प्रकार मनुष्य का शरीर छोटे-छोटे जीवित परमाणुओं (Cells) के संयोग से बनता है, ठीक इसी प्रकार समाज व्यक्तियों के सामंजस्य से बनता है। जिस प्रकार मनुष्य शरीर के भिन्न-भिन्न भाग होते हैं और वह भाग एक दूसरे की सहायता के बिना कोई काम नहीं कर सकते, उसी प्रकार समाज में भी अनेक श्रेणियाँ और समुदाय होते हैं और उनका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। जिस प्रकार शरीर भोजन के बिना जीवित नहीं रह सकता, उसी प्रकार समाज उत्पत्ति के बिना जीवित नहीं रह सकता। शरीर को एक जगह से दूसरी जगह लाने ले जाने के लिए नसें इत्यादि होती हैं, समाज़ में इसी प्रकार यातायात

के अनेक साधन होते हैं। शरीर पर मस्तिष्क राज्य करता है और समाज में सेना और सरकार का प्रबन्ध होता है।

केवल इतना ही नहीं, आङ्गिक सिद्धान्त में विश्वास रखने वाले दार्शनिकों का कहना है कि मनुष्य शरीर का विकास भी सामाजिक संगठन के विकास से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। मनुष्य-शरीर, प्राणीशास्त्र (Biology) के सिद्धान्त के अनुसार, एक छोटे से जीव से बढ़कर बनता है। इस प्रारम्भिक जीव में एक पेट और एक प्रवाहक अङ्ग के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। इसी प्रकार सबसे प्राचीन समाज में मनुष्य जंगली अवस्था में रहता है। धीरे-धीरे इस समाज में भिन्न-भिन्न संस्थाओं और समुदायों का प्रादुर्भाव होता है और उनके कारण समाज मनुष्य शरीर की भाँति जटिल बन जाता है। मनुष्य शरीर और समाज की उन्नति अधःपतन और विकास का विवरण भी बहुत कुछ आपस में मिलता जुलता है। शरीर का जन्म होता है, फिर युवावस्था और वृद्धावस्था प्राप्त करने के पश्चात् एक दिन उसका अन्त हो जाता है। यही दशा समाज की भी होती है। धीरे-धीरे करके समाज सभ्यता के उच्चतम शिखर पर पहुँचता है। इसके पश्चात् उसमें दोष उत्पन्न होने लगते हैं और अन्त में उसकी सभ्यता का लोप हो जाता है।

आङ्गिक सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य और समाज का सम्बन्ध

आङ्गिक सिद्धान्त में विश्वास रखने वाले दार्शनिकों में मुख्य नाम प्लेटो (Plato), सिसिरो (Cicero), मार्सिगलियो (Mersiglio), हाब्स (Hobbes) और स्पेन्सर (Spencer) के लिए जा सकते हैं। इन दार्शनिकों का कहना है कि मनुष्य का अपने समाज के प्रति वही सम्बन्ध होना चाहिए जो एक जीवित शरीर के भाग का सारे शरीर के प्रति होता है। जिस प्रकार शरीर का कोई भी भाग स्वयं जीवित नहीं रह सकता, उसका अपना अलग कोई अस्तित्व ही नहीं होता, ठीक उसी प्रकार मनुष्य भी समाज से अलग रहकर न जीवित ही रह सकता है और

न अपने व्यक्तित्व का विकास ही कर सकता है। इसलिए मनुष्य को अपने व्यक्तिगत जीवन को समाज के ही अर्पण कर देना चाहिए। दूसरे शब्दों में मनुष्य को समाज की भलाई और समाज के वैभव के लिए ही जीना चाहिए, अपने लिए नहीं। यदि समाज पर किसी प्रकार की आपत्ति पड़े तो व्यक्ति का धर्म है कि वह सब कुछ छोड़कर समाज की रक्षा में लग जाय। व्यक्ति की भलाई समाज की भलाई में निहित है। समाज के प्रति व्यक्ति के केवल कर्तव्य ही हैं उसके विरुद्ध किसी प्रकार के अधिकार नहीं। यदि व्यक्ति ग़रीब है तो उसे इस बात का अधिकार नहीं कि वह सामाजिक संगठन के विरुद्ध आवाज़ उठा सके। उसका धर्म है कि वह हर प्रकार की कठिनाई का प्रसन्नता के साथ सामना करे। उसको केवल एक ही बात का ध्यान रखना चाहिए और वह यह कि उसके समाज की मान-प्रतिष्ठा संसार में किस प्रकार बढ़ सकती है।

आङ्गिक सिद्धान्त की आलोचना

मनुष्य और समाज के सम्बन्ध के विषय में आङ्गिक सिद्धान्त के अनुयायी दार्शनिकों का यह मत सर्वथा भ्रमपूर्ण है। यह सत्य है कि समाज और मनुष्य शरीर की बनावट में कुछ बातों में समानता है परन्तु यह विचार सर्वथा निर्मूल है कि उन दोनों के संगठन और विकास में किसी प्रकार का अन्तर नहीं। आङ्गिक सिद्धान्तवादी चित्र के केवल एक पहलू पर दृष्टि डालते हैं, दूसरे पर नहीं। वे समानता की बातों को तो देख लेते हैं परन्तु भिन्नता की नहीं। उदाहरणार्थ आङ्गिक सिद्धान्तवादी दार्शनिक यह नहीं देखते कि मनुष्य शरीर में चेतना का केवल एक केन्द्र होता है, उसी केन्द्र से सारा जीवन चलता है और उसका अन्त होने पर शरीर का भी अन्त हो जाता है। समाज में इसके विपरीत चेतना के उतने ही केन्द्र होते हैं जितने उस समाज में रहने वाले

व्यक्ति। प्रत्येक व्यक्ति अलग सोचता है, अलग कार्य करता है और अलग ही उसका जन्म और अन्त भी होता है। व्यक्ति के मरने पर समाज का कार्य नहीं रुकता परन्तु शरीर से आत्मा के निकल जाने पर उसके सारे अङ्ग मिट्टी के ढेर के समान रह जाते हैं। दूसरी बात यह है कि शरीर के अलग-अलग भागों की न कोई स्वतन्त्र इच्छा होती है, न कोई आवश्यकता। इसके विपरीत समाज का प्रत्येक सदस्य अलग सोचता है, कार्य करता है और अपनी आवश्यकताओं का अनुभव करता है। तीसरी बात यह है कि समाज और शरीर के विकास में भी विशेष भिन्नता है। मनुष्य का शरीर आन्तरिक गुणों के कारण फलता-फूलता है किन्तु समाज के उत्थान या पतन पर बाहरी वातावरण का अधिक प्रभाव पड़ता है। मनुष्य शरीर नष्ट हो जाता है परन्तु समाज का कभी अन्त नहीं होता।

इन कारणों से आङ्गिक सिद्धान्त का जिस रूप में वर्णन किया जाता है, वह ग़लत है। इस सिद्धान्त से मनुष्य और समाज के सम्बन्ध के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता। फिर भी इस सिद्धान्त में एक बड़ी सत्यता भी छिपी हुई है और वह यह है कि समाज मनुष्य की सेवा के लिए केवल एक निर्जीव यंत्र नहीं, उसका अपना भी मूल्य है जिसे हमें कभी भी अस्वीकार नहीं करना चाहिए।

मनुष्य का समाज से समझौते के आधार पर सम्बन्ध

आङ्गिक सिद्धान्त के अतिरिक्त एक दूसरा मत है जो समाज को मनुष्य के लिए स्वाभाविक नहीं, वरन् कृत्रिम समझता है। इस मत के अनुसार मनुष्यों ने अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सामाजिक संगठन की रचना की है। यह रचना मनुष्यों ने ठीक उसी प्रकार की जैसे उन्होंने यातायात के लिए सड़कें और प्रकाश के लिए बिजली बनाई। मनुष्य किसी भी समय अपने समाज को तोड़ या रद्द कर सकता है। जब वह यह समझे कि समाज अनावश्यक या हानिकारक है तब वह इसे समाप्त कर सकता

है। समाज का केवल एक ही लक्ष्य है और वह यह है कि मनुष्य के सुख और उसकी भलाई के लिए कार्य करना। जिस समय तक समाज अपना यह कार्य सम्पन्न करता है उस समय तक उसकी आवश्यकता रहती है, परन्तु जब वह किन्हीं भी कारणों से यह कार्य सम्पन्न नहीं कर सकता तब मनुष्य समाज का अन्त कर सकता है।

इस मत की आलोचना

इस मत में कुछ सत्यता अवश्य है परन्तु इससे मनुष्य के समाज के साथ सम्बन्ध का सच्चा ज्ञान नहीं होता। इस मत से मनुष्य बहुधा ऐसा विश्वास करने लगता है कि उसका प्रधान उद्देश्य दूसरों की सेवा नहीं परन्तु अपना व्यक्तिगत लाभ ही है। वह सच्चे नागरिक के स्थान में एक लुटेरा बन जाता है। इसके अतिरिक्त इस सिद्धान्त के अनुसार समाज को मनुष्यकृत बताया गया है और कहा गया है कि व्यक्ति जब चाहे समाज का अन्त भी कर सकता है। यह धारणा सर्वथा असगत है। मनुष्य समाज का कभी अन्त नहीं कर सकता। समाज तो मनुष्य के स्वभाव और अंग-अंग में व्याप्त है। उसके बिना, जैसे पहले बताया जा चुका है मनुष्य न जीवित ही रह सकता है और न अपने व्यक्तित्व का विकास ही कर सकता है।

समझौते के सिद्धान्त में केवल एक सचाई है और वह यह कि यह सिद्धान्त समाज के मनुष्य के प्रति कर्तव्य पर भी ज़ोर देता है। आङ्गिक सिद्धान्त मनुष्य की एकाई को समाप्त कर देता है और समझौते का सिद्धान्त समाज की महानता को। वास्तव में सच्चाई दोनों सिद्धान्तों के बीच में है।

समाज और मनुष्य के सम्बन्ध का सच्चा सिद्धान्त

समाज स्वाभाविक और कृत्रिम दोनों है—मनुष्य और समाज

का फल समझकर और न उसे ईश्वर के समान सर्वव्यापी, अनन्त और महान् पुरुष मानकर जाना जा सकता है। समाज, जैसे पहले बताया जा चुका है, मनुष्य की प्रकृति और मनुष्य का आवश्यकताओं पर अवलम्बित है। हम समाज में रहते हैं क्योंकि इसके बिना हम अपनी प्राकृतिक भावनाओं को सन्तुष्ट नहीं कर सकते। हम दूसरों के साथ मिलकर काम करते हैं क्योंकि इसके बिना हम जीवन व्यतीत करने की सामग्री और एक सभ्यतापूर्ण जीवन व्यतीत करने के साधन नहीं जुटा सकते। इस प्रकार हमारे सामाजिक सम्बन्ध आंशिक रूप में स्वाभाविक और आंशिक रूप में कृत्रिम हैं।

समाज उद्देश्य और साधन दोनों है—समाज के सम्बन्ध में यह धारणा रखना कि वह व्यक्तियों से परे कोई ईश्वरीय वस्तु है, बिल्कुल ग़लत है। मनुष्यों का आपस में एक दूसरे के साथ मिल-जुलकर रहने का नाम ही समाज है। यदि सारे मनुष्य एक साथ अपने मन से सहयोग की भावना निकाल दें यद्यपि ऐसा करना असंभव है, तो समाज का अन्त हो सकता है। समाज में मनुष्य इसलिए रहता है कि इसके बिना उसके व्यक्तित्व का विकास सभव नहीं, इसके बिना न वह जीवित रह सकता है और न एक प्रगतिशील और सभ्यतापूर्ण जीवन ही व्यतीत कर सकता है। समाज से ही हमें धन, विद्या, ऐश्वर्य, बुद्धि और ज्ञान की प्राप्ति होती है। इसलिए ऐसे समाज के प्रति मनुष्य का धर्म है कि वह उसकी सेवा और भलाई के लिए सब कुछ न्यौछावर करने के लिए सदा तत्पर रहे। यहाँ समाज की सेवा से अर्थ कोई ऐसी चीज़ की पूजा नहीं जो मनुष्यों से भिन्न कोई ईश्वरीय वस्तु हो। समाज की सेवा का अर्थ है—मनुष्यमात्र की सेवा, अपने पड़ोसियों की सेवा, दीन-दुखियों की सेवा। दूसरे शब्दों में, मनुष्य को केवल अपनी ही भलाई और अपने ही पेट के निर्वाह के लिए जीवित नहीं रहना चाहिए, वरन् मानव-समाज की भी

सेवा करनी चाहिए। संसार में जितने भी संतप्त और दुखी प्राणी हैं, उनकी सेवा ही समाज की सेवा है। व्यक्त और समाज में इस कारण किसी प्रकार का विरोध नहीं। व्यक्तियों के मेल से ही समाज की उत्पत्ति होती है और समाज की प्रगति और उसकी सभ्यता के विकास से मनुष्य की उन्नति होती है तथा मनुष्य की उन्नति से समाज का वैभव और ऐश्वर्य बढ़ता है। इसलिए आङ्गिक सिद्धान्तवादी दार्शनिकों का यह समझना कि समाज ही सब कुछ है, व्यक्ति कुछ भी नहीं, या 'समझौते' के सिद्धान्त के चालकों का यह कहना कि समाज कुछ नहीं व्यक्ति ही सब कुछ है, दोनों ग़लत है। वास्तव में 'समाज मनुष्य के लिए और मनुष्य समाज के लिए' है। इन दोनों में कोई विरोध नहीं। समाज का कर्तव्य है कि वह मनुष्य की भलाई के लिए अधिक से अधिक उपयुक्त वातावरण को जन्म दे और मनुष्य का धर्म है कि वह समाज की सेवा-शुश्रूषा के लिए सदा तत्पर रहे। यही सिद्धान्त मनुष्य और समाज के सम्बन्ध के असली स्वरूप को व्यक्त करता है।

§ ३. समाज की उत्पत्ति

समाज की उत्पत्ति के सम्बन्ध में बहुत से सिद्धान्त हैं। उनमें से सबसे अधिक महत्वपूर्ण ये हैं :—(१) दैवी उत्पत्ति सिद्धान्त (२) समझौता सिद्धान्त, (३) भाव सिद्धान्त, और (४) ऐतिहासिक विकासवादी सिद्धान्त।

दैवी उत्पत्ति सिद्धान्त (Divine Origin Theory)

यह सिद्धान्त इस धारणा से प्रारम्भ होता है कि संसार में एक ऐसी ईश्वरीय शक्ति है जो मनुष्यों के कर्मों का स्वयं नियन्त्रण करती है। इसी शक्ति ने मनुष्य के समाज और उसके विविध रूपों को जन्म दिया है। इसी शक्ति के द्वारा समाज का पालन-पोषण होता है। इस सिद्धान्त के

अनुसार मनुष्य का उन संस्थाओं और संगठनों के बनाने में कोई भी हाथ नहीं जो आज आधुनिक संसार में हमें देखने को मिलते हैं। वह सारे ईश्वरकृत हैं और इस कारण उनको बदलने या उनके स्थान पर नई संस्थाओं को जन्म देने का हमें कोई अधिकार नहीं।

दैवी उत्पत्ति सिद्धान्त का एक लम्बा इतिहास है। वह बहुत काल तक फला-फूला। परन्तु वर्तमान समय में उसकी सारी महत्ता नष्ट हो गई है। इस सिद्धान्त के अनुसार गिरजाघर, आर्थिक संस्थाएँ, राज्य, धार्मिक समाज, आदि सारी संस्थाएँ ईश्वरकृत हैं। इसलिए उनके वर्तमान स्वरूप में किसी भी प्रकार का परिवर्तन करना पाप है। दैवी सिद्धान्त में मानवी संस्थाओं को पवित्रता का वस्त्र पहना दिया गया है। उनमें परिवर्तन का स्थान ही नहीं होता। उदाहरण के लिए इसी सिद्धान्त के आधार पर भारतवर्ष में वर्ण-व्यवस्था, अस्पृश्यता, पर्दाप्रथा, आदि का समर्थन किया गया है। इस प्रकार यह संस्थाएँ जो मानवी उन्नति और मानवी भाव-प्रकाशन के साधन होनी चाहिएँ थीं, आज मनुष्य की दासता की जंजीरें बन गई हैं।

आलोचना—दैवी सिद्धान्त ग़लत धारणाओं पर अवलम्बित है। यह परिवर्तन के मौलिक नियम की अवहेलना करता है। यह उस विस्तृत विकास का भी विचार नहीं करता जिसके अन्दर से निकलकर मानवी संस्थाओं और संगठनों ने अपना वर्तमान स्वरूप प्राप्त किया है। यह मनुष्य को दैवी शक्ति का एक खिलौना मात्र समझता है और सामाजिक जीवन में एक शक्तिहीन प्राणी बना देता है। इस प्रकार इस सिद्धान्त में कोई भी सचाई नहीं।

सामाजिक समझौता—समाज की सृष्टि ईश्वरीय है। इस सिद्धान्त के विपरीत मध्यकालीन युग और योरोप के नवजीवन (Renaissance)

काल में एक नये सिद्धान्त की उत्पत्ति हुई जिसे "सामाजिक समझौते का सिद्धान्त" कहते हैं। यह सिद्धान्त संस्थाओं की पवित्रता के विरुद्ध पीड़ित मनुष्यों का विद्रोह था। इसने यह घोषित किया कि समाज की उत्पत्ति ईश्वर के द्वारा नहीं, वरन् मनुष्य के द्वारा हुई। इस सिद्धांत के अनुसार ऐतिहासिक और सामाजिक युग से पहले मनुष्य अकेला एकान्त में रहता था। यह उसकी प्राकृतिक अवस्था थी। इस अवस्था में मनुष्य का अपने सहयोगियों के साथ कोई सम्बन्ध न था। कुछ समय के पश्चात् जनसंख्या की वृद्धि से जीवन-निर्वाह के साधन घट गए और इस कारण आपस में झगड़े होने लगे। जीवन असहनीय हो गया। तब मनुष्य ने समाज को जन्म दिया।

आलोचना—'समझौता' सिद्धान्त के अनुसार समाज की उत्पत्ति मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए होती है। इसके अतिरिक्त यह सिद्धान्त मानव इतिहास में सामाजिक युग से पहले का भी एक युग मानता है। इस प्रकार की दोनों धारणायें मनुष्य-स्वभाव और ऐतिहासिक सत्य के विरुद्ध है। मनुष्य-शास्त्र, जन्तु-शास्त्र और शरीर विज्ञान से हमको ज्ञात होता है कि मनुष्य ने अपने पूर्वज पशुओं से समाज का गुण ग्रहण किया है। जानवरों में भी समाज होता है। और समाज के बिना प्रायः जीवन असम्भव है। इस कारण मनुष्य ने समाज की रचना नहीं की, समाज तो मनुष्य के स्वभाव में वर्तमान है। इसलिये सामाजिक समझौते का सिद्धान्त भी ईश्वरीय सिद्धान्त के समान सचाई की कसौटी पर पूरा नहीं उतरता।

भाव-सिद्धान्त

समाज की उत्पत्ति का एक और सिद्धान्त भी बताया जाता है और वह यह कि समाज की उत्पत्ति मनुष्य की भावनाओं के कारण हुई है इस सिद्धान्त में आंशिक सत्यता है। यह ठीक है कि समाज मनुष्य की

भावनाओं पर अवलम्बित है परन्तु इसके साथ ही यह नहीं भूलना चाहिये कि भावनाओं के अतिरिक्त मनुष्य की आवश्यकताओं और मनुष्य की मानसिक और सांस्कृतिक उन्नति के लिये भी समाज आवश्यक है।

विकासवादी या ऐतिहासिक सिद्धान्त

समाज का वास्तविक स्वरूप विकासवादी सिद्धान्त ही व्यक्त करता है। वास्तव में यह सिद्धान्त समाज की उत्पत्ति नहीं, वरन् उसका विकास बताता है। इस सिद्धान्त के अनुसार समाज का जन्म किसी खास समय या किन्हीं विशेष परिस्थितियों के अन्दर नहीं हुआ। समाज तो सदा से ही मनुष्य के जीवन से सम्बन्धित है, इसका पता तो हमें मनुष्य के पूर्वजों में भी मिलता है। इतनी बात अवश्य है कि इतिहास के प्रारम्भिक काल में मनुष्य का रहन-सहन बहुत साधारण और सामाजिक जीवन बिल्कुल प्रारम्भिक था। धीरे-धीरे इस जीवन में उलझनें पड़ने लगी यहाँ तक कि आजकल की जटिल संस्थाओं का जीवन आ गया। इसलिये हम सामाजिक जीवन के विकास पर विचार कर सकते हैं, उसकी उत्पत्ति पर नहीं। इस विकास की प्रगति का संक्षिप्त वर्णन नीचे दिया जाता है।

§ ४. समाज का विकास

वर्तमान समाज उस विकास का प्रतिफलन है जो मानव-जीवन के आरम्भ से होता चला आ रहा है। इस विकास पर एक सूक्ष्म विहङ्गम दृष्टि डालने से हमें सामाजिक जीवन के स्वभाव और उसकी विभिन्न संस्थाओं को समझने में आसानी होगी। परन्तु इस विकास का इतिहास जानने से पहिले आवश्यक है कि हम यह समझ लें कि सामाजिक विकास समस्त संसार में एक ही समय समान रूप से नहीं हुआ। बहुत से देश दूसरे देशों की अपेक्षा बहुत पहले उन्नति की अवस्था पर पहुँच गये थे। इसके अतिरिक्त, ऐसा भी कई जगह देखा गया है कि बहुत से देशों में

किसी दैवी-प्रकोप के कारण या युद्ध में पराजित होने से उनकी उन्नति रुक गई। जिस उन्नति की अवस्था पर ऐसे देश पहुँच चुके थे वहाँ से उन्हें पीछे लौटना पड़ा। सारांश, सामाजिक विकास एक नदी के बढ़ते हुये निर्विघ्न प्रवाह के समान नहीं रहा। वर्तमान दशा में पहुँचने के लिए उसे बहुत से सङ्कटों का सामना करना पड़ा। इस विकास की दूसरी विशेषता यह है कि किसी विशेष समय की संस्थाएँ आगे चलकर समूल नष्ट नहीं हो गईं; परन्तु नई संस्थाओं के साथ ही साथ जीती-जागती रहीं। किसी भी युग का समूल नाश नहीं हुआ। उसकी सफलताओं के आधार पर आगे की सभ्यता का निर्माण हुआ। इन सब बातों को दृष्टिगत रखते हुये, हम सामाजिक विकास के इतिहास को गौणरूप से चार विभागों में बाँट सकते हैं। प्रत्येक युग को अपने विशेष गुणों के कारण अलग-अलग नाम दिये गये हैं। वे चार विभाग ये हैं—आखेट अवस्था, चरवाह अवस्था कृषक अवस्था और औद्योगिक अवस्था।

आखेट अवस्था (Hunting Stage)—मानव-समाज की पहली अवस्था आखेट अवस्था थी। इस समय लोग छोटे-छोटे और विलग समुदायों में रहा करते थे। इन समुदायों का मुख्य काम जानवरों का शिकार या फल इकट्ठा करना था। भोजन-सामग्री इकट्ठी करने के कारण ही ये लोग एक साथ रहते थे।

इनका संगठन बहुत साधारण था। सब मिलकर शिकार खेलते और फिर उसको आपस में बाँट लिया करते थे। इन लोगों का न कोई राजा था न शासक, और न इन लोगों के पास कोई सम्पत्ति या उसको वितरण करने के नियम थे। इन लोगों में पारिवारिक जीवन का भी अभाव था।

इस समुदाय का परिमाण बहुत छोटा था। इसका कारण यह था कि इस युग में भोजन-सामग्री का अभाव था और वह सहज ही न मिल

सकती थी। किसी-किसी दिन तो ऐसा होता था कि बहुत शिकार मिल जाता था परन्तु किसी दिन भूखा भी रहना पड़ता था। संकट और कुसमय के लिए सामग्री इकट्ठी करने की भी अभी तक इन्हें आदत न पड़ी थी। जो भी शिकार ये लोग मारते थे उसे तुरन्त ही खा डालते थे।

इस युग के मनुष्यों का गृहस्थ जीवन उच्छृङ्खल था। समुदाय की सभी स्त्रियाँ दूसरे समुदाय के सभी पुरुषों की पत्नियाँ हुआ करती थीं। प्रकृति या मानव-जीवन सम्बन्धी ज्ञान उनमें न के बराबर था। उनका जीवन ज्ञान का नहीं भावनाओं का जीवन था। संसार उन्हें आपत्तियों से परिपूर्ण दिखलाई पड़ता था और वे समझते थे कि इन आपत्तियों से छुटकारा तभी मिल सकता है जब वह भूत प्रेतों की सेवा करें। उनके जीवन में अकाल, रोग और संक्रामक बीमारियों का ताँता लगा रहता था। वे बड़ी कठिनता से अपना जीवन निर्वाह कर सकते थे। उन्हें संस्कृति और आनन्द और सौंदर्य विषयों पर विचार करने के लिए तनिक भी समय न मिलता था। भिन्न-भिन्न समुदाय आपस में सदा लड़ते रहते थे। वे किसी सामाजिक नियम का पालन नहीं करते थे।

इन समुदायों में किसी भी मनुष्य को अपने अधिकारों का तनिक भी ज्ञान नहीं था। यदि किसी प्रकार के किसी को अधिकार प्राप्त थे तो वह व्यक्ति के नहीं बल्कि समुदाय के होते थे। सभ्यता, संस्कृति, ज्ञान और सुख के दृष्टिकोण से समाज की यह अवस्था दूसरी सारी अवस्थाओं से पिछड़ी हुई थी।

चरवाहा अवस्था (Pastoral Stage)—चरवाहा अवस्था का आरम्भ उस समय हुआ जब मनुष्य ने पशुओं को मारने के बजाय उनका पालन करना सीख लिया।

इस समय समाज का परिणाम आखेट अवस्था की अपेक्षा अधिक बढ़ गया था। मनुष्य बड़े-बड़े समुदायों में रहते थे। ऐसा इसलिए संभव

था कि पालतू पशुओं के कारण भोजन-सामग्री आसानी से मिल जाती थी। इस अवस्था में गृहस्थ जीवन में भी सुधार हुआ। मनुष्य इच्छानुसार विवाह कर सकता था। कोई-कोई पुरुष तो बहुत से विवाह भी करते थे। विवाह की प्रथा से संगठित पारिवारिक जीवन का जन्म हुआ। पिता परिवार के सब सदस्यों पर पूर्ण रूप से शासन करता था। वह अपनी स्त्री, पुत्र या पौत्रों को जान तक से मार सकता था।

पत्नियों को बहुत बड़े काम करने पड़ते थे। वे गृहस्थ-जीवन और पशुओं की आवश्यकताओं पर विशेष ध्यान देती थीं। बहुत से परिवारों के संगठन से गोत्र बनता था। गोत्र के सभी लोगों का आपस में खून का रिश्ता होता था। और इसी कारण वे साथ रहते और काम करते थे। दूसरे शब्दों में, इनके समाज का बन्धन रिश्तेदारी था।

इन लोगों का मुख्य धंधा पशुपालन था। समुदाय के प्रत्येक व्यक्ति के पास पशुओं के झुण्ड रहा करते थे। सारा समुदाय इस पशुधन की देख-रेख या निगरानी करता था। इस समय के लोगों की आर्थिक दशा भी सुधर गई थी। वे आखेट अवस्था की अपेक्षा अधिक आसानी से अपनी आवश्यकताओं को पूरा कर सकते थे। परन्तु अपने धन्धों के कारण एक जगह न रह पाते थे। उन्हें इधर-उधर घूमना पड़ता था। जब एक चरागाह समाप्त हो जाता था, तब वे दूसरे चरागाह की खोज में इधर-उधर घूमा करते थे।

चरागाहों के प्रश्न पर इन समुदायों में आपस में झगड़े भी हो जाते थे। इन्हीं झगड़ों के फलस्वरूप समुदायों में नेता पैदा हुए। झगड़ों के समय यही नेता आगे रहते थे, और शान्ति के समय यही नेता न्याय का काम भी करते थे।

इस काल का धर्म पूर्वजों और प्रकृति की पूजा करना था।

इस अवस्था में व्यक्तिगत जायदाद की प्रथा आरम्भ हो गयी थी। ग़रीब और अमीर की भावना का भी प्रादुर्भाव हो चुका था। एक आदमी

जिसके पास पशुओं के अधिक झुण्ड होते थे, कम झुण्ड वाले व्यक्ति से अधिक धनवान माना जाता था।

कृषक अवस्था (Agricultural Stage)—कृषि के आविष्कार से सामाजिक जीवन की तीसरी अवस्था आरम्भ हुई। इससे पहले मनुष्य को बहुत थोड़ी वस्तुओं की आवश्यकता थी, परन्तु कृषि के आरम्भ से उसकी आवश्यकता बहुत बढ़ गई। अब उसको रहने के लिए मकान और खेती के लिये हल आदि की आवश्यकता हुई। परिणाम-स्वरूप, श्रम और कार्य विभाजन का सिद्धान्त प्रयोग में आया। खेती के लिये राज, बढ़ई और लुहार आदि की आवश्यकता होती है। वन भ्रमण के युग में मनुष्य पशुपालन के साथ साथ स्वयं ही लड़ता था परन्तु कृषि युग में कृषक लड़ने को नहीं जा सकता था। इसलिये योद्धाओं की एक अलग ही श्रेणी बन गई। इस प्रकार समाज में जाति या श्रेणी विभाजन हुआ और चार जातियों, पुरोहित, योद्धा, कृषक और कलाकारों की रचना हुई। खेती बाड़ी के लिए आवश्यक है कि कृषक एक जगह रहकर काम करे। इस प्रकार कृषक एक स्थान पर रहने वाला बन गया और उसका घूमना-फिरना बंद हो गया। इस समय, एक ही रक्त के स्थान पर निकटवर्तिता मनुष्यों को परस्पर बाँधने वाली ग्रन्थी बन गई। एक ही स्थान पर रहना, न कि एक ही रक्त का होना इस समय पारस्परिक सम्बन्ध दृढ़ करता था। अब बाहर वाले लोग भी गाँव में आकर बसने लगे और उनको हस्तकला का काम करने की अनुमति मिल गई। परन्तु वे ग्राम के अधिकार और सुविधाएँ नहीं पा सकते थे। ये लोग गाँव में विदेशी समझे जाते थे। वे गाँव में रह सकते थे परन्तु वहाँ के अधिकार प्राप्त नहीं कर सकते थे। समाज में जाति विभाजन के कारण शासक और शासित में अन्तर हो गया। इस प्रकार मनुष्य का मनुष्य के द्वारा शोषण आरम्भ हुआ। राजा और धनिकों ने कृषक और उद्योग-धन्धे करने वालों का शोषण आरम्भ किया। यद्यपि रीति और परिपाटी अभी भी थी

परन्तु बाहर से आये हुए विजातीय लोगों के लिए नई रीतियाँ बनाई गईं।

कृषक अवस्था में साम्राज्यों का विस्तार—मनुष्य का भूमि पर निश्चित रूप से रहने के नियम बन जाने के बाद समाज की वृद्धि भिन्न देशों में भिन्न प्रकार से हुई। साधारणतः सामाजिक जीवन का विस्तार इन दोनों विधियों से हुआ, क्या तो ग्रामों से बढ़कर बड़े-बड़े साम्राज्य बने या व्यापार करने वाले नगर बसे।

ग्राम साम्राज्य—जिन देशों में भूमि उपजाऊ थी और खेती के लिए सिंचाई के साधन प्राप्य थे, जैसे मिश्र में नाइल, मेसोपटेमियाँ में यूफ़रीटीज़ और भारत में गंगा और यमुना, उन देशों में नदियों के किनारे बहुत छोटे-छोटे गाँव बस गये और ये गाँव स्वेच्छा से या बलपूर्वक एक साम्राज्य के अन्दर लाये गये। साम्राज्य के ऊपर राजा का शासन होता था जो किसी केन्द्रीय नगर में रहता था। नगरों की स्थापना ग्रामों की खेती से उत्पन्न वस्तु, अन्न आदि, बेचने के लिये हुई, आज भी बाज़ार नगरों के मुख्य भाग हैं। पवित्र स्थानों और युद्ध के लिए उपयुक्त स्थानों पर भी नगर बस गये। इस प्रकार नगरों के तीन उपयोग हुए व्यापार, सैनिक संगठन, और धार्मिक पूजा।

इन साम्राज्यों पर राजाओं का शासन होता था जो झगड़ों के निपटारे के लिए न्यायालय रखते थे। राजाओं की सहायता गाँव में रहने वाली भद्र मंडली करती थी। इन योद्धाओं और ज़मीदारों (Feudal lords) की आय गाँव से होती थी जो उनकी लड़ाई और शांति युग की सेवाओं का पुरस्कार था। इसके बाद राजाओं को पुरोहितों से सहायता मिलती थी, यह दूसरी सुविधा प्राप्त श्रेणी थी। और इनको भी भूमि पर श्रम करने वाले लोगों से आमदनी होती थी। कृषि-प्रधान समाज में भी परिपाटी और रीति प्रचलित थी। राजा, पुरोहित और धनिक इन रीति प्रथाओं के आधीन रहकर शासन कर सकते थे।

इन साम्राज्यों में विदेशियों के कोई अधिकार नहीं थे। उनकी कोई रीति-प्रथा न होने के कारण उनको वही अधिकार प्राप्त हो सकते थे जिनकी राजा अनुमति देता था। कृषि साम्राज्य अधिक सामाजिक उन्नति नहीं कर सके क्योंकि वे रूढ़ि आरूढ़ और अत्याचारपूर्ण थे। इन राज्यों में विभिन्न संस्कृतियाँ और सभ्यताएँ नहीं मिल सकती थीं। इस कारण ये विदेशियों द्वारा शीघ्र ही नष्ट कर दिये गये।

यूनान के नगर-राज्य—१. समाज के विस्तार में दूसरा स्थान नगर राज्यों का है। विशेषकर यूनान के नगर राज्यों का। इन नगर राज्यों की वृद्धि में भूगोल ने बड़ी सहायता की। इस युग में मिश्र आदि देशों में उन्नतिशील सभ्यताएँ थीं। यूनान के नगरों में व्यापारिक जीवन की वृद्धि हुई जिसके कारण वहाँ के निवासियों ने बहुत धन संचयकर सुख और अवकाश का जीवन बिताया। अवकाश के कारण वहाँ के लोगों ने सस्कृति की वृद्धि में अपना समय लगाया। इसी कारण वहाँ का उस समय का जीवन उच्चकोटि के विद्याध्ययन और ज्ञान-प्राप्ति में बीतता था। वहाँ के जीवन की निम्नलिखित विशेषताएं थीं। वह नागरिकों तक ही परिमत था। २. पहले तो तानाशाही राज्य थे, परन्तु बाद में राजाओं ने क्रमशः प्रजातंत्र राज्य स्थापित किये। ३. रीति-प्रथा से हटकर सार्वजनिक सभाओं द्वारा क़ानून बनाये गये। ४. नगर के साथ अधिकारों का स्थिति थी। विदेशियों को कोई अधिकार प्राप्त न थे। ५. वहाँ के लोगों का प्रगतिशील, आर्थिक, सांस्कृतिक और कलापूर्ण जीवन था। ६. इन नगरों में पूर्ण स्वतंत्रता नहीं थी क्योंकि दास और हस्तकलाकारों के कोई अधिकार न थे।

इन नगरों ने प्रारम्भिक काल में बड़ी उन्नति की। इस समय मनुष्य ने अपने आप संस्थाएँ बनानी आरम्भ कीं। इस प्रकार समाज का विस्तार, पूर्वकाल के समान अनभिज्ञता में नहीं, परन्तु ज्ञानपूर्वक होने लगा।

यूनान के लोगों ने एकता का पाठ नहीं पढ़ा और न क़ानून का उपयोग सीखा। इसलिये वह रोम के विजेताओं से पराजित किया गया।

रोम के नगर-राज्य—रोम में भी यूनान के समान नगर राज्य थे। इन लोगों ने समाज के विकास में स्वतंत्रता के स्थान पर क़ानून और शांति पर अधिक ज़ोर दिया। शनैः-शनैः रोम के लोगों ने एक बड़ा साम्राज्य स्थापित कर लिया। इनके समाज की विशेषता यह थी कि इनके ऊपर एक सम्राट् कई सभाओं की राय से राज्य करता था। और बड़ी-बड़ी सेनाओं की सहायता लेता था। उस समय साम्राज्य के सब निवासी नागरिक कहलाते थे। और रोम का कानून सारे साम्राज्य में प्रचलित था। विदेशियों को कोई भी राजनैतिक अधिकार प्राप्त नहीं थे। इसी प्रकार दासों और आश्रितों को भी कोई अधिकार प्राप्त नहीं थे।

इस साम्राज्य का नाश जर्मनी के आक्रमण से हुआ। जर्मनी के लोग अधिक सभ्य न थे। परन्तु उनके राजा सारे सम्प्रदाय की साधारण सभा की राय से राज्य करते थे। इस सभा की अनुमति से ही वे राजा बनते हैं। इस प्रकार जर्मनी के लोगों ने स्वायत्तशासन का सिद्धान्त स्थापित किया।

ईसाई धर्म का प्रभाव—रोमन साम्राज्य के नष्ट हो जाने पर यूरोप की समाज को एक सूत्र में बाँधने वाली, धर्म के अतिरिक्त कोई शक्ति न रही इस प्रकार मध्यवर्ती युग में समाज ईसाई धर्म के साथ-साथ स्थिर रहा। ईसाई धर्म के मानने वालों को ही अधिकार प्राप्त थे।

सामन्तशाही—इस समय समाज छोटे-छोटे समूहों में संगठित था जिसके ऊपर सामन्त या ज़मींदार राज्य करता था। ऐसे बहुत से सामन्तों के ऊपर एक राजा होता था जो स्वयं भी सामन्त होता था और युद्ध के समय सामन्तों का नेता बनता था। समाज में सुविधा-प्राप्त और सुविधा वंचित इस प्रकार दो श्रेणियाँ थीं। पहली श्रणी में पुरोहित और

धनिक थे जिनको राजनैतिक और सिविल अधिकार तथा बहुत-सी दूसरी सुविधाएँ प्राप्त थीं। इन सुविधाओं से वंचित श्रेणी के लोग व्यापारी, हस्तकलाकार और कृषक थे। जिनको केवल सिविल अधिकार प्राप्त थे। व्यापारिक, राजनैतिक और धार्मिक कारणों से शनैः-शनैः समाज में पूर्ण क्रान्ति हो गई। ज़मीदारों और धनिकों के हाथ से शक्ति व्यापारियों और कृषकों के हाथ में आ गई। ये नई श्रेणियाँ धन और सैनिक शक्ति के आधार पर ज़मीदारों के समुदाय को नष्ट करने लगीं।

योरोप के पुनर्जन्म का काल—योरोप के पुनर्जन्म के समय में धनिक-समुदाय का नाश हुआ और समाज का मुख्य आधार राजा पर अवलम्बित हो गया। इस युग में राजा सर्वशक्तिशाली हुआ। राजा और प्रजा के हितों के एकीकरण से समाज में एकता उत्पन्न हुई। इस युग में संस्कृति योरोप के पुरोहितों या पंडितों तक ही सीमित थी। इसी समय अमरीका और भारत के सामुद्रिक मार्गों का पता लगा जिससे योरोप के विभिन्न देशों के व्यापारियों का व्यापार बढ़ा और इसके साथ-साथ धन में वृद्धि तथा नये व्यापारिक नगरों की स्थापना हुई। व्यापारियों ने सामाजिक उन्नति के कार्य में भाग लिया। राजा ने स्थानीय और विदेशी-विद्वानों को आश्रय दिया। प्रत्येक राज्य सभा अपनी विशेष संस्कृति और सभ्यता का केन्द्र बन गई। लैटिन भाषा से स्थानीय भाषाओं की उत्पत्ति हुई।

राष्ट्र की उत्पत्ति—इस प्रकार विशेष संगठित समुदाय उत्पन्न हुए। प्रत्येक राष्ट्र में एक पृथक् राजा एक भाषा, एक धर्म और समान आर्थिक हित हो गये ऐसे ही समूह या समुदाय को राष्ट्र कहने लगे।

औद्योगिक और व्यवसायिक काल—शनैः-शनैः इस युग में यन्त्रों के आविष्कार हुए। इङ्गलैंड और दूसरे देशों में लोहे की मशीन, करघे, भाप से चलने वाले एन्जिन, पानी के जहाज़ इत्यादि दूसरी चीज़ों

का आविष्कार हुआ। इन चीज़ों के आविष्कार से भोजन-सामग्री बढ़ी। और साथ ही दुनिया के व्यापार में वृद्धि हुई। व्यापार की वृद्धि के कारण यातायात के साधन, तार, टेलीफोन, रेडियो, वायरलैस, हवाई जहाज़, बैंक, बीमा कम्पनियों आदि अनेक सुविधाओं और संस्थाओं की आवश्यकता पड़ी। समाज का संगठन बहुत पेचीदा बन गया। समान आर्थिक हितों के आधार पर अनेक संस्थाओं का जन्म हुआ। धनिक और निर्धनों का संघर्ष बढ़ने लगा।

औद्योगिक क्रान्ति के कारण, बने हुए माल को बेचने के लिये नये बाज़ारों की खोज हुई इससे बड़े-बड़े औद्योगिक राष्ट्रों में संघर्ष हुआ। सन् १६१४ और १६३६ के महान् युद्ध इसी सङ्घर्ष के उदाहरण थे। इन युद्धों में बहुत-सी पुरानी-संस्थाएँ नष्ट हो गईं। पिछले महायुद्ध के बाद योरोप में विशेषकर जर्मनी और इटली में उत्कट राष्ट्रीयता (Nazism and Fascism) का जन्म हुआ। और इसी के कारण पिछला महायुद्ध छिड़ा। इस महायुद्ध में इन पाशविक शक्तियों का तो अंत हुआ परन्तु संसार में आर्थिक संकट बढ़ गया। प्रत्येक देश में चीज़ों की क़ीमतें बढ़ गईं और भूख तथा महामारी के कारण लाखों मनुष्य मृत्यु का ग्रास बन गये। नये आर्थिक वातावरण में रूस की साम्यवादी सरकार को यूरोप के भूखे और लड़ाई से पीड़ित देशों पर अपना आधिपत्य जमाने का अच्छा अवसर मिला। परन्तु इससे अमरीका, इङ्गलैण्ड और रूस का आपसी भेदभाव और अधिक तीव्र हो गया।

आज भी यही संघर्ष हो रहा है और पता नहीं कब तीसरा महायुद्ध संसार में छिड़ जाय, समाज के संगठन की उस समय क्या कायापलट होगी इसका अभी से अनुमान नहीं किया जा सकता।

सामाजिक विकास की कुछ मुख्य विशेषताएँ

पिछले पृष्ठों में जिस सामाजिक विकास का विश्लेषण किया गया है उसके प्रधान लक्षण इस प्रकार हैं :—

विस्तार—सामाजिक जीवन एक बहुत छोटे परिमाण से आज सारे संसार में फैल गया है। मनुष्य एक आखेटक के रूप में अपने एक छोटे से दल में रहता था। आज वह सारे ससार की जाति का एक सदस्य है।

स्वभाव—प्रारंभिक समाज बिना रूपरेखा के अनियमित और असगठित दल था। इस प्रकार के प्रारंभिक समाज से बढ़कर आज मनुष्य अपने को अनेक संस्थाओं का सदस्य पाता है और उसके सामाजिक जीवन का क्षेत्र बहुत बड़ा और सङ्गठित हो गया है। इस प्रकार प्रारंभिक, असङ्गठित और सादा जीवन के विपरीत, आज का हमारा जीवन सङ्गठित और मिश्रित है।

गति—प्रारंभिक मनुष्य बहुत धीरे चल फिर सकता था। एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने के बहुत कम और कठिन साधन थे। परन्तु आज तो मनुष्य सारे संसार में सुभीता से आ-जा सकता है। इस प्रकार आज सामाजिक जीवन अन्तर्राष्ट्रीय और सार्वभौतिक बन गया है। प्रारंभ में मनुष्य अपने ग्राम में ही रह सकता था और उसे बाहर के लोगों से उसका कोई सम्बन्ध न था। आज मनुष्य विश्व-समाज का एक सभ्य नागरिक है।

आर्थिक जीवन—आधुनिक युग के उद्योग-धन्धों में भी एक भारी क्रान्ति हो गई है। आज मनुष्य को जीवन निर्वाह के लिये प्रकृति से नहीं लड़ना पड़ता और न दिन भर काम ही करना पड़ता है। प्राचीन काल की सभ्यता मानवी और पाशविक दासता पर अवलंबित थी। दिन भर काम में जुटे रहने के कारण, मनुष्य के पास स्वाध्याय आदि के लिये अवकाश नहीं बचता था। आज यन्त्र ने मनुष्य और पशु का स्थान ले

लिया है। इस कारण आज यह सम्भव है कि मनुष्य के द्वारा मनुष्य का शोषण रोका जा सके और समाज का सङ्गठन समता और न्याय के सिद्धान्तों पर किया जा सके।

स्वतंत्रता—पूर्वकाल में व्यक्ति अपने समूह से सब प्रकार से बाधित था। आज वह उस दासता से स्वतंत्र होता जा रहा है। आज मनुष्य संसार में भ्रमण करने के लिये स्वतंत्र है और क़ानूनों के द्वारा अपनी रक्षा कर सकता है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि मनुष्य को पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त हो गई है। आज भी मनुष्य पर अनेक अन्याय होते हैं और अनेक प्रतिबन्ध लगे हैं। परन्तु फिर भी मनुष्य की स्वतन्त्रता की सीमा बढ़ गई है।

सम्बन्ध का कारण—पूर्वकाल में मनुष्य के सम्बन्ध और सहयोग भोजन या निकट रक्त या विशेष स्थान पर स्थित रहने आदि के कारणों पर अवलम्बित थे। मनुष्य का मनुष्य के नाते कोई सम्बन्ध नहीं था। आज समाज अर्थात् सहयोग की भावना के कारण मनुष्य मनुष्य से मिलता-जुलता है और उसके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करता है।

सामाजिक सत्ता—आज समाज की सत्ता क़ानून है परिपाटी नहीं। पूर्व काल में समाज एक सूत्र में ईश्वर के भय से बँधा था परन्तु आज वह स्वेच्छा से मनुष्यों के सहयोग से बँधा है।

स्त्रियों की स्थिति—प्रारंभिक समाज में पुरुष ने स्त्री को सब प्रकार आधीन कर रक्खा था। पुरुष अधिक शक्तिशाली होने के कारण स्त्रियों से अपने लिए श्रम करवाता था। परन्तु आज स्त्री और पुरुष का, समता और न्याय पर, संबन्ध और सहयोग अवलबित है।

आधुनिक सामाजिक जीवन में पूर्वकाल से जो महान् अन्तर हो गए हैं उनकी गणना संक्षेप से ऊपर की जा चुकी है। आज अच्छे सामाजिक जीवन के नियमों को जानने के कारण हम जीवन को सुखी और

उन्नत बनाने की राह पर हैं। यह आधुनिक शास्त्रियों और नागरिकशास्त्र विशारदों का मत है। परन्तु निश्चित-रूप से यह कहना कि मनुष्य जीवन आज वास्तविक और स्थाई सुख और शान्ति की ओर बढ़ रहा है कठिन है।

§ ५. वर्तमान समाज का संगठन

वर्तमान समाज का स्वरूप बहुत जटिल है। इसमें कितने ही प्रकार के संगठन होते हैं जो विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न ढंगों से कार्य करते हैं। इन संगठनों की गहराइयों पर विचार करने से पहले हमें कुछ शब्दों की परिभाषाएँ समझ लेनी चाहिए। इन शब्दों का प्रयोग समाज के संगठन के वर्णन करने में किया जावेगा :—

(१) संघ (Association)

सघों का तात्पर्य मनुष्य की उन संस्थाओं से है जो समान उद्देश्य की प्राप्ति के लिए बनाए जाते हैं। संघों के निम्नलिखित आवश्यक अंग हैं :—

(१) मानव सदस्यता, (२) एक केन्द्रीय सङ्गठन, (३) उद्देश्यों का सयुक्तिकरण। इन अंगों के बिना किसी भी संघ का अस्तित्व नहीं रह सकता। हम वृक्षों या पत्थरों के समूह को संघ नहीं कह सकते। संघ के लिए दूसरी मुख्य आवश्यकता एक केन्द्रीय अनुशासन है। जिस सस्था में किसी प्रकार का अनुशासन नहीं था जिसके सदस्य किसी विधान के अनुसार कार्य नहीं करते, वह सस्था संघ नहीं कहलाई जा सकती। तमाशा देखने के लिए सड़क पर खड़ी भीड़ का हम सघ नहीं कह सकते क्योंकि उसमें किसी प्रकार का अनुशासन नहीं होता। सघ के लिए तीसरी मुख्य आवश्यकता संघ के सारे सदस्यों का एक ही उद्देश्य में विश्वास करना है। रेलगाड़ी में बैठे हुए मनुष्यों के किसी समूह को भी हम संघ नहीं कह सकते क्योंकि उनका कोई एक उद्देश्य नहीं होता। कोई मनुष्य एक जगह जाना चाहता है तो दूसरा कहीं और। इस प्रकार हम देखते हैं कि

मनुष्यों के किसी समुदाय को संघ कहने के लिए अनुशासन और आदर्श के एकीकरण की मुख्य आवश्यकता है।

(२) जाति (Community)

मेकलेवर के कथनानुसार जाति मनुष्यों के किसी समूचे भाग जैसे गाँव, नगर या देश को कहते हैं। किसी भी मनुष्य-समुदाय को जाति कहने के लिए आवश्यक है कि लोग एक साथ रहते हों और जीवन की विभिन्न अवस्थाओं में एक दूसरे के सम्पर्क में आते हों। जाति में कुछ विशेषताएँ होती हैं जैसे सामाजिक एकता, समान रीति-रिवाज, समान जनश्रुतियाँ, समानता की भावना, इत्यादि। इस प्रकार जाति में मनुष्यों के वे समुदाय सम्मिलित होते हैं जो एक ही पड़ोस में रहते हों और जिनके आर्थिक, सांस्कृतिक, धार्मिक या भाषा-सम्बन्धी समान उद्देश्य हों। दूसरे शब्दों में जाति के अनेक स्वरूप होते हैं जैसे ग्राम-जाति, नगर-जाति, राष्ट्र-जाति अथवा वैश्य-जाति, ब्राह्मण-जाति, हिन्दू-जाति, मुसलिम-जाति, इत्यादि।

(३) संस्थाएँ (Institutions)

मेकलेवर के कथनानुसार संस्थाएँ मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्धों को एक व्यवस्थित रूप देने के साधन हैं। वह संस्थाएँ उन प्रथाओं, रूढ़ियों और रीति-रिवाज के रूप में विद्यमान रहती हैं जो सामाजिक जीवन के व्यवस्थित यंत्रों का कार्य करती हैं। उनका जन्म विशेष प्रकार के संगठनों या पुराने रीति रिवाजों के आधार पर होता है। संस्थाओं के अनेक रूप होते हैं जैसे विवाह-पद्धति कानून, दण्ड, जाति प्रथा, अस्पृश्यता, विधवा-पन इत्यादि। इस प्रकार संस्था केवल सम्बन्ध का एक रूप है और संगठन मनुष्यों का एक समूह।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वर्तमान समाज में सङ्घ और जातियाँ सम्मिलित रहती हैं और समाज का नियंत्रण संस्थाएँ करती हैं। इन

सामाजिक सङ्गठनों के प्रत्येक अंग का वर्णन अगले अध्यायों में विस्तृत रूप से किया जायेगा।

योग्यता-प्रश्न

१. 'मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है,' इस कथन की व्याख्या कीजिए। (यू० पी०, १९३६)

२. 'स्वभाव और आवश्यकता से मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है,' उदाहरण देते हुए इस कथन की स्पष्ट व्याख्या कीजिए (यू० पी०, १९४०)

३. समाज के सदस्य बनने के कौन-कौन से लाभ हैं?

४. 'समाज' इस शब्द से आप क्या समझते हैं? संघ, जाति और संस्था से इसमें क्या भिन्नता है? (यू० पी०, १९३८)

५. 'सहयोग जीवन का मुख्य आधार है' आलोचना कीजिए। (यू० पी०, १९२८)

६. समाज के स्वरूप की व्याख्या कीजिये और बताइये कि यह सभ्यता के लिये क्यों आवश्यक है?

७. समाज के स्वरूप के विषय में भिन्न-भिन्न सिद्धान्त कौन हैं? आपकी सम्मति में व्यक्ति और समाज का वास्तविक सम्बंध क्या है?

८. 'क्या समाज एक उद्देश्य अथवा एक साधन अथवा दोनों है।' इस कथनपर विचार कीजिए।

९. 'व्यक्ति सामाजिक जीवन का अंतिम उद्देश्य है, समाज नहीं,' प्रोफेसर मैक्टेगर्ट के इस कथन की व्याख्या कीजिए। (यू० पी०, १९२९)

१०. समाज की उत्पत्ति के विषय में विविध सिद्धांतों का वर्णन कीजिए और उनकी आलोचना कीजिए। (यू० पी०, १९३२)

११. उन भिन्न-भिन्न दशाओं का वर्णन कीजिए जिनमें समाज का विकास हुआ है।

तीसरा अध्याय

मनुष्य और उसके संघ

वर्तमान समाज की सबसे बड़ी उल्लेखनीय विशेषता यह है कि उसमें कितने ही प्रकार के सङ्घ विद्यमान होते हैं। यदि हम अपने आसपास के सामाजिक जीवन पर दृष्टि डालें तो हमें कितने ही सङ्घ दिखलायी पड़ेंगे। इन सङ्घों का निर्माण मनुष्य अपनी प्रतिदिन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए करते हैं। मनुष्य समाज में अकेला रहकर कुछ भी नहीं कर सकता, उसे अपनी प्रत्येक आवश्यकता की पूर्ति के लिए दूसरों के सहयोग की आवश्यकता पड़ती है। बहुत से मनुष्य जब एक ही उद्देश्य की प्राप्ति के लिए किसी नियंत्रण में बँधकर एक साथ काम करते हैं तो वे एक सङ्घ के सदस्य कहलाते हैं। सङ्घों के कितने ही प्रकार होते हैं। यदि कुछ सङ्घ मनुष्य की धार्मिक भावना की तृप्ति के लिए बनाए जाते हैं तो दूसरे उसकी सांस्कृतिक और मानसिक उन्नति के लिए। कुछ सङ्घ यदि मनुष्य की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए स्थापित होते हैं तो कुछ और उसकी शारीरिक उन्नति के लिए। कुछ सङ्घों का जन्म यदि मनुष्य के मनोरंजन के लिए होता है तो दूसरों का उसकी राजनैतिक प्रवृत्ति की सन्तुष्टि के लिए। सङ्घों का आकार और विस्तार भी इसी प्रकार अलग-अलग होता है। कुछ सङ्घ स्थायी होते हैं तो दूसरे अस्थायी। कुछ सङ्घों का संगठन सादा होता है तो दूसरों का अत्यन्त जटिल। कुछ सङ्घों का क्षेत्र अत्यन्त संकुचित होता है तो दूसरों का संसार-व्यापी।

संघों की आवश्यकता

प्रश्न यह उठता है कि मनुष्य के लिए सङ्घों का सदस्य होना क्यों आवश्यक है। इस प्रश्न के उत्तर में अनेक कारण दिये जाते हैं। इनमें से कुछ कारण तो ऐसे हैं जो सभी सङ्घों पर समानरूप से लागू होते हैं और कुछ ऐसे जो केवल विशेष प्रकार के सङ्घों पर ही लागू होते हैं।

(१) **संघ के द्वारा व्यक्तित्व की उन्नति होती है**—किसी व्यक्ति के सङ्घ का सदस्य होने का सर्वप्रथम कारण यह है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसका जन्म संसार में इसलिए होता है कि वह अपने व्यक्तित्व का अधिक से अधिक विकास कर सके। यह सब उसी दशा में सम्भव हो सकता है जब मनुष्य विभिन्न संस्थाओं का सदस्य हो। प्रत्येक सङ्गठन का अपना अलग एक उद्देश्य होता है। किसी भी एक सङ्गठन के सदस्य बनने से मनुष्य हर प्रकार की उन्नति नहीं कर सकता। इसीलिए हमारे सामाजिक जीवन में कई प्रकार के सङ्गठनों की आवश्यकता होती है। सामाजिक जीवन में जितनी ही अधिक संस्थाएँ होंगी, मनुष्य का सामाजिक जीवन उतना ही अधिक सम्पन्न हो सकेगा।

(२) **संघ के द्वारा अधिक से अधिक सफलता प्राप्त हो सकती है**—संगठन के द्वारा उसके सदस्यों को अधिक सफलता मिलने की सम्भावना रहती है। यदि व्यक्ति संगठन के सदस्य न रहकर स्वतन्त्र रूप से काम करें तो उन्हें मनोवांछित सफलता प्राप्त नहीं हो सकती। सङ्गठन के द्वारा व्यवस्थित और सङ्गठित प्रयत्न किए जा सकते हैं। एक अव्यवस्थित जनसमूह अधिक सफलता प्राप्त नहीं कर सकता क्योंकि उसकी शक्ति का बहुत सा भाग व्यर्थ नष्ट हो जाता है। ऐसी दशा में एक सदस्य ऐसा काम कर सकता है जिसे दूसरा भी कर रहा हो, इसके अतिरिक्त कुछ सदस्य ऐसे भी काम कर सकते हैं जो समूचे जनसमाज के लिए व्यर्थ सिद्ध हों। अन्त में नेता और नेतृत्व के अभाव के कारण सभी व्यक्ति नेता बनने

की चेष्टा करते है और इस प्रकार कोई भी काम नहीं हो पाता। इसी कारण से यह कहा जाता है कि 'प्रत्येक व्यक्ति का कार्य किसी भी व्यक्ति का कार्य नहीं होता'। जनसमूह के व्यवस्थित होने पर यह दोष उत्पन्न नहीं होते। व्यवस्था हो जाने पर अलग-अलग सदस्यों के काम का इस तरह विभाजन कर दिया जाता है कि उससे एक ही काम को बहुत से लोगों के करने की संभावना बिल्कुल मिट जाती है और सारा काम बहुत आसानी से, थोड़े से थोड़े समय में, और कम से कम प्रयत्न से पूरा हो जाता है।

(३) **संघों से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित होता है**—मनुष्य संस्थाओं के सदस्य इसलिए भी बनते हैं कि वे एक दूसरे के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित कर सकें। साधारणतया मनुष्यों की आपस में उस समय तक कोई घनिष्ठता या मित्रता नहीं होती जब तक वह अपने साथियों के साथ किसी विशेष उद्देश्य की प्राप्ति के लिये मिलकर नित्यप्रति काम न करें। सङ्घ के सदस्यों में इस प्रकार कार्य करने का अवसर मिलता है और फलस्वरूप एक दूसरे के घनिष्ठ मित्र बन जाते हैं।

(४) **संघों के द्वारा मनुष्य सामाजिक विषयों पर सम्मति निश्चित कर सकते हैं**—मनुष्य सङ्घों के सदस्य इसलिए भी बनते हैं कि वे उन विषयों पर विचार विनिमय कर सकें जिनका उन पर समान रूप से प्रभाव पड़ता है। सङ्गठन में एक मस्तिष्क का दूसरे मस्तिष्क से सम्बन्ध और संघर्ष होता है और इससे नये विचार उत्पन्न होते हैं। यदि ऐसा न हो तो ये विचार प्रसुप्तावस्था में ही पड़े रहें। दूसरे शब्दों में सङ्गठनों के द्वारा उनके सदस्यों को अपनी मानसिक उन्नति करने के बहुत से अवसर मिलते हैं।

(५) **संघ सदस्यों के अधिकारों की रक्षा करते हैं**—अन्त में संघ अपने सदस्यों के लिए एक इस प्रकार का भवन निर्माण करते हैं जिसके अन्दर वे सामाजिक और स्वभाविक आपत्तियों से उनकी रक्षा

कर सकें। वर्तमान समय में मनुष्य मानव-समाज रूपी समुद्र में अपने आप को एक बूँद के समान पाते हैं। वह इस वातावरण में अपने आप को बिल्कुल शक्ति-हीन समझते हैं। संगठन उन्हें शक्ति का भाव प्रदान करता है और अकारण होने वाले आक्रमणों से उसकी रक्षा करता है। एक मज़दूर उस समय तक मिलमालिकों से अपना वेतन नहीं बढ़वा सकता जब तक वह अपने साथियों की किसी सुसंगठित संस्था का सदस्य न हो। इसी प्रकार एक ताँगेवाला पुलिस कान्स्टेबल के ज़ुल्म से उस समय तक अपनी रक्षा नहीं कर सकता जब तक वह अपने साथियों से मिलकर अपनी कोई यूनियन नहीं बना लेता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक काल में सङ्घ मनुष्य की रक्षा और उसकी उन्नति दोनों के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। वह मनुष्य की ढाल और तलवार दोनों का काम करते हैं।

संघों का वर्गीकरण

जैसा पहले कहा जा चुका है, सङ्घ अनेक प्रकार के होते हैं, उनका क्षेत्र, आकार और उद्देश्य भिन्न-भिन्न होते हैं। इसलिए सङ्घों का किसी एक सिद्धान्त पर वर्गीकरण नहीं हो सकता। इस वर्गीकरण के लिए हमें निम्नलिखित आधार अपनाने पड़ते हैं :—

(१) संघों की अवधि; (२) सदस्यता; (३) उद्देश्य और (४) अधिकार।

(१) अवधि—अवधि के आधार पर संघ अस्थायी या स्थायी कहे जा सकते हैं।

(क) अस्थायी संघ—अस्थायी संघ ऐसी संस्थाओं को कहते हैं जो किसी विशेष आयोजन से किसी विशेष परिस्थिति में पैदा होती हैं और अपना कार्य करने के पश्चात् समाप्त हो जाती हैं। अकाल के समय भूख से पीड़ित जनता की रक्षा के लिए बनाई गई संस्थाएँ या किसी

कवि सम्मेलन या धार्मिक सम्मेलन को करने के लिए बनाई गई सभाएँ या समितियाँ इस प्रकार की अस्थायी संस्थाएँ कहलाती हैं।

(ख) **स्थायी सघ**—अस्थायी सङ्घों के विपरीत कुछ ऐसे सङ्घ होते हैं जिनकी उपयोगिता सदा बनी रहती है। इस प्रकार की संस्थाओं में हम शिक्षा सम्बन्धी सङ्घ, सेवासमिति, राज्य आदि को सम्मिलित कर सकते हैं। इस प्रकार की संस्थाएँ कभी नष्ट नहीं होतीं और यह सर्वदा अपना कार्य करती रहती हैं।

(२) **सदस्यता**—सदस्यता के आधार पर संघों के दो समूह किए जा सकते हैं—(क) **स्वाभाविक या आवश्यकीय** और (ख) **कृत्रिम या ऐच्छिक**।

(क) **स्वाभाविक या आवश्यकीय संघ**—ऐसी संस्थाओं को कहते हैं जिनका प्रत्येक मनुष्य को सदस्य होना आवश्यक है। इन संघों की सदस्यता मनुष्य की इच्छा पर निर्भर नहीं होती। इच्छा न होने पर भी इन सङ्घों की सदस्यता प्रत्येक मनुष्य को स्वीकार करनी पड़ती है। ऐसी संस्थाओं में कुटुम्ब, जाति और राज्य आदि सम्मिलित हैं। कोई भी मनुष्य इन संस्थाओं को त्याग कर जीवित नहीं रह सकता।

(ख) **ऐच्छिक या कृत्रिम संघ**—समाज के प्रत्येक व्यक्ति के लिए प्रत्येक सामाजिक सङ्घ का सदस्य बनना आवश्यक नहीं। बहुत से सङ्घ मनुष्य अपनी स्वतन्त्र इच्छा से बनाता है और अपनी स्वतन्त्र इच्छा से ही वह उनका सदस्य रहता है। उन सङ्घों को यदि मनुष्य चाहे तो छोड़ भी सकता है। इस प्रकार के सङ्घ, कुटुम्ब और राज्य की तरह, मनुष्य के लिए अनिवार्य तो नहीं, परन्तु वह मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास में सहायक सिद्ध होते हैं। इस प्रकार के सङ्घों में हम धार्मिक और राजनैतिक संस्थाओं, आर्थिक संगठनों, मनोरंजन सम्बन्धी सभाओं,

शिक्षा-परिषद्, नाटक-मडली और इसी प्रकार की दूसरी संस्थाओं को सम्मिलित कर सकते हैं।

(३) उद्देश्य—उपर्युक्त आधारों के अतिरिक्त सङ्घों का वर्गीकरण उद्देश्यों के आधार पर भी किया जाता है। मनुष्य अपने समान हित और उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए अनेक सङ्घ बनाते हैं। व्यक्ति की इच्छाएँ असंख्य होती हैं, इसीलिए सङ्घों की गणना करना भी असम्भव है। परन्तु फिर भी मुख्यतया हम सङ्घों को निम्नलिखित भागों में बाँट सकते हैं :—

(१) रक्त सम्बन्धी संघ (Biological)
(२) आर्थिक संघ (Economical)
(३) सांस्कृतिक सङ्घ (Cultural)
(४) परोपकारी सङ्घ (Philanthropical)
(५) राजनैतिक सङ्घ (Political)
(६) धार्मिक सङ्घ (Religious)
(७) सुधारवादी-सङ्घ (Reformatory)
(८) मनोरंजनार्थ सङ्घ (Recreational)

(१) रक्त सम्बन्धी सङ्घ—रक्त सम्बन्धी सङ्घों में सबसे मुख्य स्थान कुटुम्ब को प्राप्त है। कुटुम्ब सामाजिक जीवन का सबसे पहिला संगठित रूप है। इस कारण कुटुम्ब के विस्तृत अध्ययन की आवश्यकता है और यह अध्ययन हम अगले अध्याय में करेंगे।

(२) आर्थिक सङ्घ—आर्थिक सङ्घ हम ऐसी संस्थाओं को कहते हैं जो अपने सदस्यों के आर्थिक हितों की विशेष रूप से रक्षा करती हैं। मज़दूरों की ट्रेड यूनियन, मिल मालिकों के संगठन, चैम्बर आफ कामर्स, वकील, शिक्षक और डाक्टरों की सभाएँ, टाँगे और ठेलेवालों की यूनीयन, इसी प्रकार के आर्थिक सङ्घों के उदाहरण हैं। इन संस्थाओं

का मुख्य कार्य अपने सदस्यों के आर्थिक हितों के लिए लड़ना और उनकी औद्योगिक और सामाजिक उन्नति करना है। आर्थिक संस्थाएँ अपने सदस्यों में भ्रातृभाव और कार्य के प्रति दक्षता का भाव भी उत्पन्न करती हैं। यदि यह संस्थाए योग्य व्यक्तियों द्वारा संचलित हो तो इनसे समाज को अत्यन्त लाभ होता है, राष्ट्र की सम्पत्ति बढ़ती है और देश शक्तिशाली बनता है। परन्तु यदि इन्हीं सस्थाओं का नेतृत्व स्वार्थी और अयोग्य व्यकितयों के हाथ में चला जाय तो इससे देश की उन्नति और उसकी शान्ति तथा सुव्यवस्था को भारी धक्का पहुँचता है। आर्थिक संस्थाओं पर इसलिए किसी न किसी प्रकार का सरकारी नियंत्रण अवश्य रहना चाहिए जिससे इन संस्थाओं के अयोग्य व्यक्तियों के हाथ में चली जाने पर वह हड़ताल आदि कराके देश की उत्पादन शक्ति को नष्ट और समाज के आर्थिक जीवन को अस्त-व्यस्त न करने पावें।

आर्थिक संस्थाएँ स्थानीय, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय हो सकती हैं। धोबी, नाई या इसी प्रकार के छोटा पेशा करने वाले कारीगरों की संस्थाएँ अधिकतर स्थानीय होती हैं। पढ़े लिखे और कुछ उच्चश्रेणी के व्यवसाय करने वाले लोगों की सस्थाएँ अधिकतर राष्ट्रीय होती हैं। इनके अतिरिक्त कई संस्थाएँ अन्तर्राष्ट्रीय भी होती हैं जैसे वर्ल्ड फेडरेशन आफ ट्रेड यूनियन्स, इण्टरनैशनल लेबर आर्गेनाइजेशन्स, इत्यादि। वर्तमान समाज में इन आर्थिक संस्थाओं का महत्व बहुत अधिक व्यापक होता जाता है।

आर्थिक सङ्घों के अन्तर्गत कभी-कभी एक ही पेशा करने वाले व्यकित अपनी एक अलग संस्था बना लेते हैं. ऐसी संस्था को हम पेशे सम्बन्धी सङ्घ कह सकते हैं। लुहारों, जुलाहों, सुनारों, चमारों, धोबियों, अध्यापकों, वकीलों, पत्रकारों, कपड़े के व्यापारियों, आड़तियों आदि की संस्थाएँ इस प्रकार के संघों के उदाहरण हैं। आर्थिक सङ्घों में यह आवश्यक नहीं कि उनमें एक ही प्रकार के पेशे वाले लोग सम्मिलित हों। आर्थिक सङ्घ का अर्थ है कोई भी इस प्रकार की

संस्था जो समान आर्थिक हित रखने वाले सदस्यों की रक्षा करे। मिल मालिकों या मज़दूरों के संघ में कपड़े, सन, लोहे, रबड़, चीनी और दूसरे किसी प्रकार के कारखानों के मालिक या उनमें काम करने वाले मज़दूर सम्मिलित हो सकते हैं। बहुत-सी बातों में इन लोगों के आर्थिक हित एक से ही होते हैं और ऐसी मिली-जुली आर्थिक संस्थाएँ इसी प्रकार के अपने सदस्यों के आर्थिक हितों की रक्षा करती हैं। पेशे सम्बन्धी संघों में सदस्यों के बीच अधिक घनिष्ठता का भाव रहता है और वे अपने पेशे की उन्नति के लिए विभिन्न योजनाओं पर विचार कर सकते हैं। पेशों से सम्बन्ध रखने वाले संघों पर भी सरकारी नियंत्रण की उतनी ही आवश्यकता है जितनी आर्थिक संस्थाओं पर।

(३) **सांस्कृतिक संघ**—सांस्कृतिक संघ उन संगठनों को कहते हैं जो अपने सदस्यों और समूचे समाज की संस्कृति की उन्नति के लिए व्यवस्थित किये जाते हैं। इन संघों में सबसे प्रधान विश्वविद्यालय, कालेज और स्कूल है। इन संस्थाओं का उद्देश्य नागरिकों को शिक्षित बनाना तथा समाज में ज्ञान की वृद्धि करना है। स्कूल और कालेजों के अन्तर्गत कुछ दूसरे संघ भी होते हैं जैसे इतिहास परिषद् (Historical Association), विज्ञान परिषद् (Scientific Association) इत्यादि। इन संघों का उद्देश्य भी अपने विशेष क्षेत्र में ज्ञान की वृद्धि करना होता है। शिक्षा-सम्बन्धी संस्थाओं के अतिरिक्त दूसरे सांस्कृतिक संघ भी होते हैं जैसे साहित्यिक और अनुसंधान सम्बन्धी संस्थाएँ. सार्वजनिक पुस्तकालय, अजायबघर साहित्यिक, सम्मेलन और कलाकेन्द्र, इत्यादि जिनका उद्देश्य भी वही होता है जो स्कूलों और कालेजों का। यह सब संस्थाएँ साहित्य, कला, इतिहास, दर्शन तथा दूसरे विज्ञानों की उन्नति करती है।

(४) **परोपकारी संघ**—परोपकारी संघों में ऐसी संस्थाएँ सम्मिलित

हैं जिनकी व्यवस्था विशेष रूप से लूले-लँगड़े, निराश्रित और बेकार लोगों की सहायता के लिए की जाती हैं। विधवाश्रम, अनाथालय, सेवासमिति आदि इस प्रकार के संघों के उदाहरण हैं।

(५) राजनैतिक सघ—राजनैतिक संघों के अन्तर्गत हम दो प्रकार के संघों का वर्णन कर सकते हैं—एक राज्य और दूसरे राजनैतिक दल। राज्य या स्टेट (State) सबसे बड़ा संघ है जो समाज के दूसरे सारे सङ्घों के जीवन को सुव्यवस्थित रखता है। समाज में सुख-शान्ति और ठीक प्रकार की व्यवस्था रखना राज्य का मुख्य कार्य होता है। राज्य के बिना समाज का जीवन नहीं चल सकता और ना ही समाज में सङ्घों का अस्तित्व ही स्थिर रह सकता है। इसलिए राज्य भी दूसरे सङ्घों की भाँति समाज का अंग ही है। अन्तर केवल इतना है कि दूसरे संघों से राज्य अधिक शक्तिशाली और महत्वपूर्ण होता है।

राज्य के अतिरिक्त राजनैतिक दलों को भी हम राजनैतिक संघ कह सकते हैं। इन दलों का मुख्य कार्य चुनाव के द्वारा राज्य पर अधिकार करना और देश के शासन को चलाना होता है। हमारे देश में कांग्रेस, समाजवादी दल, किसान सभाएँ इत्यादि इस प्रकार के राजनैतिक संघों के उदाहरण हैं।

(६) धार्मिक संघ—एक ही धर्म या सम्प्रदाय में विश्वास रखने वाले लोग कभी-कभी अपना एक अलग धार्मिक संघ बना लेते हैं। इस प्रकार के संघों का मुख्य उद्देश्य अपने सदस्यों को धार्मिक शिक्षा देना, उनमें धार्मिक साहित्य का प्रचार करना, पूजा के स्थानों की रक्षा तथा व्यवस्था करना और अपने धर्मावलम्बियों के अधिकारों की रक्षा करना होता है। प्रत्येक सभ्य समाज में धार्मिक संस्थाओं का एक बहुत ऊँचा स्थान होता है। धर्म मनुष्य को सांसारिक वस्तुओं से परे अध्यात्मवाद की ओर ले जाता है। वह मनुष्य के अन्दर से छल-कपट, द्वेष, प्रतिस्पर्धा,

लोभ, मोह और इसी प्रकार के दूसरे दुर्गुणों का नाश करके उसको एक आदर्श मनुष्य और समाज का उपयोगी नागरिक बनना सिखाता है। धार्मिक सङ्घ अपने सदस्यों में दया, धर्म और ईश्वर के प्रति श्रद्धा का भाव उत्पन्न करते हैं। वह मनुष्य को बतलाते हैं कि इस सांसारिक जीवन से परे भी एक जीवन है जिसे पारलौकिक जीवन कहते हैं और व्यक्ति को सांसारिक झमेलों में पड़ कर उस आनन्दमयी जीवन को नहीं भुला देना चाहिये।

यदि धार्मिक संघ सच्ची धार्मिक भावना का ही मनुष्यों के बीच प्रचार करें और व्यर्थ के पाखण्डों और ढकोसलों में न पड़ें तो वह समाज की बहुमूल्य सेवा कर सकते हैं। परन्तु हम देखते हैं कि आजकल के धार्मिक संघ समाज में पवित्रता का नहीं, वरन् दुष्टता और धृष्टता का प्रचार करते हैं। धर्म के नाम पर संसार भर की सामाजिक कुरीतियों का प्रचार किया जाता है, धर्म के पण्डित पीड़ित और दुखी जनता को अपने अत्याचारियों के नीचे पिसते रहने का आदेश देते हैं, वह राजनीति के क्षेत्र में धर्म की दुहाई देकर पदार्पण करना चाहते हैं, समाज में प्रगतिशील विचारों के प्रचार में रुकावट डालते हैं और मनुष्य के मस्तिष्क को रूढ़िवादी विचारों में ढालना चाहते हैं। आज धर्म के नाम पर अनेक प्रकार के व्यभिचारों का प्रचार किया जाता है। धर्म आज समाज का रक्षक नहीं, उसका भक्षक बन गया है। जो धर्म मनुष्य में दया, सहिष्णुता, प्रेम, बलिदान और सेवा की भावना जाग्रत करने के लिये जन्मा था, आज उसी धर्म के नाम पर निरपराधी मनुष्यों का ख़ून और अबलाओं और बच्चों का अपहरण सिखाया जाता है। धर्म से आज प्रेम का नहीं, वरन् घृणा का प्रचार किया जाता है। भारतवर्ष संसार के सामने सदा धार्मिकता और अध्यात्मवाद की डींग मारता रहा है, परन्तु आधुनिक वातावरण में क्या हम कह सकते हैं कि धर्म में हमारी लेशमात्र भी श्रद्धा है। धर्म के नाम पर आज भारतवर्ष में छूआछूत, विधवापन, देवदासी-

प्रथा, पशुबलि, पर्दाप्रथा आदि का प्रचार किया जाता है। भारत में ही नहीं, दूसरे देशों में भी मध्यकाल में धर्म के नाम पर क्या-क्या अत्याचार नहीं किए गए ?

धार्मिक संस्थाओं पर इन्हीं सब कारणों से सरकारी नियन्त्रण अवश्य रहना चाहिये जिससे सरकार यह देख सके कि धर्म के नाम पर कहीं समाज के भोले-भाले व्यक्तियों को पथ-भ्रष्ट तो नहीं किया जाता, कहीं धर्म के ठेकेदार राजनीति के वातावरण को दूषित तो नहीं करते और कहीं वे समाज में अत्याचार की भावना का प्रचार तो नहीं करते ? धार्मिक संस्थाओं का वास्तविक क्षेत्र आध्यात्मिक है और इसी क्षेत्र में उन्हें कार्य करना चाहिए।

(७) **सुधारवादी संघ**—सुधारवादी सङ्घ वे हैं जिनकी व्यवस्था उन लोगों के द्वारा की जाती है जो समाज से कुरीतियों को हटाने की आवश्यकता पर समानरूप से विश्वास रखते हैं। भारतवर्ष में इस प्रकार के सङ्घों के उदाहरण 'हरिजन-सेवक सङ्घ,' 'जात-पात-तोड़क-मंडल,' 'बाल-विवाह-निवारक-समिति,' 'विधवा-विवाह-प्रचारक-सभा' इत्यादि हैं। इस प्रकार के सङ्घ सामाजिक जीवन के लिये आवश्यक और महत्वपूर्ण हैं। वे समाज के लिए वही काम करते हैं जो शारीरिक स्वास्थ्य के लिए डाक्टर करते हैं। इनका उद्देश्य सामाजिक बीमारी को दूर-कर उसके स्वास्थ्य को सुधारना है। प्रायः समाज में पुरानी संस्थाएँ अपने अच्छे इतिहास के कारण एक पवित्रता का रूप धारण कर लेती हैं और समाज के अधिकतर लोग पुरातनवादी होने के कारण उन संस्थाओं को बदलना नहीं चाहते। सुधारवादी संघ समाज की इस प्रसुप्तावस्था में जागृति उत्पन्न करते हैं और सामाजिक कुरीतियों और अन्यायों को मिटाने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु सुधारवादी सङ्घों को एक बात कभी नहीं भूलनी चाहिए और वह यह कि प्रत्येक सुधार का समाज पर स्थायी असर डालने के लिए यह आवश्यक है कि जनता को सुधार के

लिए ठीक प्रकार की शिक्षा देकर तैयार किया जाय। किसी भी सुधार को जनता पर बलपूर्वक नहीं थोपना चाहिए। ऐसा करने से लाभ नहीं, हानि ही होती है और सुधार का उद्देश्य नष्ट हो जाता है।

(८) **मनोरंजनार्थ संघ**—मनोरंजन सम्बन्धी सङ्घ वे हैं जो अपने सदस्यों के मनोरंजन के लिए स्थापित किए जाते हैं। नाटक-मंडली, सिनेमा, थिएटर, रेडियो, खेल-कूद के क्लब आदि इसी प्रकार की संस्थाओं के उदाहरण हैं। सामाजिक-जीवन को आनन्दमय बनाने के लिए इन सङ्घों की विशेष आवश्यकता रहती है। इनके द्वारा मनुष्य को जीवन में आनन्द और उल्लास की प्राप्ति होती है। ये, निरन्तर कार्य करने से थके हुए व्यक्तियों को विराम और शान्ति प्रदान करते हैं और उनकी थकावट और चिन्ताओं को दूर करते हैं। इस प्रकार के सङ्घों के वातावरण में आकर मनुष्य संसार की सारी चिन्ताओं और कष्टों को भूल जाते हैं और अपनी आत्मा के आनन्द के स्रोत का स्पर्श करते हैं। परन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि सभी मनोरंजन-सम्बन्धी संस्थाएँ समाज की सेवा नहीं कर सकतीं, बहुत सी संस्थाएँ जैसे जुआघर, शराबखाने आदि मनुष्य को अधःपतन और अनाचार की ओर ले जाती हैं। इस प्रकार की संस्थाओं को जड़ से नष्ट कर देना चाहिए ताकि वे मनुष्य के सामाजिक जीवन को दूषित न कर सकें।

(४) **अधिकार**—अधिकार के आधार पर सङ्घों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जाता है—(१) **सार्वभौमिक** (Sovereign), (२) **अर्धसार्वभौमिक** (Semi-sovereign) और (३) **असार्वभौमिक** (Non-sovereign)।

(१) **सार्वभौमिक संघ**—ऐसी संस्थाओं को कहा जाता है जो अपने सदस्यों पर पूर्णरूपेण अधिकार रखती हैं, अपनी आज्ञा का बलपूर्वक पालन करा सकती हैं और अपने सदस्यों को हर प्रकार का दण्ड भी दे

सकती हैं। इस प्रकार का सङ्घ केवल राज्य ही हो सकता है, दूसरी कोई संस्था नहीं।

(२) **अर्धसार्वभौमिक संघ**—वे संगठन हैं जिन्हें सार्वभौमिकता के पूरे नहीं, थोड़े से अधिकार प्राप्त हों। ऐसे सङ्घों में हम म्युनिसिपल बोर्ड, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड, आदि के नाम ले सकते हैं।

(३) **असार्वभौमिक संघ**—वे सङ्गठन हैं जिन्हें किसी प्रकार के भी अधिकार प्राप्त नहीं होते। वे केवल प्रार्थना और अपनी सेवा के द्वारा ही अपने सदस्यों से अपनी आज्ञा का पालन करा सकते हैं। इस प्रकार के सङ्घों में हम धार्मिक, सांस्कृतिक, सुधारवादी और मनोरंजन-सम्बन्धी सङ्घों के नाम ले सकते हैं।

भिन्न-भिन्न संघों के प्रति नागरिकों के कर्तव्य

मनुष्य के सामाजिक जीवन में सङ्घों का जो विशेष स्थान है और उनसे व्यक्ति के जीवन की सफलता में जो विशेष सहायता मिलती है इन सभी बातों का वर्णन हम इसी अध्याय के पिछले पृष्ठों में कर चुके हैं। सङ्घ मनुष्य की जीवनयात्रा में मार्ग प्रदर्शन का कार्य करते हैं। और उनके व्यक्तित्व के विकास में सहायक बनकर मनुष्य के सामाजिक जीवन को अधिक सम्पन्न और समृद्धिशाली बनाते हैं। सङ्घों की इन सेवाओं के बदले मनुष्य के उनके प्रति कुछ कर्तव्य भी हैं। उदाहरणार्थ प्रत्येक व्यक्ति का धर्म है कि वह उन संस्थाओं की आज्ञाओं का पूर्णरूप से पालन करे जिनका वह सदस्य है, उनके अधिवेशनों में सम्मिलित हो और उनकी तन, मन, धन से सहायता करे।

परन्तु इन सब बातों का यह आशय कदापि नहीं कि कोई एक सङ्घ अपने सदस्यों से जो चाहे करा सकता है। इस प्रकार का अधिकार तो केवल राज्य (State) को ही । समाज के दूसरे सङ्घ तो अपने सदस्यों से केवल एक विशेष प्रकार के कर्तव्यों का ही पालन करा सकते

हैं। वह यह आशा कदापि नहीं रख सकते कि उनके सदस्य उनको छोड़कर किसी दूसरे सङ्घ के सदस्य न बनें या उनके प्रति अपने कर्तव्यों का पालन न करें। कोई एक सङ्घ व्यक्ति की पूर्णरूपेण उन्नति या उसका विकास नहीं कर सकता और इसी कारण वह यह आशा नहीं कर सकता कि उसका सदस्य दूसरे किसी और संघ में सम्मिलित न हो या उसके प्रति अपने कर्तव्यों का पालन न करे। एक संघ मनुष्य-जीवन की केवल एक ही भावना को सन्तुष्ट करता है। इसलिए मनुष्य को अपने व्यक्तित्व का पूर्णरूप से विकास करने के लिए अनेक संघों का सदस्य बनना पड़ता है।

कई बार ऐसा देखने में आता है कि मनुष्य का एक संघ और दूसरे संघ के प्रति जो कर्तव्य है उसमें संघर्ष पैदा हो जाता है। ऐसी दशा में मनुष्य को चाहिए कि वह अपने स्वार्थ और हित के विचार को त्यागकर यह देखने का प्रयत्न करे कि सामाजिक भलाई किस संघ के प्रति अपना कर्तव्य पूर्ण करने में है। एक तुच्छ हित की पूर्ति के लिए हमें समाज के बड़े हित का त्याग नहीं करना चाहिए। वास्तव में असली नागरिक वही है जो भिन्न-भिन्न संस्थाओं के प्रति अपने कर्तव्यों का समन्वय करना जानते हैं। अँग्रेजी में एक कहावत प्रसिद्ध है—"Citizenship consists in the right ordering of loyalties." इसका अर्थ यही है कि सच्ची नागरिकता अपने अनेक कर्तव्यों का सामंजस्य कराने में ही होती है। वास्तव में मनुष्य की भिन्न-भिन्न संस्थाओं का एक ही उद्देश्य और एक ही हित होता है और वह यह कि व्यक्ति और समाज की अधिक से अधिक उन्नति हो। समाज के भिन्न-भिन्न संघों में इस कारण किसी प्रकार के संघर्ष का प्रश्न ही नहीं उठता है। जो विरोध हमें वाह्यरूप से दिखाई देता है वह हमारी अज्ञानता के ही कारण है।

योग्यता-प्रश्न

१. उन संघों के मुख्य भेदों का वर्णन कीजिये जिनमें एक आधुनिक जाति अपना संगठन करती है। (यू० पी०, १९४१, १९४२)

२. मनुष्य के लिये संघों में रहना क्यों आवश्यक है? एक सामाजिक क्लब, व्यायाम-संघ और राज्य के कार्यों के पारस्परिक भेद को आप कैसे स्पष्ट करेंगे? (यू० पी०, १९३३)

३. आप संघों का वर्गीकरण कैसे करेंगे? विभिन्न संघों के कार्यों का संक्षेप से वर्णन कीजिये। (यू० पी०, १९४३)

४. मनुष्य के सामाजिक जीवन में संघों का कौन-सा स्थान है?

५. इन पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिये :—
(१) अनिवार्य संघ, (२) अस्थायी संघ, (३) सुधारक संघ, (४) रक्त सम्बन्धी संघ।

६. बताइये कि मनुष्य के सामाजिक जीवन में सांस्कृतिक और धार्मिक संघों का क्या महत्त्व है?

७. समाज में सुधारवादी संघों का क्या महत्त्व है? वे सामाजिक जीवन की गति-विधि में किस प्रकार सुधार करते हैं?

८. अधिकार और सीमा के आधार पर आप संघों का वर्गीकरण कैसे करेंगे?

९. समाज संघों से बना है, इस मत की व्याख्या कीजिये। संघों की उपयोगिता का वर्णन कीजिये। (यू० पी०, १९४६)

चौथा अध्याय

परिवार

हम पिछले अध्याय में बता चुके हैं कि परिवार सामाजिक संगठनों में सर्वप्रथम स्वाभाविक तथा महत्वपूर्ण सङ्गठन है। यह संघ मनुष्य की प्रेम तथा वात्सल्य भावना पर अवलम्बित है। मानव समाज की सभ्यता के प्रसवकाल में इस संस्था का जन्म हुआ और जबतक मनुष्य में स्नेह और सभ्यता का अंकुर बना रहेगा, यह संस्था भी अमर रहेगी।

कुटुम्ब का जन्म पुरुष और स्त्री के पारस्परिक सम्बन्ध और सहयोग से होता है। एक कुटुम्ब के अन्दर माता-पिता, भाई-बहन, पौत्र-पौत्री आदि सम्मिलित होते हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि परिवार मनुष्य जाति की सबसे प्राचीन संस्था है, परन्तु इसका स्वरूप सदा एक सा नहीं रहा। प्राचीन काल में कुटुम्ब बहुत बड़ा हुआ करता था क्योंकि उसमें माता-पिता के अतिरिक्त चाचा-चाची, भाई-भाभी, चचेरे भाई, चचेरी बहिनें इत्यादि भी रहते थे। भारतवर्ष और विशेषकर हिन्दुओं में आज-कल भी ऐसे ही संयुक्त कुटुम्बों (Joint families) की प्रथा अधिक प्रचलित है। एक ही परिवार में प्रायः बाप, दादा, परदादा, उनकी स्त्रियाँ, लड़के, लड़कियाँ आदि रहते हैं। पाश्चात्य देशों में इस प्रकार के सम्मिलित कुटुम्ब नहीं होते। वहाँ केवल माता-पिता, और बच्चे ही एक साथ रहते हैं। जब लड़का अपना विवाह कर लेता है तो अपने माँ-बाप का घर छोड़ देता है और अपने लिए एक दूसरा घर बना लेता है।

एक परिवार में स्त्री और पुरुष के पारस्परिक अधिकार और कर्तव्यों का स्वरूप भिन्न-भिन्न काल और देशों में अलग-अलग रहा है। कुछ देशों में परिवार का आरंभ माता से हुआ और कुछ दूसरे देशों में पिता से। सभ्यता के प्रारंभिक काल में बहुविवाह-प्रथा अधिक प्रचलित थी, एक पुरुष कई स्त्रियाँ रख सकता था। किसी-किसी देश में स्त्रियों को भी कई पति रखने का अधिकार था। परन्तु अधिकतर परिवार पैत्रिक ही होते थे अर्थात् ऐसे परिवार जहाँ पुरुष को ही कई स्त्री रखने का अधिकार था। ऐसे परिवारों में पुरुष का अपनी स्त्री और अपने बच्चों पर पूर्ण अधिकार होता था। पुरुष यदि चाहता तो अपने बच्चों को मृत्यु-दंड भी दे सकता था। धीरे-धीरे सभ्यता के विकास के साथ-साथ स्त्री और बच्चों को परिवार में पुरुष के ही समान अधिकार मिलने लगे। ईसाई धर्म के प्रचार से बहुविवाह-प्रथा प्रायः बन्द-सी हो गई। आधुनिक काल में संसार के प्रायः सभी देशों में स्त्रियों को पुरुषों के समान ही अधिकार दिये जाते हैं। हमारे देश में स्त्रियों की स्थिति में अभी दूसरे देशों की भाँति उन्नति नहीं हुई है, परन्तु अब इस दिशा में भी विशेष प्रयत्न हो रहा है और नये विधान के अंतर्गत तो भारत की स्त्रियों को पुरुषों के समान ही सारे अधिकार प्राप्त हो गये है।

परिवार के कार्य

परिवार जिन कार्यों को करता है वे मनुष्य और समाज की भलाई के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। इस प्रकार यद्यपि परिवार सबसे छोटा सङ्गठन है फिर भी सामाजिक जीवन में इसकी सबसे अधिक महत्ता है। इसके कर्तव्यों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है: (१) प्राणशास्त्र-सम्बन्धी, (२) आर्थिक, (३) सांस्कृतिक, (४) नागरिक, (५) मनोरंजन-सम्बन्धी और (६) धार्मिक।

(१) प्राणशास्त्र-सम्बन्धी—प्राणशास्त्र सम्बन्धी कार्य परिवार के

अस्तित्व के मूलाधार हैं। परिवार का जन्म मुख्यतया सन्तान की उत्पत्ति और लालन-पालन के लिये होता है। परिवार में ही मनुष्य के जीवन की उन्नति और वृद्धि होती है। बच्चों का ठीक प्रकार से लालन-पालन किसी दूसरे सङ्गठन में इतनी अच्छी प्रकार से नहीं किया जा सकता जितना एक परिवार में। माता और पिता अपनी सन्तान के प्रति प्रेम की वह स्वाभाविक भावनायें रखते हैं जो उनके प्रति दूसरे कभी नहीं रख सकते। उन्हें अपनी सन्तान की सेवा करने में, उनके आराम के लिए चिन्ता करने में और उनके सुख के लिये परिश्रम करने में बहुत आनन्द प्रतीत होता है। दूसरे लोगों को इन बच्चों का पालन-पोषण भार स्वरूप जान पड़ता है क्योंकि इस कार्य में अत्यन्त कष्ट और असुविधा होती है। माता-पिता को छोड़कर कोई भी दूसरे मनुष्य इन बच्चों के प्रति स्वाभाविक प्रेम का प्रदर्शन नहीं कर सकते। इसलिए माता-पिता ही अपने बच्चों के लालन-पालन के भार को आनन्दपूर्वक वहन कर सकते हैं।

उपर्युक्त वर्णन से हम यह परिणाम निकालते हैं कि परिवार बच्चों की रक्षा और उन्नति के लिए एक स्वाभाविक प्रबन्ध है। दूसरे शब्दों में परिवार केवल एक नया जीवन ही उत्पन्न नहीं करता बल्कि उसकी बहुत अधिक प्रयत्नों से रक्षा भी करता है।

(२) **आर्थिक**—प्राणशास्त्र-सम्बन्धी कार्य के अतिरिक्त परिवार ऐसे भी कार्य करता है जो कि स्वभाव से आर्थिक या अर्धआर्थिक कहलाते हैं। अर्थ सम्बन्धी कार्य हम ऐसे कार्यों को कहते हैं जिनका सम्बन्ध धन की उत्पत्ति या उसके वितरण से होता है। परिवार में रहकर मनुष्यों को इस प्रकार के अनेक कार्य करने पड़ते हैं। परिवार का प्रमुख पुरुष परिवार के सदस्यों के लालन-पालन के लिए कोई न कोई व्यवसाय अवश्य करता है। इस व्यवसाय में परिवार के दूसरे सदस्य अपनी योग्यता के अनुसार सहयोग देते हैं। परिवार के प्रमुख की मृत्यु के पश्चात् यही व्यवसाय परिवार के

दूसरे सदस्य करते रहते हैं और इस प्रकार एक ही व्यवसाय एक पीढ़ी के पश्चात् दूसरी पीढ़ी तक परिवार में चलता रहता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक परिवार की अपनी एक सम्पत्ति या जायदाद होती है। इस सम्पत्ति का प्रबन्ध भी परिवार के सदस्य ही करते हैं। आमदनी और खर्च का वजट भी प्रत्येक कुशल गृहस्थी को रखना पड़ता है। एक अच्छे गृहस्थी के लिए आवश्यक है कि वह अपने परिवार का खर्च इस प्रकार चलावे कि वह आमदनी से अधिक न बढ़ने पाये, बल्कि उसमें से कुछ न कुछ बच ही सके। गृहस्थ के इन सब कार्यों को हम आर्थिक कार्य कह सकते हैं।

(३) **सांस्कृतिक**—परिवार का एक और आवश्यक कार्य यह है कि वह अपने सदस्यों का सांस्कृतिक विकास करता है। मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास पारस्परिक सम्बन्ध से होता है। माता-पिता सहानुभूति और प्रेम की प्रतिमाएँ होती हैं। यही गुण संस्कृति के निर्माण के लिए आवश्यक हैं। इसके अतिरिक्त बच्चे माता-पिता के अनुकरण से भाषा, व्यवहार और सदाचार सीखते हैं। बच्चों की शिक्षा भी सर्वप्रथम परिवार में ही प्रारम्भ होती है। परिवार बच्चों की शिक्षा के लिए वह वातावरण प्रदान करता है जो उसके स्वभाव के लिए स्कूल के वातावरण की अपेक्षा अधिक उपयुक्त और शान्तिप्रद होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि परिवार सांस्कृतिक जीवन की भी जड़ है।

(४) **नागरिक**—परिवार सामाजिक जीवन का स्थायी स्कूल है। अंग्रेजी में एक कहावत है—"Family is the eternal school of social life." इस कहावत का यही अर्थ है कि परिवार मनुष्य के नागरिक जीवन का अमिट स्रोत है। यदि हम परिवार की स्वाभाविक भावनाओं पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें तो हमें ज्ञात होता है कि इस कहावत में अक्षरशः कितना सत्य भरा पड़ा है।

सामाजिक जीवन कुछ विशेष गुणों पर अवलम्बित होता है। सभी

मानव प्राणियों में यह गुण विद्यमान रहते हैं। जब बच्चा माँ के गर्भ से जन्म लेता है तो यह गुण प्रसुप्तावस्था में रहते हैं। इनका विकास तभी होता है जब एक विशेष वातावरण में इनको जाग्रत किया जाय। यह काम परिवार करता है।

प्रेम—सर्वप्रथम कुटुम्ब नवजात शिशु के लिए प्रेम और स्नेह के शिक्षणालय का कार्य करता है। माता-पिता का अपने बच्चों के लिए अद्वितीय प्रेम होता है। संसार में विशुद्ध और निस्स्वार्थ प्रेम की इससे बढ़कर उपमा नहीं दी जा सकती। बच्चों के लालन-पालन और पोषण के लिए माता-पिता अपना सर्वस्व ही बच्चों पर न्यौछावर करने को उद्यत रहते हैं। बच्चों का सुख ही उनके लिए सबसे अधिक आनन्द की सामग्री होती है। इस प्रकार बच्चा जन्म से ही प्रेम के विशुद्ध वातावरण में साँस लेता है और उसी में पलकर बड़ा होता है। प्रेम हमारे सामाजिक संबन्धों का आधार-स्तम्भ है और इसकी सर्वप्रथम शिक्षा बच्चे को परिवार में ही मिलती है।

सेवा—प्रेम के अतिरिक्त परिवार बच्चे में निस्स्वार्थ सेवा का अंकुर प्रस्फुटित करता है। परिवार के सदस्य एक दूसरे की सहायता किसी आर्थिक लाभ के लिए नहीं, वरन् प्रेमवश करते हैं। बच्चों का लालन-पालन भी इसी निस्स्वार्थ भाव से होता है और इसी कारण बड़े होकर बच्चे अपने माता-पिता के उदाहरण से निस्स्वार्थ सेवा का पाठ पढ़ते हैं। सेवा का यह भाव भी सच्ची नागरिकता का आधार है।

सहयोग—प्रेम और सेवाभाव के अतिरिक्त परिवार अपने सदस्यों में सहयोग का भाव उत्पन्न करता है। माता-पिता परिवार की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए सहयोग देते हैं। बच्चे एक दूसरे के सहयोग से ही खेल और क्रीड़ा में भाग लेते हैं। इस प्रकार बड़े होने पर बच्चों में एक दूसरे के साथ सहयोग से काम करने का भाव जाग्रत

होता है। सहयोग भी नागरिक जीवन का आधार है और इस गुण का जन्म भी मनुष्य में सर्वप्रथम परिवार में ही होता है।

सहिष्णुता—गृहस्थ जीवन, मनुष्य को सहिष्णुता का पाठ भी पढ़ाता है। वह विरोध और मत-विभिन्नता को दूर कर मनुष्यों में पारस्परिक स्नेह और आदर का भाव उत्पन्न करता है। गृहस्थ में रहकर मनुष्य एक दूसरे से लड़-भिड़कर जीवन व्यतीत नहीं कर सकते। ऐसा करने से मनुष्य का पारिवारिक जीवन नारकीय हो जाता है और अन्त में वह नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। सहनशीलता, एक दूसरे के विचारों के प्रति आदर, और अपने मन और जिह्वा पर नियंत्रण, गृहस्थ-जीवन की सफलता के लिए सबसे बड़ी शर्तें हैं।

शिक्षा—परिवार शिक्षा के एक बड़े केन्द्र का काम भी देता है। स्वाभाविक रूप से बच्चे का मस्तिष्क अत्यन्त कोमल और ग्रहणशील होता है। इस कारण बच्चा पारिवारिक जीवन के आचार-विचार और उसके रहन-सहन के ढग की बहुत-सी बातें स्वयं ही सीख लेता है। महान् पुरुषों की जीवनी देखने से पता चलता है कि उनके भावी जीवन पर किस प्रकार उनके बाल काल के जीवन और माता-पिता की शिक्षा का प्रभाव पड़ता है। इसी कारण कहा जाता है कि एक अच्छे और सदाचारी गृहस्थ के बच्चे ही आगे चलकर समाज के उपयोगी और सभ्य नागरिक बन सकते हैं।

आज्ञापालन और अनुशासन—बच्चे आदर और प्रेम के कारण अपने माता-पिता की आज्ञा का पालन करते हैं। वे परिवार के अनुशासन में पलकर बड़े होते हैं। परिवार का मुखिया इस बात का विशेष ध्यान रखता है कि बच्चा केवल उन्हीं बातों को सीखे जो उनके भावी जीवन के लिए उपयोगी सिद्ध हों। आज्ञापालन और अनुशासन के ये भाव

बच्चे को अपने भावी सामाजिक जीवन की उन्नति में बहुत सहायता पहुँचाते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि परिवार नागरिक गुणों की शिक्षा देने के लिए अत्यन्त स्वाभाविक और सबसे श्रेष्ठ स्कूल हैं। यह एक आदर्श नागरिक जीवन का मूल है। इस सत्यता को मेज़िनी ने एक बहुत अच्छे ढंग से अंग्रेज़ी के इस वाक्य में व्यक्त किया है—"The child learns the best lesson of citizenship between the kiss of the mother and the caress of the father." इस वाक्य का हिन्दी में यही अर्थ है कि बच्चा नागरिकता का सबसे अच्छा सबक अपनी माता के चुम्बन और पिता के दुलार से सीखता है।

(५) मनोरंजन-संबन्धी—परिवार मनोरंजन का भी केन्द्र है। दिन भर परिश्रम करने के पश्चात् पिता अपने बच्चों के साथ खेलकर अपनी थकावट को भूल जाता है और फिर से एक नवीन स्फूर्ति का अनुभव करता है। परिवार के अन्दर रहकर मनुष्य स्वर्गीय आनन्द का अनुभव करता है और संसार की सब चिन्ताएँ भूल जाता है। एक अच्छा परिवार शान्ति और सुख, आमोद और प्रमोद, क्रीड़ा और मनोरंजन का निवास-स्थान होता है।

(६) धार्मिक—अन्त में परिवार अपने सदस्यों की धार्मिक और आध्यात्मिक उन्नति भी करता है। बच्चे अपने माता-पिता के धर्म को सीखते हैं। बाल्यावस्था से ही वह धार्मिक उत्सवों, त्यौहारों और मेलों में भाग लेते हैं और इस प्रकार उनमें धार्मिकता के भाव जाग्रत हो जाते हैं। जिस गृहस्थ में बच्चे नहीं होते, उस परिवार में माता-पिता कुछ नास्तिक-से बन जाते हैं और उनमें दया, प्रेम और त्याग के वे भाव जाग्रत नहीं होते जो एक अच्छे सामाजिक जीवन के लिए आवश्यक हैं। बच्चोंवाले माता-पिता अपने बालकों में ईश्वर की प्रतिमा देखते हैं,

और इस प्रकार वह भगवान् के भक्त, अत्यन्त दयालु और नम्र व्यक्ति बन जाते हैं।

उपर्युक्त गुणों से परिवार एक अच्छे सामाजिक जीवन का आधार स्तम्भ बन जाता है। इस पर बच्चे का भाग्य अवलम्बित रहता है। परिवार एक ऐसा मन्दिर बन जाता है जिसमें सभी अच्छी और महान् बातें निवास करती हैं। सारांश में हम कह सकते हैं कि परिवार एक विश्वविद्यालय, गिरजाघर, क्लब, राज्य और संसार का सूक्ष्म स्वरूप है।

पारिवारिक भक्ति का प्रश्न—स्वाभाविक रूप से परिवार अपने सदस्यों की अनन्य भक्ति को प्राप्त करता है। यह भक्ति किसी भी दूसरे संगठन को दी जाने वाली भक्ति से कहीं अधिक होती है परन्तु इससे एक खतरा भी पैदा होता है और वह यह कि कहीं मनुष्य अपने परिवार के लालन-पालन और पोषण में ही इतना न लग जाय कि वह सामाजिक जीवन की दूसरी संस्थाओं और संघों के प्रति अपने कर्तव्य को बिल्कुल ही भूल जाय। दूसरे शब्दों में कहीं मनुष्य परिवार की भलाई के लिए ही कार्य करने में अपने जीवन की इतिश्री समझकर देश तथा संसार के हित का विचार न छोड़ दे। मानव-इतिहास में ऐसा कई बार हुआ है। हमारे देश में विशेषकर यह भय और भी अधिक मात्रा में विद्यमान है क्योंकि हमारा सामाजिक संगठन परिवार की भक्ति पर अवलम्बित है। एक अच्छे सामाजिक जीवन को व्यतीत करने के लिये मनुष्य को यह जान लेना अत्यन्त आवश्यक है कि परिवार के प्रति उसे किस सीमा तक भक्ति प्रकट करने की आवश्यकता है। इस सीमा के भाव को दृष्टि में रखने से ही मनुष्य अपने नागरिक जीवन के कार्यों को योग्यतापूर्वक पूरा कर सकता है।

पारिवारिक जीवन की सफलता की दशाएँ

परिवार के सदस्य एक आदर्शमय, सभ्य और आनन्ददायक जीवन

व्यतीत कर सकें, इसके लिए प्रत्येक परिवार में कुछ आन्तरिक और बाह्य (Internal and External) अवस्थाओं का होना आवश्यक है। एक गृहस्थ उसी समय सुखी और समृद्धिशाली जीवन व्यतीत कर सकता है जब वह एक विशेष प्रकार के वातावरण में पुष्पित-पल्लवित हो। पढ़े-लिखे घरानों में बच्चे प्रायः सुशील और चतुर होते हैं। इसके विपरीत एक अशिक्षित और असभ्य घर में बच्चे बहुत सी बुरी आदतों के शिकार बन जाते हैं। इसी प्रकार जिस परिवार के पास रहने के लिए कोई अच्छा मकान और गृहस्थ के पालन-पोषण के लिए कोई धन-सम्पत्ति न हो वह अधिक उन्नति नहीं कर सकता। ऐसे गृहस्थ के बच्चों को न किसी प्रकार की उच्च शिक्षा ही दी जा सकती है और न उन्हें एक विशेष प्रकार के सुसंस्कृत और सभ्य वातावरण में ही पाला जा सकता है। ग़रीब घरानों के बच्चों में इसी कारण झूठ बोलने, चोरी करने, आवारा फिरने और इसी प्रकार की दूसरी बुराइयाँ पैदा हो जाती हैं। परन्तु यह सब कुछ कहने से हमारा यह तात्पर्य कदापि नहीं कि सम्पन्न घरों के बच्चे सदा सच्चरित्र ही होते हैं और निर्धन घरों के दुराचारी। हमारा आशय केवल यही है कि एक समृद्ध घर का वातावरण निर्धन घर के वातावरण की अपेक्षा बच्चे के सांस्कृतिक विकास के लिए अधिक उपयुक्त होता है। बच्चों का मस्तिष्क अत्यन्त कोमल और सुकुमार होता है। परिवार में बाह्य और आन्तरिक वातावरण का उनके मस्तिष्क पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। इसलिए यह आवश्यक है कि समाज में आदर्श और सभ्य नागरिक उत्पन्न करने के लिए गृहस्थ जीवन की सफलता की बाह्य और आन्तरिक दशाओं की अनुकूलता प्राप्त की जाय।

बाह्य अवस्थाएँ—गृहस्थ जीवन की सफलता के लिए बाह्य अवस्थाओं में हम निम्नलिखित दो दशाओं का उल्लेख कर सकते हैं :—

(१ **आर्थिक न्यूनतम**(Economic Minimum)प्रत्येक गृहस्थ में अपने सदस्यों के पालन-पोषण के लिए इतनी आमदनी अवश्य होनी चाहिए कि जिससे परिवार के सारे सदस्य आराम से अपना जीवन व्यतीत कर सकें तथा परिवार के मुखिया की अस्वस्थावस्था, दुर्घटना या बुढ़ापे की अवस्था में गृहस्थ का कार्य चल सके। इसका यह आशय कदापि नहीं कि यदि परिवार के बड़े सदस्य काम करना न चाहें तो भी उन्हें सरकार द्वारा वेतन दिए जाने का प्रबन्ध हो। इसका अर्थ केवल यही है कि सरकार प्रत्येक स्वस्थ और वयस्क व्यक्ति को काम दे तथा उसको इतना वेतन दे कि जिससे वह अपना और अपने बच्चों का अच्छी तरह पालन पोषण कर सके।

(२) **अच्छा मकान** (Suitable House)—निर्वाह के लिये उपयुक्त आमदनी के अतिरिक्त प्रत्येक परिवार के पास रहने के लिए स्वस्थ वातावरण में एक अच्छा मकान भी होना चाहिए। एक अच्छे और स्वास्थ्यप्रद मकान के बिना न परिवार के सदस्यों का स्वास्थ्य ही ठीक रह सकता है और न वे अपनी मानसिक या आध्यात्मिक उन्नति ही कर सकते हैं। हमारे देश में बहुत से धनवान् लोग भी छोटे और गन्दे मकानों में रहते हैं। गृहस्थ जीवन इस प्रकार के वातावरण में न सुखी ही रह सकता है और न किसी प्रकार की नैतिक उन्नति ही कर सकता है। इसलिये सरकार का दूसरा कर्तव्य यह है कि वह देखे कि प्रत्येक गृहस्थी एक अच्छे और स्वास्थ्यप्रद मकान में निवास करता है। इस दिशा में बड़े-बड़े शहरों में इम्प्रूवमेन्ट ट्रस्ट और म्यूनीसिपैलटियाँ विशेष कार्य कर सकती हैं।

आन्तरिक अवस्थाएँ—सुखी गृहस्थ-जीवन के लिए बाह्य अवस्थाओं के अतिरिक्त कुछ ऐसी अवस्थाएँ भी हैं जो परिवार के आन्तरिक गुणों से सम्बन्ध रखती हैं। इन अवस्थाओं में हम निम्नलिखित गुणों का विशेष रूप से उल्लेख कर सकते हैं:—

(१) **शिक्षा**—एक अच्छा गृहस्थ-जीवन व्यतीत करने के लिए परिवार के प्रत्येक सदस्य का शिक्षित होना परमावश्यक है। शिक्षा के बिना न माता-पिता अपने बच्चों की मनोवृत्ति समझ सकते हैं और न उनको एक सुसंस्कृत वातावरण में पाल ही सकते हैं। शिक्षा के बिना पति और पत्नी का जीवन भी असह्य हो जाता है। शिक्षित माता-पिता केवल अपने बच्चों को ठीक प्रकार की शिक्षा ही नहीं दे सकते, बल्कि स्वयं भी वे अपने अवशिष्ट समय को पढ़ने-लिखने और दूसरे अच्छे कार्यों में व्यतीत कर सकते हैं।

(२) **पारस्परिक प्रेम**—सुखी गृहस्थ-जीवन के लिए दूसरी महत्वपूर्ण अवस्था पति-पत्नी के पारस्परिक स्नेह की है। यदि पति और पत्नी के स्वभाव एक दूसरे के प्रतिकूल हों, तथा उनके आदर्शों में भिन्नता हो या वे असमान इच्छाएँ रखते हैं तो इससे गृहस्थ-जीवन भारस्वरूप हो जाता है। इसलिए विवाह से पहले यह आवश्यक है कि पति-पत्नी एक दूसरे के स्वभाव से भलीभाँति परिचित हों और वे केवल बाह्य सौन्दय से ही आकर्षित न होकर, एक दूसरे के आन्तरिक गुणों को पहचानने का प्रयत्न करें। मात-पिता का भी कर्तव्य है कि वे अपनी सन्तान का उनकी इच्छा के विरुद्ध विवाह-सम्बन्ध न करें। पति और पत्नी के विशुद्ध स्नेह पर ही एक सद्गृहस्थ की नींव पड़ सकती है।

(३) **सहिष्णुता**—यदि पति और पत्नी में किसी प्रकार का भेदभाव भी हो तो भी उनका धर्म है कि वे पारस्परिक भेद-भाव का विचार न करके केवल अपने समान आदर्शों पर ही ज़ोर दें। गृहस्थ में न जाने कितनी बार पति और पत्नी का झगड़ा होता है और वे एक दूसरे को संशय की दृष्टि से देखते हैं। परन्तु एक कुशल गृहस्थी के लिए आवश्यक है कि वह इन झगड़ों को शीघ्र ही भूल जाय और गृहस्थ-जीवन को छोटी-छोटी बातों के कारण कलहपूर्ण न होने दे। एक दूसरे

के विचारों के प्रति सहिष्णुता गृहस्थ-जीवन की तीसरी बड़ी आधार-शिला है।

(४) सहयोग—गृहस्थ के सारे ही सदस्यों का कर्तव्य है कि वे परिवार के सभी कामों में एक दूसरे को सहयोग दें। यदि किसी परिवार में एक ही आदमी कमानेवाला हो और दूसरे सदस्य शक्ति होने पर भी काम न करें तो इससे गृहस्थ-जीवन कलहपूर्ण हो जाता है। इसलिए परिवार के सारे ही सदस्यों को अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार कार्य करना चाहिए। पति और पत्नी को भी ठीक तरह से अपने कार्यों का विभाजन कर लेना चाहिए। यदि पति कमाने का भार सँभाले तो पत्नी का धर्म है कि वह गृहस्थ की दूसरी सारी जिम्मेदारियाँ अपने कन्धों पर धारण करे। पत्नी गृहस्वामिनी होती है। बच्चों का लालन-पालन उसका मुख्य कर्तव्य है। परन्तु इस कथन का यह अर्थ कदापि नहीं कि स्त्रियों को घर की चहार-दीवारी से बाहर नहीं निकलना चाहिए। वह राजनैतिक और सामाजिक कार्यों में भी भाग ले सकती है किन्तु गृह-कार्य छोड़कर नहीं। यदि गृहकार्य करने के पश्चात् स्त्रियों को अवकाश मिले तो उन्हें सार्वजनिक कार्यों में भी अवश्य भाग लेना चाहिए।

(५) छोटा परिवार—सुखी गृहस्थ की एक दूसरी आवश्यक अवस्था यह है कि परिवार के सदस्यों की संख्या अधिक न हो। घर में अधिक बच्चों का होना भी हानिकारक है। इससे न उनको अच्छी शिक्षा ही मिल सकती है और न वह एक अच्छे ढंग से ही अपना जीवन व्यतीत कर सकते हैं। बच्चों के अतिरिक्त एक ही परिवार में इतने अधिक सम्बन्धी नहीं होने चाहिए कि जिससे उनमें परस्पर सदा झगड़ा ही होता रहे। घर में चाचा-चाची, ताऊ-ताई, चचेरे भाई आदि अनेक सम्बंधियों के रहने से गृहस्थ-जीवन सुखी नहीं रहता। इसलिए एक गृहस्थ में केवल माता-पिता, पति-पत्नी और बच्चे ही होने चाहिए जिससे उनका स्नेह-बंधन शिथिल न हो सके।

पारिवारिक सदस्यों के अधिकार और कर्तव्य

इस अध्याय को समाप्त करने से पूर्व हम परिवार के सदस्यों के अधिकारों और कर्तव्यों का वर्णन करना भी उचित समझते हैं। प्रत्येक परिवार में बच्चों के कुछ अधिकार और कर्तव्य होते हैं। पहले हम उनके अधिकारों का वर्णन करेंगे :—

(१) बच्चे का सबसे पहला और आवश्यक अधिकार यह है कि उसका लालन-पालन ठीक प्रकार से हो। यदि बच्चे को ठीक प्रकार का भोजन और वस्त्र न मिलें तो वह जीवन में किसी भी प्रकार की उन्नति नहीं कर सकता और न वह एक अच्छा नागरिक ही बन सकता है।

(२) बच्चे का दूसरा अधिकार यह है कि उसे उचित प्रकार की शिक्षा दी जाय। शिक्षा मनुष्य और समाज के अच्छे जीवन पर गहरा असर डालती है। एक अशिक्षित बालक न अपने व्यक्तित्व का ही विकास कर सकता है और न किसी प्रकार की समाज-सेवा।

(३) बच्चे का तीसरा अधिकार यह है कि वह अपने माता-पिता से न्यायपूर्ण व्यवहार प्राप्त करे। माता-पिता को अपने बच्चों के साथ अन्याय-पूर्ण या नृशंस व्यवहार कदापि नहीं करना चाहिए। उनका धर्म है कि वह अपने बच्चों के आन्तरिक गुणों के विकास में सहायक सिद्ध हों और उन्हें अपने ही रूढ़िवादी विचारों में ढालने का प्रयत्न न करें।

(४) माता-पिता को लड़के और लड़कियों में अनुचित भेदभाव नहीं रखना चाहिए। उन दोनों का अपना एक अलग व्यक्तित्व होता है। दोनों सामाजिक जीवन के लिए आवश्यक हैं।

बच्चों के कर्तव्य—माता-पिता की सेवाओं के बदले बच्चों के भी उनके प्रति कुछ कर्तव्य हैं। माता पिता अपने बच्चों के लिए सब कुछ न्यौछावर करने को उद्यत रहते हैं। बच्चों का धर्म है कि वह अपने माता-पिता की आज्ञा का पालन करें, उनके प्रति आदरभाव बनाए रक्खें,

उनकी हर प्रकार से सहायता करें, बुढ़ापे में उनकी सेवा करें, गृहस्थ के अनुशासन में रहें और परिवार के दूसरे सदस्यों के साथ प्रेम का व्यवहार करें।

परीक्षा-प्रश्न

१. 'परिवार सामाजिक गुणों का शिक्षणालय है' इस कथन पर अपने विचार प्रकट कीजिए। (यू० पी०, १९४२)

२. 'परिवार सब संघों से अधिक महत्त्वपूर्ण है' इस उक्ति की विवेचना कीजिए। (यू० पी०, १९४०)

३. परिवार क्या है? इसके अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य क्या हैं?

४. परिवार सामाजिक जीवन का स्थाई स्कूल है। इस कथन की व्याख्या और विवेचना कीजिए कि पारिवारिक जीवन में सामाजिक गुणों का सर्वप्रथम विकास कैसे होता है। (यू० पी०, १९३१)

५. 'शिक्षा सम्बन्धी संस्थाओं में परिवार सबसे बड़ी संस्था है' इस कथन की विवेचना कीजिए। (यू० पी०, १९३६)

६. पारिवारिक-जीवन की सफलता के लिए कौन-सी आवश्यक अवस्थाएँ हैं?

७. पारिवारिक जीवन की व्यवस्था का आधार क्या है? संक्षेप में इसके विकास और संगठन पर विचार प्रकट कीजिए।

८. पारिवारिक सदस्यों के अधिक आवश्यक अधिकार और कर्तव्य कौन-कौन से हैं?

———

पाँचवाँ अध्याय

नागरिकता

नागरिकशास्त्र का मुख्य ध्येय आदर्श नागरिकता का अध्ययन है। इसलिए राज्य, उसके अंग, प्रत्यग, विधान और कर्तव्यों का विवरण देने से पहले आवश्यक है कि हम नागरिक और नागरिकता के अर्थ को समझ लें और इसी विषय की दूसरी धारणाओं, जैसे अधिकार और कर्तव्य, स्वतंत्रता और समता, राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता इत्यादि विषयों का भी भली प्रकार ज्ञान प्राप्त कर लें। प्रस्तुत तथा अगले कुछ अध्यायों में इसीलिए नागरिकता के इन तत्वों का विवेचन किया जायेगा। इस अध्याय में हम नागरिक और नागरिकता का विश्लेषण करेंगे।

नागरिक शब्द का अर्थ—नागरिक शब्द का अर्थ साधारण बोल-चाल की भाषा में एक ऐसे मनुष्य से लिया जाता है जो किसी नगर में रहता हो और अपने रहन-सहन तथा बोलचाल की विशेषता से एक ग्रामीण मनुष्य से भिन्न हो। वास्तव में नागरिकशास्त्र के अन्तर्गत नागरिक शब्द का यह अथ सवथा भ्रममूलक है। इस शास्त्र की दृष्टि से नागरिक हम ऐसे प्रत्येक मनुष्य को कहते हैं, वह चाहे गाँव में रहता हो अथवा नगर में, जंगल में रहता हो अथवा बस्ती में, निर्धन हो अथवा अमीर, स्त्री हो अथवा पुरुष, जिसे राज्य की ओर से सामाजिक तथा राजनैतिक अधिकार प्राप्त हों और जो अपने राज्य की सेवा और शुश्रूषा के लिए सदा उद्यत रहता हो।

प्रत्येक राज्य में दो प्रकार के सदस्य रहा करते हैं—एक नागरिक और दूसरे अनागरिक। नागरिक, जैसा कि ऊपर कहा गया है, वे मनुष्य कहलाते

हैं जिन्हें राज्य की ओर से सामाजिक और राजनैतिक अधिकार प्राप्त हों। दूसरे शब्दों में ऐसे मनुष्य जो राज्य के प्रत्येक कार्य में भाग ले सकें, जिन्हें चुनाव में अपनी राय देने का अधिकार प्राप्त हो और जो सरकारी नौकरी प्राप्त कर सकें। अनागरिक ऐसे लोगों को कहा जाता है जिन्हें इस प्रकार के अधिकार प्राप्त न हों। विदेशों से हमारे देश में भ्रमण करने के लिये आये हुए व्यक्ति इसी श्रेणी में गिने जाते हैं। वे हमारे देश के चुनावों में भाग नहीं ले सकते और न सरकारी नौकरी ही प्राप्त कर सकते हैं। देश में रहने वाले बहुत से व्यक्ति भी कभी-कभी विशेष कारणों से नागरिक बन जाते हैं। लम्बी सज़ाएँ काटनेवाले अपराधी, भिक्षुक, पागल, कोढ़ी आदि बहुत से लोग राजनैतिक अधिकारों से वंचित कर दिए जाते हैं ऐसे लोगों को हम स्वदेशी अनागरिक कह सकते हैं। कुछ देशों में स्त्रियों को मताधिकार नहीं दिया जाता, न वे सरकारी पद ही प्राप्त कर सकती हैं। इन देशों में स्त्रियों को भी हम अनागरिक कह सकते हैं।

नागरिकता का सम्बन्ध इसलिए राजनैतिक अधिकारों की प्राप्ति से है। वर्तमान समाज में सामाजिक अधिकार तो प्रत्येक मनुष्य को ही चाहे वह स्वदेशी हो अथवा विदेशी, स्त्री हो अथवा पुरुष, भिखारी हो अथवा धनी, पागल हो अथवा बुद्धिमान्, दिए जाते हैं। ऐसे लोग आराम से किसी भी देश में रह सकते हैं, वह स्वतंत्र व्यवसाय कर सकते हैं, जहाँ चाहें घूम सकते हैं, अपने विचारों को दूसरों पर प्रकट कर सकते हैं। सरकार उनकी जान और माल की रक्षा करती है तथा उन्हें दूसरी हर प्रकार की सुविधाएँ देती है। परन्तु ऐसे लोग राजनैतिक अधिकार प्राप्त नहीं कर सकते, इसलिए वे अनागरिक कहलाते हैं।

नागरिक होने के लिये निम्नलिखित शर्तों की पूर्ति आवश्यक है :—

(१) राज्य की सदस्यता,

(२) राज्य की ओर से सामाजिक और राजनैतिक अधिकारों की प्राप्ति,

(३) **राज्य के प्रति भक्ति** अर्थात् राज्य की सेवा, रक्षा और उसकी उन्नति करने के लिए तत्परता।

कोई भी मनुष्य जो इन तीनों शर्तों की पूर्ति नहीं करता, राज्य का नागरिक नहीं कहलाया जा सकता। ऊपर दी हुई तीसरी शर्त अर्थात् राज्यभक्ति नागरिकता की प्राप्ति के लिए उतनी ही आवश्यक है जितनी राजनैतिक अधिकारों को प्राप्त करने की शर्त। प्रत्येक नागरिक को, राज्य-द्वारा अधिकारों की प्राप्ति के उपलक्ष में अपने देश और राज्य के प्रति भक्तिभाव की प्रतिज्ञा करनी पड़ती है। जो मनुष्य अपने देश की सेवा के लिए तत्पर नहीं वह उस देश का नागरिक नहीं कहा जा सकता।

नागरिकता का विकास—नागरिक शब्द के साथ राजनैतिक अधिकारों की प्राप्ति का सम्बन्ध ग्रीस और रोम की सभ्यता से हुआ। प्राचीन काल में ग्रीस देश में नागरिक केवल ऐसे ही मनुष्यों को कहा जाता था जिन्हें उस देश की सरकार द्वारा राजनैतिक और सामाजिक अधिकार दिये जाते थे। ऐसे मनुष्यों की संख्या ग्रीस राज्य में बहुत कम होती थी। राज्य में दूसरे रहनेवाले लोग अनागरिक या दास कहलाते थे। इन्हें किसी भी प्रकार के अधिकार प्राप्त न होते थे। आजकल के देशों के अनागरिकों से ग्रीस के इन अनागरिकों के अधिकार सर्वथा भिन्न थे। वर्तमान काल में अनागरिकों को सब प्रकार के सामाजिक तथा नागरिक अधिकार प्राप्त होते हैं, केवल उन्हें राजनैतिक अधिकार नहीं दिये जाते। परन्तु ग्रीस में अनागरिकों को सामाजिक अधिकार भी प्राप्त नहीं होते थे। वे नागरिकों की निजी सम्पत्ति माने जाते थे, उनको गुलाम या दास पुकारा जाता था। उनका क्रय-विक्रय उसी रूप में होता था जैसे इस युग में जायदाद या चल-संपत्ति का होता है।

रोम साम्राज्य में भी नागरिकों का निर्णय सामाजिक और राजनैतिक

अधिकारों की प्राप्ति से किया जाता था। अन्तर केवल इतना था कि ग्रीस में केवल नगर में रहनेवाले ही कुछ लोगों को नागरिकता का स्थान प्राप्त हो सकता था। रोम में इसके विपरीत रोम साम्राज्य के अन्तर्गत रहनेवाले किसी भी पुरुष को यह स्थान प्रदान किया जा सकता था। रोम में रहना रोम साम्राज्य के नागरिक के लिए आवश्यक नहीं था। इस प्रकार हम देखते हैं कि रोमनों के काल में नागरिक शब्द की परिभाषा ग्रीसकाल की परिभाषा से अधिक व्यापक बन गई थी।

आधुनिक युग में भी नागरिक शब्द के साथ राजनैतिक और सामाजिक अधिकारों की प्राप्ति उसी प्रकार सम्बन्धित है जैसे वह ग्रीस और रोम के राज्य-काल में थी। अन्तर केवल इतना है कि वर्तमान काल में नागरिकता का स्थान रोम और ग्रीस राज्य के नागरिकों की अपेक्षा बहुत अधिक मनुष्यों को प्राप्त होता है और इस प्रकार का स्थान देने में स्त्री और पुरुष, ग़रीब और अमीर, ग्रामीण और शहरी, बुद्धिमान और मूर्ख का ध्यान नहीं किया जाता। ऐसा प्रत्येक मनुष्य जो किसी राज्य का सदस्य हो, उसके प्रति वफादार हो तथा जो किसी विशेष प्रकार के रोग से ग्रस्त, पागल अथवा पुराना अपराधी न हो, नागरिकता का स्थान प्राप्त कर सकता है।

विदेशी (Alien)—प्रश्न यह उठता है कि देशी और विदेशी लोगों में अधिकारों की प्राप्ति की दृष्टि से क्या अन्तर है, तथा विदेशी हम किस प्रकार के लोगों को कह सकते हैं। विदेशी ऐसे मनुष्यों को कहा जाता है जो एक राज्य में केवल थोड़े ही दिनों के लिए बसते हैं तथा किसी दूसरे राज्य के प्रति वह अपनी राज्यभक्ति प्रदर्शित करते हैं। ऐसे मनुष्यों को सामाजिक अधिकार तो प्राप्त होते हैं परन्तु वे राजनैतिक अधिकारों का उपयोग नहीं कर सकते। सामाजिक अधिकारों की प्राप्ति के बदले में विदेशियों को उस देश के क़ानूनों का पूर्णरूप से पालन करना

पड़ता है तथा जब तक वह उस देश में निवास करें, उन्हें उस देश के कर तथा टैक्स आदि देने पड़ते हैं।

विदेशी मित्र और शत्रु—विदेशी दो प्रकार के होते हैं—एक विदेशी मित्र (Alien friends) और दूसरे विदेशी शत्रु (Alien enemies)। विदेशी मित्र हम ऐसे देश के नागरिकों को कहते हैं जो हमारे देश के साथ मित्रता का व्यवहार करते हों। विदेशी शत्रु ऐसे मनुष्य कहलाते हैं जो हमारे देश के साथ लड़ाई कर रहे हों। पिछले महायुद्ध में जब भारतवर्ष इंगलैण्ड के साथ मिलकर जर्मनी और जापान से युद्ध कर रहा था तो इन दोनों देशों के हमारे देश में बसने वाले लोगों को विदेशी शत्रु कहा जाता था और लड़ाई छिड़ने के पश्चात् शीघ्र ही उनको जेलखानों में बन्द कर दिया गया था जिससे वे हमारे देश की सरकार के विरुद्ध अपने देश की सरकार की सहायता न कर सकें।

नागरिक बनाम निर्वाचक—राज्य के प्रत्येक नागरिक के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह देश के प्रत्येक चुनाव में भाग लेने का अधिकारी हो। बहुत से देशों में स्त्रियों, अल्पवयस्क मनुष्यों, सरकारी कर्मचारियों तथा सैनिकों आदि को चुनाव में खड़े होने तथा भाग लेने का अधिकार प्राप्त नहीं होता। परन्तु फिर भी वह नागरिक ही कहलाते हैं। अमरीका में नागरिक होते हुए भी कुछ लोगों को प्रेज़ीडैन्ट के पद के लिए खड़े होने या उसके चुनाव में भाग लेने का अधिकार प्राप्त नहीं होता। अधिकतर नागरिक निर्वाचक भी होते हैं परन्तु इन दोनों शब्दों का एक ही अर्थ नहीं समझना चाहिए।

नागरिक बनाम प्रजा—प्राचीन तानाशाही साम्राज्यों के युग में जब किसी देश में रहने वाले नागरिकों को किसी प्रकार के राजनैतिक अथवा सामाजिक अधिकार प्राप्त न होते थे और राजा ही देश के सारे

काम-काज की देखभाल करता था, प्रजा की स्वतन्त्रता और उसके अधिकार राजा की स्वेच्छा पर ही निर्भर थे, तो एक देश में रहने वाले सभी व्यक्तियों को नागरिक नहीं, वरन् प्रजा कहा जाता था। आजकल भी राजतन्त्रात्मक शासनों में जहाँ राज्य का सारा काम-काज वंशपरम्परा से एक राजा ही चलाता है देश की जनता को प्रजा के ही नाम से पुकारा जाता है। परन्तु आधुनिक युग में प्राय: प्रत्येक देश में ही जनता धीरे-धीरे अपने ही हाथों में राज्यकार्य का सारा भार ले रही है। इसलिए प्रजातन्त्रात्मक शासनों में देश की जनता को प्रजा के नाम से नहीं, वरन् नागरिकों के नाम से संबोधित किया जाता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि एक ऐसे देश की जनता, जहाँ उसे हर प्रकार के राजनैतिक और सामाजिक अधिकार प्राप्त हों, नागरिकों के नाम से पुकारी जाती है और इसके विपरीत एक ऐसे देश की जनता, जहाँ उसे इस प्रकार के अधिकार प्राप्त न हों, प्रजा के नाम से संबोधित की जाती है।

नागरिकता का निर्णय

प्रत्येक राज्य में दो प्रकार के नागरिक हुआ करते हैं—एक जन्मजात नागरिक (Natural Born Citizens) और दूसरे राज्यदत्तनागरिक (Naturalised Citizens) । पहले प्रकार के नागरिक ऐसे व्यक्तियों को कहा जाता है जो अपने जन्म से ही किसी राज्य के सदस्य होते हैं। इसके विपरीत राज्यदत्त नागरिक ऐसे मनुष्यों को कहा जाता है जो अपने जन्म के समय दूसरे राज्य के सदस्य रहे हों परन्तु बाद में अपनी इच्छा से किसी दूसरे देश में जाकर रहने और बसने के कारण उन्हें उस देश की सरकार ने नागरिकता का पद प्रदान कर दिया हो।

जन्मजात नागरिक

जन्म से नागरिकों का निर्णय दो नियमों द्वारा किया जाता है :—

(१) रक्त वंशाधिकार नियम—(Jus Sanguinis or

Blood Relationship or Parentage)—इस नियम के अनुसार किसी भी व्यक्ति की नागरिकता का निर्णय उसके पिता की नागरिकता से किया जाता है। यदि पिता फ्रांस का नागरिक हो तो उसकी सन्तान भी. चाहे वह फ्रांस में पैदा हो या किसी दूसरे देश में, फ्रांस की ही नागरिक कहलाएगी। यह नियम फ्रांस, इटली, आस्ट्रिया तथा योरोप के कुछ अन्य देशों में प्रचलित है। इस नियम के आधीन नागरिकता का निर्णय आसानी से किया जा सकता है परन्तु कभी-कभी इस नियम के आधीन भी, जैसे नाजायज बच्चों की नागरिकता का निर्णय करने में कठिनाई का सामना करना पड़ता है।

(२) जन्म-स्थान (Jus Soli Place of Birth)—रक्त के अतिरिक्त कुछ देशों में नागरिकता के निर्णय के लिए एक दूसरा नियम भी है। इस नियम के अनुसार किसी व्यक्ति की नागरिकता का निर्णय उसके जन्मस्थान के आधार पर किया जाता है। अर्जेंण्टाइना में यह नियम प्रचलित है। इस नियम के अनुसार यदि कोई माता-पिता कुछ दिनों के लिए अर्जेंण्टाइना में आकर बस जाय और वहां उनकी कोई सन्तान पैदा हो जाय तो वह इस नियम के अनुसार अर्जेंण्टाइना की नागरिकता का पद प्राप्त कर लेगी। इसी प्रकार यदि कोई अर्जेंण्टाइना के माता-पिता छुट्टियों में किसी दूसरे देश में जाकर बस जायँ और वहाँ उनकी सन्तान पैदा हो तो वह अर्जेंण्टाइना की नागरिक नहीं, वरन् उसी दूसरे देश की नागरिक कहलायेगी।

इस नियम के अनुसार नागरिकता का निर्णय तो आसानी से हो जाता है परन्तु इसे वैज्ञानिक नियम नहीं कहा जा सकता क्योंकि बच्चों के जन्म का स्थान बहुत कुछ परिस्थिति पर निर्भर है। यदि माता-पिता किसी दूसरे देश में केवल भ्रमण करने के लिए गए हुये हों और वहाँ उनकी सन्तान पैदा हो जाय तो इस नियम के अनुसार वह सन्तान अपने माता-पिता की नागरिकता को खो बैठती है, जो अन्यायपूर्ण है।

दोहरा नियम (Double Prinsiple)—उपर्युक्त कठिनाई को दूर करने के लिये कुछ देशों में नागरिकता के निर्णय के लिए एक दोहरा नियम काम में लाया जाता है। इस नियम में 'जन्म के स्थान, और 'रक्त-वंशाधिकार' दोनों नियमों का समन्वय कर दिया जाता है। इस दोहरे नियम के अनुसार एक देश के माता-पिता से उत्पन्न सन्तान, वह चाहे संसार के किसी भी कोने में हो, अपने पिता की ही नागरिकता प्राप्त करेगी और साथ ही विदेशी माता-पिता से उत्पन्न सन्तान अपने जन्म-स्थान के कारण जिस देश में वह उत्पन्न हुई हो, उसकी नागरिकता ग्रहण कर सकेगी। इगलैण्ड और अमरीका में यही दोहरा नियम काम में लाया जाता है। इस नियम के अनुसार इङ्गलैण्ड और अमरीका के नागरिकों की सन्तान संसार के किसी भी कोने में रहती हुई इन्हीं देशों की नागरिक रह सकती है और साथ दूसरे देशों के नागरिकों की सन्तान केवल इङ्गलैण्ड या अमरीका में पैदा होने के नाते ही इन देशों की नागरिकता प्राप्त कर सकती है।

कभी-कभी इस दोहरे नियम के कारण नागरिकता के वास्तविक निर्णय में अत्यन्त कठिनाई का सामना करना पड़ता है। उदाहरणार्थ यदि कोई फ्रांस के माता-पिता कुछ दिनों के लिये इङ्गलैण्ड में जाकर रहने लगें और वहाँ उनकी सन्तान पैदा हो जाय तो फ्रांस के रक्तसम्बन्धी नियम के अनुसार वह फ्रांस के नागरिक कहलाएँगे और इङ्गलैण्ड के दोहरे नियम के अनुसार वह इङ्गलैण्ड के नागरिक कहलाएँगे। ऐसी दशा में दोनों ही देश इन बच्चों पर अधिकार ज़माने की चेष्टा करते हैं और ऐसे बच्चों के लिए यह निर्णय करना अत्यन्त कठिन हो जाता है कि वह किस देश की नागरिकता छोड़ें और किस देश की ग्रहण करें। यहाँ यह समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है कि कोई भी मनुष्य दो राष्ट्रों की नागरिकता ग्रहण नहीं कर सकता। वह केवल एक ही देश की छात्र-छाया में रह सकता है, दो देशों की नहीं। ऐसा इसलिए होता है कि व्यक्ति का

उत्तरदायित्व एक ही राज्य पर पूर्णतया रह सके। कई बार दो देशों में लड़ाई छिड़ जाती है। यदि एक ही मनुष्य इन दोनों देशों का नागरिक हो तो उसके लिए प्रश्न उठता है कि वह किस राज्य की ओर से लड़े। कई बार इन उलझनों में पड़कर मनुष्य दोनों देशों की नागरिकता खो बैठता है।

दोहरी नागरिकता की कठिनाई को दूर करने के लिए दो नियम काम में लाये जाते हैं। एक यह कि यदि माता-पिता बच्चे के जन्म के पश्चात् उसे साथ लेकर अपने देश में ही वापिस लौट जायँ और वहीं रहने लगें तो बच्चा अपने पिता की ही नागरिकता पुनः प्राप्त कर लेता है। दूसरा नियम यह है कि बच्चा वयस्क होने पर अपनी नागरिकता का स्वयं निर्णय कर सकता है। वह दोनों देशों में से किसी भी एक देश का नागरिक बनने का विचार प्रकट कर सकता है।

नागरिकता के निर्णय का आदर्श नियम

नागरिकता के निर्णय के विभिन्न नियमों में से कौन-सा अच्छा है, यह कहना कठिन है। 'रक्त' और 'स्थान' दोनों नियमों से नागरिकता का क्षेत्र सीमित और संकुचित हो जाता है। दोनों नियमों के मिलाने से नागरिकता का निर्णय कठिन हो जाता है। वास्तव में आदर्श नागरिकता तो स्वतन्त्र राष्ट्रों की सीमाओं से परे एक विश्वव्यापी राज्य की नागरिकता है। प्राचीन काल में, नागरिकता का अधिकार, एक विशेष श्रेणी के, केवल नगर में रहनेवाले आदमियों को दिया जाता था। आजकल वही अधिकार एक राज्य के अन्दर रहनेवाले प्रत्येक स्त्री, पुरुष को दिया जाता है। एक आदर्श समाज में प्रत्येक व्यक्ति को एक विश्वव्यापी राज्य का नागरिक माना जायेगा। मनुष्य को पूर्ण स्वतंत्रता होगी कि वह जहाँ चाहे रहे, जहाँ चाहे व्यवसाय करे। प्रत्येक देश में उसे एक ही प्रकार के सामाजिक और राजनैतिक अधिकार प्राप्त हो सकेंगे। सारा संसार इसी एक आदर्श की ओर बढ़ता हुआ प्रतीत होता है।

नागरिकों का नागरिककरण (Acquisition of Citizenship or Naturalisation)

प्रत्येक राज्य में जैसा कि पहले कहा जा चुका है, दो प्रकार के नागरिक होते हैं—एक जन्म से और दूसरे स्वेच्छा से। एक देश के नागरिक दूसरे देश के नागरिक भी हो सकते हैं इसके लिए प्रायः प्रत्येक देश के विधान में विशेष नियम बनाए जाते हैं। इन नियमों को नागरिककरण (Naturalisation) नियम कहा जाता है। ये नियम विभिन्न राज्यों में विभिन्न प्रकार के होते हैं। अधिकांश देश, विदेशियों को नागरिकता देने से पहले; उनसे कुछ विशेष शर्तों की पूर्ति कराते हैं जैसे (१) दूसरे देश की नागरिकता का त्याग, (२) वर्तमान देश में एक निश्चित अवधि (५ से १० वर्ष तक रहना, (३) उस देश की नागरिकता प्राप्ति के लिए आवेदनपत्र देना तथा उसके दूसरे क़ानूनों को पालन करने और उसके प्रति राज्यभक्ति दर्शित करने का बचन देना, इत्यादि। इन शर्तों की प्राप्ति के बाद सरकार व्यक्ति को एक सनद दे देती है जिसमें कहा जाता है कि वह नागरिक बना लिया गया।

कुछ देशों में नागरिकता प्राप्त करने की शर्तें अत्यन्त कठिन होती हैं, जैसे उस देश की राष्ट्रभाषा का ज्ञान, नैतिक चरित्र, प्रचलित शासन-पद्धति में विश्वास, अपना ठीक प्रकार से गुज़ारा करने की क्षमता, ज़मीन या जायदाद ख़रीदना इत्यादि। कुछ दिनों पहले अमरीका में नागरिकता प्राप्त करने को एक और विशेष शर्त यह थी कि एशिया द्वीप के आदमी वहाँ नागरिकता प्राप्त नहीं कर सकते थे। हाल ही में इस क़ानून में अब संशोधन कर दिया गया है अब वहाँ कुछ खास तादाद में प्रति वर्ष आदमी कुछ विशेष शर्तों को पूरा करके, वहाँ के नागरिक बन सकते हैं। विदेशियों का नागरिकता देने या न देने का अन्तिम निर्णय प्रत्येक देश की सरकार ही कर सकती है और इसमें बाहर की सरकारें किसी प्रकार का हस्ताक्षेप नहीं कर सकतीं।

कुछ ऐसी भी अवस्थाएँ हैं जब एक देश के निवासी दूसरे देश की नागरिकता बिना ऊपर लिखी हुई शर्तों के पूर्ण किये हुये भी, किसी अन्य कार्य द्वारा अपने आप प्राप्त कर लेते हैं। उदाहरणार्थ (१) यदि कोई स्त्री विदेशी से ब्याह कर ले तो उसे अपने पति के देश की नागरिकता अपने आप प्राप्त हो जाती है। परन्तु यह नियम पुरुषों पर लागू नहीं होता अर्थात् यदि एक पुरुष दूसरे देश की स्त्री से ब्याह कर ले तो उसे स्त्री के देश की नागरिकता प्राप्त नहीं होती। (२) कुछ देशों में यह भी नियम है कि यदि किसी अन्य देश का नागरिक वहाँ का कोई राजपद (Government Office) ग्रहण कर ले तो वह स्वयंमेव उस देश का नागरिक बन जाता है। (३) कुछ दक्षिणी अमरीका के देशों में ऐसा नियम भी है कि यदि कोई व्यक्ति उन देशों में जायदाद या भूमि खरीद ले तो वह वहाँ का नागरिक बन जाता है। (४) जब एक देश दूसरे देश के किसी भाग को जीतकर अपने में मिला लेता है तो विजित देश वालों को जीतने वाले देश की नागरिकता प्राप्त हो जाती है।

राज्यदत्त नागरिकों का स्थान (Status)

राज्यदत्त और स्वाभाविक नागरिकों में अधिकतर देशों में किसी प्रकार का भेद नहीं किया जाता, दोनों को एक ही प्रकार के अधिकार प्रदान किये जाते हैं। परन्तु कुछ देशों में राज्य द्वारा बनाए गये नागरिकों को देश की सरकार के सर्वोच्च पद प्राप्त करने का अधिकार नहीं दिया जाता। अमरीका में बनावटी नागरिक सभापति तथा उपसभापति के पद के लिये खड़ा नहीं हो सकता। १९२४ से पहिले इङ्गलैण्ड में बहुत सी नौकरियाँ वहाँ के स्वाभाविक नागरिकों को ही दी जाती थीं। परन्तु १९२४ के एक नये क़ानून से सभी नागरिक समान समझे जाते हैं।

नागरिकता का लोप

जिस प्रकार एक देश के नागरिक कुछ शर्तों के पूरा करने पर दूसरे

देश के नागरिक बन सकते हैं, ठीक इसी प्रकार एक देश के नागरिकों की नागरिकता का लोप भी हो सकता है। उदाहरणार्थ, जैसे पहले कहा जा चुका है, (१) यदि कोई स्त्री किसी विदेशी से विवाह कर ले तो वह अपनी नागरिकता खो बैठती है, (२) दूसरे देश की सरकार के आधीन अधिक समय तक नौकरी करने से भी नागरिकता का लोप हो जाता है, (३) कुछ देशों में एक निश्चित अवधि से अधिक समय तक देश से बाहर रहने से भी नागरिकता का अन्त हो जाता है, (४) नागरिकता से इस्तीफा भी दिया जा सकता है, एक नागरिक दूसरे देश में बसकर अपनी पहली सरकार को लिख सकता है कि वह अपने आपको वहाँ का नागरिक नहीं समझता. (५) फौज से भागे हुए सिपाही. देशद्रोही और कुछ अन्य प्रकार के पुराने अपराधियों से भी नागरिकता का अधिकार छीन लिया जाता है, (६) कई बार ऐसे नागरिकों की जो किसी दूसरे देश की सरकार के आधीन नौकरी करने के कारण वहाँ के नागरिक बना दिये जाते हैं नौकरी से अलग किये जाने पर नागरिकता छीन ली जाती है।

ऊपर दिये गये नियम सभी राष्ट्रों में एक समान नहीं होते, भिन्न-भिन्न देशों में नागरिकता के लोप के लिये अलग-अलग नियम बनाए जाते हैं। नागरिकता का अधिकार किसी दूसरे अनागरिक को बेचा या दिया नहीं जा सकता। यह अधिकार मनुष्य के व्यक्तित्व से संबन्ध रखता है।

भारतीय नागरिकता

हमारे देश के निवासी स्वतंत्रता प्राप्ति से पहले ब्रिटिश-साम्राज्य के नागरिक कहलाते थे परन्तु ऐसा होने पर भी उन्हें अंग्रेजी साम्राज्य में जहाँ चाहे रहने या स्वतंत्र रूप से व्यवसाय करने, या साम्राज्य में किसी भी देश के राजनैतिक अधिकार प्राप्त करने का हक़ नहीं था। भारतवासियों

के आस्ट्रेलिया या अफ्रीका में बसने पर रोक लगाई जाती थी। अफ्रीका में उन्हें ज़मीन या जायदाद खरीदने, या राय देने का, अंग्रेजों के समान अधिकार प्राप्त नहीं था। कुछ दिनों पहले वह अमरीका के नागरिक भी नहीं बन सकते थे, परन्तु अब भारत के स्वतंत्र हो जाने पर इन दशाओं में धीरे-धीरे सुधार हो रहा है।

भारत के नए विधान में नागरिकता के विषय में निम्नलिखित आयोजन किये गए हैं—

(१) प्रत्येक ऐसा मनुष्य जिसका स्वयं या जिसके माता-पिता या दादा-दादी या इनमें से किसी एक का जन्म भारत में हुआ हो और जिसने पहली अप्रैल सन् १९४७ के पश्चात्, भारत से सदा के लिए बाहर रहने का निश्चय न किया हो, भारत का नागरिक बन सकता है।

(२) ऐसा प्रत्येक मनुष्य भी जिसका स्वयं या जिसके माता-पिता या दादा-दादी या इनमें से किसी एक का भारत पाकिस्तान सहित या लंका या बर्मा या मलाया में जन्म हुआ हो और जिसका निवास स्थान भारत में हो, परन्तु जिसने दूसरे देश की नागरिकता अभी तक ग्रहण न की हो, भारत का नागरिक बन सकता है।

इस प्रकार भारत के नए विधान में, नागरिकता प्राप्त करने के लिए किसी भी व्यक्ति का भारत भूमि से जन्म, अथवा रक्त, अथवा निवास, के कारण सम्बन्ध आवश्यक रखा गया है। पाकिस्तान से आए हुए हिन्दू और सिख शरणार्थी भी ज़िला मैजिस्ट्रेट के सामने एक ऐसा बयान देकर कि वह नए विधान के लागू होने से एक महीने पहिले से भारत में रहते हैं और यहाँ के नागरिक बनकर रहना चाहते हैं नागरिक बन सकते हैं। पाकिस्तान से आए हुए इन लोगों को भारत के अन्य प्रान्तों के निवासियों के ही समान राजनैतिक और सामाजिक अधिकार प्राप्त होंगे। पाकिस्तान में रहने वाले हिन्दू और सिख निवासियों को भी इस बात का पूर्ण अधिकार होगा कि वह भारत और पाकिस्तान में से जिस राज्य की भी

चाहें नागरिकता स्वीकार कर सकते हैं। स्वतंत्र देश के किसी भी नागरिक को इस बात का अधिकार प्राप्त नहीं होता कि वह दो राष्ट्रों का नागरिक बन सके या दूसरे देश की नागरिकता प्राप्त करने के पश्चात् अपने पहले देश की सरकार से अपने अधिकारों की रक्षा की आशा कर सके। प्रत्येक व्यक्ति केवल एक ही देश की नागरिकता प्राप्त कर सकता है। इसलिये आज भारत से बाहर पाकिस्तान, लंका, बरमा, मलाया, कैनेडा, अफ्रीका इत्यादि देशों में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति को इस बात का निर्णय करना है कि वह किस देश का नागरिक बनकर रहना चाहता है हिन्दुस्तान के मुसलमानों को भी इसी प्रकार यह निर्णय करना है कि वे भारत की नागरिकता स्वीकार करना चाहते हैं या पाकिस्तान की। एक बार अन्तिम निर्णय करने के पश्चात् उन्हें यह अधिकार प्राप्त न होगा कि वे दूसरी सरकार से भी अपने अधिकारों की रक्षा की आशा कर सकें।

आदर्श नागरिकता के आवश्यक गुण

राज्य की ओर से प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के लिये अनेक सुविधाएं प्राप्त होती हैं। राज्य द्वारा ही स्कूल और कौलिज, सांस्कृतिक और साहित्यिक संस्थाएँ, चिकित्सालय और आमोद-प्रमोद के अनेक साधनों का प्रबन्ध किया जाता है। राज्य ही किसी देश में सुव्यवस्था बनाए रखने का प्रबन्ध करता है। मनुष्य को राजनैतिक और सामाजिक अधिकार भी राज्य द्वारा ही प्राप्त होते हैं, संक्षेप में राज्य ही मनुष्य के सभ्यतापूर्ण सामाजिक जीवन की जड़ है। इन अनेक सुविधाओं के बदले प्रत्येक मनुष्य के अपने राज्य के प्रति कुछ कर्तव्य हैं। एक अच्छा नागरिक हम ऐसे मनुष्य को कभी नहीं कह सकते जो अपने सामाजिक और राजनैतिक अधिकारों का तो उपभोग करता है परन्तु जो समाज और राज्य के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन नहीं करता। अच्छे नागरिक की यही पहचान है कि वह अपने समाज और राष्ट्र की उन्नति

और विकास के लिए जहाँ तक भी हो सके प्रयत्न करे। प्रत्येक मनुष्य में अपने राष्ट्र के उत्थान के लिये अपने छोटे-छोटे हित और स्वार्थ को त्याग करने की क्षमता होनी चाहिये। आलस्य, व्यक्तिगत जीवन व्यतीत करने की भावना सामाजिक और राष्ट्रीय कार्यों के प्रति उदासीनता एक अच्छे नागरिक जीवन के शत्रु हैं

एक अच्छे नागरिक और अच्छे मनुष्य में अन्तर—परन्तु, यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि एक अच्छे नागरिक और अच्छे मनुष्य के गुणो में भेद हो सकता है। एक अच्छा नागरिक वह मनुष्य है जो अपने देश और राज्य की अधिक से अधिक सेवा कर सके, इसके विपरीत एक अच्छा मनुष्य वह है जिसका व्यक्तिगत जीवन अत्यन्त स्वच्छ और निर्मल हो और जो अपने सदाचार, सत्यता निर्भीकता, धार्मिकता, आचार व्यवहार और मृदुभाषण के कारण समाज में मान पाता हो। एक अच्छे मनुष्य के लिये यह आवश्यक नही कि वह राष्ट्रीय कार्यों में अवश्य भाग ले या किसी राजनैतिक दल का सदस्य हो या किसी चुनाव में खड़ा होता हो। एक अच्छे मनुष्य के गुणों का सम्बन्ध उसके व्यक्तिगत जीवन से हैं, एक अच्छे नागरिक के गुणों का सम्बन्ध उसके सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन से है। एक अच्छा मनुष्य अधिकतर एक अच्छा नागरिक भी होता है, परन्तु ऐसा होना सदा अनिवार्य नहीं। सदा सच बोलना, धर्म में विश्वास और पवित्र जीवन व्यतीत करना एक अच्छे मनुष्य के लिये आवश्यक है, परन्तु एक अच्छे नागरिक के लिये नहीं। प्रत्येक राज्य के अन्तर्गत अनेक जातियों धर्मों और सम्प्रदायों के लोग निवास करते हैं, इन लोगों के विचारो और कार्यों में कितनी ही बार संघर्ष हो जाया करता है, एक कुशल नागरिक और राजनीतिज्ञ का कर्त्तव्य है कि वह अपने व्यवहार और कार्य-कुशलता से इन संघर्षों को रोके और ऐसा करने में यदि उसे सत्य और न्याय का भी त्याग करना पड़े तो देश की शांति और सुव्यवस्था के लिये ऐसा करने से न हिचकिचायें। इसी

प्रकार एक देश की सरकार का दूसरे देशों की सरकार से अनेक प्रकार का सम्बन्ध होता है, दूसरे देशों से सन्धि, व्यापारिक समझौता, फ़ौजी वार्तालाप इत्यादि करने पड़ते हैं। प्रत्येक देश इन कार्यों की पूर्ति के लिये दूसरे देशों में अपने राजदूत नियुक्त करता है। इन राजदूतों का कर्तव्य है कि वह अपने देश की उन्नति और उत्थान के लिये यदि आवश्यकता पड़े तो छल और कपट, दण्ड और लोभ और दूसरी कूटनीतिपूर्ण चालों से भी काम लें, एक अच्छे मनुष्य को ये सारी बातें घृणास्पद प्रतीत होती है, परन्तु राष्ट्र और राज्य की भलाई के लिए, राजनीति में इन बातों के अपनाने में किसी प्रकार का दोष नहीं समझा जाता।

अच्छे नागरिक के आवश्यक गुण—इसलिए जो गण मनुष्य को एक आदर्शमय जीवन व्यतीत करने के लिये अपनाने पड़ते हैं, अच्छे नागरिक के लिये अनिवार्य नहीं। अच्छे नागरिकों में बुद्धिमत्ता, दूरदर्शिता, तीव्र विचारशीलता, आत्मनियन्त्रण और अपने सिद्धांतों के प्रति प्रगाढ़ भक्ति के भाव होने चाहियें। उन्हें सदा सार्वजनिक सेवा के लिये उद्यत रहना चाहिए। दूसरों की अच्छाई और समाज के हित के लिए अधिकाधिक स्वार्थ त्याग करने की तत्परता एक प्रकार नागरिक जीवन की प्रथम अवस्था है। कुशल नागरिकों को विवेकशील होना चाहिये। उनमें अच्छे और बुरों की पहिचान और निष्पक्ष भावों से सभी बातों पर विचार करने की क्षमता होनी चाहिये। उनका अन्तःकरण निर्मल और स्वच्छ होना चाहिए जिससे वह ईमानदारी और निर्भीकता से अपने कर्तव्यों का पालन कर सकें। उन्हें अपने राज्य के प्रति भक्ति रखनी चाहिये जिससे वह उसके सारे उचित आदेशों का पालन कर सकें। डाक्टर ह्वाइट का कथन है कि अच्छे नागरिक में साधारण ज्ञान, बुद्धि और भक्ति होनी चाहिये। उसे सार्वजनिक प्रश्नों पर लोकप्रियता नाश होने के भय को त्यागकर निर्भीकतापूर्वक अपने विचारों को प्रकट

करना चाहिये। तभी वह उस समाज और राज्य का कल्याण कर सकता है जिसका कि वह सदस्य है।

अच्छे नागरिक बनने के लिए जिन गुणों की आवश्यकता है उनकी विस्तृत सूची देना असम्भव है। एक आदर्श नागरिक का व्यवहार इतना उज्ज्वल होना चाहिये कि उसका प्रकाश आसपास के वातावरण को भी निर्मल कर दे। आदर्श नागरिकता का सम्बन्ध जीवन के व्यवहार से है गुणों के ज्ञान से नहीं। हमारे जीवन में ऐसे अवसर बहुत कम आते हैं जब हमें कोई बड़ा बलिदान करने के लिये आवाहन किया जाता है, हमारे प्रतिदिन और प्रतिक्षण के व्यवहार से ही हमारी नागरिकता और हमारी अच्छाई का पता चलता है। हम किस प्रकार बैठते हैं, किस प्रकार बातें करते हैं, किस प्रकार अपने आसपास में सफाई रखते हैं, किस प्रकार अपने मित्रों, अतिथियों और अपने घर की महिलाओं से व्यवहार करते हैं किस प्रकार अपने पड़ोसियों के साथ मिल-जुलकर रहते हैं, किस प्रकार सार्वजनिक कार्यों में भाग लेते हैं—ये कुछ बातें हैं जिनसे हमारा नित्य का जीवन बनता और बिगड़ता है और जिससे हम सामाजिक चरित्र पर एक अमिट प्रभाव डाल सकते हैं। इसलिये एक अच्छे नागरिक को उन चीजों की ओर विशेष ध्यान देना चाहिये जिन्हें हम जीवन की मामूली बातें कहकर उपेक्षा की दृष्टि से ठुकरा देते हैं। इन्हीं छोटी-छोटी बातों में पूरा उतरने से हम अपने जीवन के स्तर को ऊँचा उठा सकते हैं।

लार्ड ब्राइस का कहना है कि एक आदर्श नागरिक में तीन गुण अवश्य होने चाहियें - बुद्धि चमत्कार, आत्मसंयम और सहानुभूति। नागरिक को राष्ट्रीय कार्यों में भाग लेना पड़ता है, उसमें इतनी बुद्धि अवश्य होनी चाहिये कि वह अच्छे और बुरे की पहिचान कर सके। वह चुनावों में केवल योग्य व्यक्ति को ही वोट दे और अयोग्य व्यक्ति को राजकाज के प्रबन्धों से दूर रखने का प्रयत्न कर सके।

आत्म संयम के बिना नागरिक अपने कर्तव्यों को निर्भीकता और स्वार्थहीनता से पालन नहीं कर सकता। मनुष्य में इतना संयम अवश्य होना चाहिए कि वह एक बड़े हित की पूर्ति के लिये छोटे हित का बलिदान कर सके। मनुष्य में प्रेम और सहानुभूति के बिना आत्म-संयम का भाव निर्माण नहीं होता, सहानुभूति का भाव मनुष्य को ईर्षा, द्वेष, क्रोध. लोभ और प्रतिस्पर्धा से दूर रखता है। आज हमारे देश में आदर्श नागरिकों की काफी कमी है। हम जहाँ नज़र डालें हमें उदासीन, स्वार्थी, प्रेमहीन, धन के पुजारी और असंयमी जीव ही अधिक देखने को मिलते हैं। हमारा जीवन इतना व्यक्तिगत बन गया है कि हम अपना और अपने परिवार का पालन-पोषण करने में ही अपने जीवन की इतिश्री समझ बैठते हैं। हम सार्वजनिक कार्यों में भाग नहीं लेते, भाग लेते भी हैं तो अपने स्वार्थ सिद्धि के आशय से. राष्ट्र हित की भावना से नहीं। हमारे राजनैतिक दलों में कितनी छोटी-छोटी पार्टियाँ बन जाती हैं. छोटी-छोटी बातों पर हम झगड़ा करने लगते हैं। हमारे जीवन से संयम और अनुशासन का प्रायः लोप सा हो चुका है हम में धन संचय की अधिक भावना पैदा हो गई है और चाँदी के कुछ टुकड़ों पर ही हम अपने राष्ट्र हित को बलिदान करने पर उद्यत हो जाते हैं। आज भारत स्वतंत्र हो गया है परन्तु हमारा नैतिक पतन इतना बढ़ गया है कि शायद अपने चरित्र के स्तर को ऊँचा उठाने में हमें वर्षों लग जाएं। आज हमारे देश की शिक्षा तथा अन्य प्रकार की सब संस्थाओं का केवल एक कर्तव्य होना चाहिए और वह यह कि हम भारत में आदर्श नागरिक उत्पन्न करने का प्रयत्न करें।

नागरिकता कर्तव्यों के उचित क्रम निर्माण पर अवलम्बित है

एक अंग्रेज़ लेखक डाक्टर विलियम बौयड का कहना है "Citizenship consists in the right ordering of loyalties"

इस कथन का आशय यह है कि प्रत्येक नागरिक को अपने कर्तव्यों का समष्टीकरण इस प्रकार करना चाहिए कि जिससे वह अपने समाज का अधिकाधिक हित साधन कर सके। दूसरे शब्दों में नागरिक का जीवन इस प्रकार व्यतीत हो कि उसके जीवन से संघर्ष और फूट अलग हो जावे और उसमें से कलह और संघर्ष निकलकर शांति और सुख का साम्राज्य स्थापित हो सके और मनुष्य अपने व्यक्तित्व का उच्चातिउच्च सीमा तक विकास कर सके।

मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास और आत्मोन्नति केवल समाज ही में हो सकती है। सामाजिक जीवन का अर्थ मनुष्य के विभिन्न संगठनों और संस्थाओं की सदस्यता ही है। मनुष्य जितना भी अधिक संगठनों का सदस्य होगा उतना ही अधिक उसके व्यक्तित्व का बिकास हो सकेगा। एक मनुष्य धार्मिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, परोपकारी, मनोरंजक, औद्योगिक और अनेक अन्य प्रकार के सङ्गठनों का सदस्य रहता है। उसे इन सब संगठनों की सदस्यता से कुछ अधिकार प्राप्त होते हैं और इसके बदले में उसे उन सब के प्रति कुछ कर्तव्यों का भी पालन करना पड़ता है। हमारे दैनिक जीवन में कई बार ऐसे अवसर आते हैं जब कि हमारा एक सगठन के प्रति कर्तव्य दूसरे सगठन के कर्तव्य से संघर्ष में आता है। ऐसी दशा में नागरिकशास्त्र हमें इस संघर्ष को हल करने का उपाय बतलाता है और वह उपाय यह है कि ऐसी चिन्ताजनक परिस्थिति में नागरिक को अपने विस्तृत स्वार्थ के लिये एक छोटे स्वार्थ का त्याग कर देना चाहिए। सम्भवतः कुछ उदाहरणों से हमारी यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जावेगी।

यदि हमारे पारिवारिक हितों का हमारे नागरिक हितों से संघर्ष होता है तो हमारा कर्तव्य है कि हम अपने नगर या ग्राम के हित के लिए अपने परिवार के हित का त्याग कर दें। परिवार के हित से एक नगर या ग्राम के हितों का मूल्य निःसन्देह अधिक होता है। यदि हमारे

पड़ोसी के मकान में आग लग जावे अथवा हमारे पड़ोस में कोई आदमी सख्त बीमार हो तो हमारा कर्तव्य है कि हम सब काम छोड़कर अपने पड़ोसी की सेवा में लग जावें। यद्यपि इस प्रकार हमारे कार्य करने से परिवार के लोगों को कुछ न कुछ असुविधा अवश्य होगी परन्तु फिर भी एक नागरिक होने के नाते हमारा कर्तव्य है कि हम अपने परिवार के क्षणिक सुख की परवाह न करके अपने पड़ोसी की सेवा करने में लग जावें। जो मनुष्य अपने पड़ोसियों के हित की चिन्ता नहीं करता और सदा अपने परिवार के ही कामों में लगा रहता है वह स्वार्थी और सकुचित हृदय का मनुष्य कहलाता है।

इसी प्रकार राष्ट्र के हित के लिए हमें दूसरे सारे भी हितों का त्याग कर देना चाहिए। जिस समय समूचे राष्ट्र पर विपदा पड़ी हो, या उसकी रक्षा का प्रश्न हमारे सामने हो, तो हमारा कर्तव्य है कि हम देश की रक्षा के लिए अन्यान्य सभी हितों का बलिदान कर दें।

परन्तु कभी-कभी ऐसा भी हो जाता है कि एक राष्ट्र का हित मानव-समाज के हित से सघर्ष मे आ जाता है। फासिस्ट और साम्राज्यवादी देशों के इतिहास में, इस प्रकार के कितने ही उदाहरण देखने को मिलते हैं। जब कोई देश मिथ्या यश की प्राप्ति के लिए, संसार के कमज़ोर देशों की स्वाधीनता और स्वतंत्रता को कुचलने का विचार कर लेता है तब उसके नागरिकों का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह युद्ध करने से इन्कार कर दें और इस प्रकार मानव-समाज को आततायियों के चंगुल में पड़ने से बचाएँ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आदर्श नागरिकता का सबसे बड़ा नियम यह है कि मनुष्य एक उच्च हित की प्राप्ति के लिए अपने छोटे हित का बलिदान कर दे। इसलिए दूसरे शब्दों में, मनुष्य, परिवार के हित के लिए अपना, नगर के लिए परिवार का, देश के लिए नगर का और मानव-समाज के लिए देश का, बलिदान करने के लिए उद्यत रहें।

आदर्श नागरिक बनने में कुछ बाधाएँ

हमारे समाज की व्यवस्था अथवा हमारे व्यक्तिगत आचार में कुछ ऐसे दोष हैं जो हमारे एक अच्छा नागरिक बनने में बाधायें उत्पन्न करते हैं। साधारणतया हम इन दोषों का इस प्रकार वर्णन कर सकते हैं—

(१) **प्राचीन रीति-रिवाज और प्रथाएँ**—रूढ़िवादी और पुरातन-वादी विचार नागरिकता के मूलतत्व के विरोधक हैं। पुराने आदर्शों पर चलना कोई बुरी चीज़ नहीं परन्तु पुरानी बातों को केवल इसलिए अपनाना कि वह प्राचीन काल से चली आती हैं और इसलिए पवित्र हैं, अवैज्ञानिक भावना है। हमें केवल उन्हीं प्राचीन आदर्शों को अपनाना चाहिए जो वर्तमान काल में वैज्ञानिक दृष्टि से अच्छे हों। दूसरी पुरानी रीति-रिवाजों का हमें त्याग कर देना चाहिए। परन्तु हम देखते हैं कि मनुष्य पुराने संस्कारों में इतना जकड़ जाता है कि वह इच्छा रहते हुए भी प्राचीन रूढ़ियों से अपने आप को स्वतं . नहीं कर सकता। भारत में ही नहीं दूसरे देशों में भी यही दशा है। इङ्गलैण्ड में आज लौडर्स और कौमनर्स की प्रथा इसी बात का द्योतक है। हमारे देश में छुआछूत, जात-पाँत, ऊँच-नीच की भावना भी इसी पुरातन भावना के उदाहरण हैं।

(२) **सार्वजनिक कर्तव्यों के प्रति उदासीनता**—नागरिक कर्तव्यों को उचित रूप से पालन करने में एक और ज़बर्दस्त बाधा उदासीनता है। बहुत से मनुष्य सार्वजनिक कार्यों में किसी प्रकार का भाग नहीं लेते, वह समझते हैं कि व्यक्तिगत स्वार्थ की पूर्ति ही संसार में सबसे बड़ी चीज है. ऐसे मनुष्य कभी भी अच्छे नागरिक नहीं बन सकते। किसी समाज का उत्थान केवल उस समय होता है जब उसका प्रत्येक सदस्य किसी न किसी प्रकार से समाज के कामों में भाग ले। व्यक्ति समाज से अनेक प्रकार की सुविधायें प्राप्त करता है। स्कूल, कालेज, लाइब्रेरी, क्लब, कलाकेन्द्र, साहित्यिक संस्थायें इत्यादि हमें समाज की ही देन हैं,

इन्हीं संस्थाओं के द्वारा मनुष्य अपने व्यक्तित्व का विकास करता है। यदि हम समाज से यह सारी सुविधायें प्राप्त करते हैं, तो हमारा धर्म है कि हम स्वयं भी सामाजिक कार्यों में भाग लें, नये स्कूल खोलें, अशिक्षितों को शिक्षा दें, गरीब और अपाहिजों की सेवा करें, नए साहित्यिक और कलाकौशल के केन्द्रों की स्थापना करें इत्यादि। सार्वजनिक कार्यों के लिए कोई एक या कोई विशेष व्यक्तियों का समूह ज़िम्मेदार नहीं, प्रत्येक व्यक्ति को ही अपनी योग्यतानुसार सार्वजनिक कार्यों में भाग लेना चाहिये। "इस बात का मेरे से क्या सम्बन्ध है" "दो व्यक्ति आपस में झगड़ा करते हैं तो हमें इससे क्या," "अमुक आदमी एक सरकारी काम में ग़बन करता है, हम क्यों इस बात की रिपोर्ट करें", "अमुक व्यापारी चोर बाजार में चीज़ें बेचता है परन्तु हम क्यों उसकी शिकायत करके उससे दुश्मनी मोल लें" इत्यादि—इस प्रकार की बातें नागरिकता के सिद्धांत के विरुद्ध हैं। समाज के प्रत्येक व्यक्ति का धर्म है कि वह सामाजिक बुराइयों को दूर करने का प्रयत्न करे और सामाजिक कार्यों में बिना किसी भय के भाग ले।

(३) **व्यक्तिगत स्वार्थ** (Personal Self-interest)—एक तीसरा दोष जो नागरिक को नीच बना देता है वह व्यक्तिगत स्वार्थ है। इसके कारण मनुष्य सार्वजनिक हित के कार्य के लिये अयोग्य बन जाता है। वह सार्वजनिक हित के लिए अपने अल्प सुखों का त्याग नहीं कर सकता।

स्वार्थी मनुष्य सदा अपना हित चाहता है। अपने हित साधन के लिए यदि उसे राष्ट्रीय हित का भी बलिदान करना पड़े तो वह इसमें नहीं हिचकिचाता। वह थोड़े आर्थिक लाभ के लिये अपने देश को बेच सकता है। वह अपने हित साधन के लिये सरकारी पद के अधिकारों का दुरुपयोग कर सकता है। इस प्रकार व्यक्तिगत स्वार्थ आदर्श नागरिक जीवन की तीसरी बड़ी कठिनाई है।

(४) **दरिद्रता**—अच्छे सामाजिक जीवन के लिए चौथी बड़ी बाधा दरिद्रता है। दरिद्री और कङ्गाल मनुष्य समाज में नीचातिनीच दुष्कर्म और पाप कर सकता है। जिस मनुष्य को दिन में दो बार खाना भी नहीं मिलता वह डकैती, चोरी, हत्या, दग़ाबाज़ी और अन्य बुरे कार्यों में पड़ सकता है। किसी कवि ने ठीक ही कहा है 'बुभुक्षितम् किं न करोति पापम्' हमारे राष्ट्र के सदाचार के निर्माण के लिये दरिद्रता का अन्त परमावश्यक है।

(५) **दलबन्दी-प्रथा**—प्रजातंत्रात्मिक शासन को चलाने के लिये राजनैतिक दल आवश्यक हैं। परन्तु इस प्रकार के दल धार्मिक या साम्प्रदायिक प्रश्नों पर नहीं वरन् राजनैतिक, आर्थिक या सामाजिक उद्देश्यों पर बनाने चाहियें। बहुत बार राजनैतिक दल व्यक्तिगत स्वार्थ की भावना को लेकर बना दिये जाते हैं। इस प्रकार के दलों से देश को हानि पहुँचने की सम्भावना रहती है। बहुत बार राजनैतिक दलों के सदस्य अपने दल की शक्ति का उपयोग राज्य की भलाई के लिए नहीं वरन् केवल दल के सदस्यों के हित को प्राप्ति के लिये करने लगते हैं। इस प्रकार की भावना से समाज का नैतिक पतन हो जाता है और उसमें संघर्ष और पतन की भयंकर परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। नागरिकता का आदर्श सबकी सेवा करना है परन्तु अधिक फिरक़ापरस्ती की भावना से काम करने वाले लोग इसे भूल जाते हैं और इस प्रकार समाज का अधःपतन और नाश होने लगता है। संकुचित दलबन्दी की भावना इस प्रकार आदर्श नागरिकता के मार्ग में पाँचवीं बड़ी बाधा है।

(६) **अशिक्षा**—शिक्षा सामाजिक उन्नति का प्रधान साधन है। इससे व्यक्तियों के हृदय में वास्तविक नागरिक चैतन्यता और सार्वजनिक कार्यों में सच्चा अनुराग पैदा होता है। शिक्षा के अभाव से समाज में अनेक बुराइयाँ पैदा हो जाती हैं और उनके कारण देश अधःपतन की ओर बढ़ता चला जाता है।

(७) **राष्ट्रवाद, पूँजीवाद, और साम्राज्यवाद की प्रबल भावना**—अंत में आदर्श नागरिकता के मार्ग में अंध राष्ट्रवाद, साम्राज्यवाद और पूंजीवाद की भावनाएं नुकीले तेज़ काँटों का काम करती हैं। मनुष्य में राष्ट्रीय भावना का होना अत्यन्त श्रेयस्कर है परन्तु इस भावना का उग्र रूप, मनुष्य को पागल भी बना सकता है। प्रत्येक व्यक्ति को देश-भक्त होना चाहिए परन्तु यह देश-भक्ति इतनी अंधी न हो कि मनुष्य अपने देश की झूठी शान और गौरव को बढ़ाने के लिए दूसरे देशों की स्वतंत्रता का अपहरण करने लगे। नाज़ी जर्मनी और फासिस्ट इटली में पिछले दिनों एक ऐसी ही उग्र राष्ट्रीय भावना वहाँ के नागरिकों के हृदय में पैदा की गई थी। इसका परिणाम यह हुआ कि इन देशों की जनता ने दूसरे यूरुप के स्वतंत्र देशों को कुचलकर वहाँ की जनता को अपना गुलाम बनाकर रखना चाहा। अंत में इन पाशविक शक्तियों की हार हुई परन्तु इससे यह सदा के लिए ही सिद्ध हो गया कि मनुष्य में झूठी देश-भक्ति और राष्ट्रीयता का भाव कितना भयंकर और उग्र रूप धारण कर सकता है। पिछले दिनों हमारे देश के कुछ नवयुवकों के वर्ग में भी ऐसी ही भावना का संचार होने लगा था, परन्तु भारत सरकार की सतर्कता के कारण यह विष अधिक नहीं फैलने पाया।

अंध राष्ट्रवादिता का दूसरा नाम साम्राज्यवाद की भावना भी है। जब एक देश अपनी स्वतंत्रता प्राप्त करने के पश्चात् अपनी सैन्य शक्ति के बल से, दूसरे देशों की स्वतंत्रता का अपहरण करना चाहता है तो उस देश को साम्राज्यवादी देश कहते हैं। स्वतंत्र राष्ट्रों में यह भावना अनेक राजनैतिक और आर्थिक कारणों के द्वारा पैदा हो जाती है। परन्तु अन्ध राष्ट्रीयता की भावना के समान ही यह भावना भी नागरिकता की दृष्टि से अत्यन्त हानिकारक सिद्ध होती है, और किसी भी स्वतंत्र देश के नागरिकों में इस भावना का संचार नहीं होने देना चाहिए।

साम्राज्यवाद के पश्चात् पूँजीवाद की उत्कृष्ट भावना भी आदर्श

नागरिकता के मार्ग में एक भारी रुकावट है। पूँजीवादी लोग अपने धन की पिपासा को शांत करने में उचित और अनुचित, अच्छे और बुरे, किसी प्रकार के साधनों में भी अंतर नहीं करते। ग़रीबों का ख़ून चूसना और श्रमिक वर्ग का शोषण, उनका एकमात्र धर्म बन जाता है। उनके हृदय से उदारता, दया, प्रेम, सहानुभूति, सहृदयता और इसी प्रकार के दूसरे सभी गुणों का लोप हो जाता है और वह लोहे की एक कल-पुर्जे वाली मशीन के समान भावना-शून्य बन जाते हैं। अंध राष्ट्रीयता, साम्राज्यवाद और पूँजीवाद यह तीनों ही भावनाएं एक दूसरे से संबन्धित हैं। और इसलिए यह तीनों ही आदर्श नागरिकता के मार्ग में भारी रुकावटें हैं।

इन बाधाओं को दूर करने के उपाय

आदर्श नागरिकता के माग में आने वाली बाधाओं को दूर करने के लिए यह आवश्यक है कि देश और राज्य की सारी भी शक्ति इस ओर लगा दी जाय, देश की शिक्षा संस्थाएँ, सरकार का प्रचार विभाग, रेडियो, समाचार-पत्र, सांस्कृतिक संस्थाएँ, कला केन्द्र, राजनैतिक दल, धार्मिक संस्थाएँ इत्यादि नवयुवकों को आदर्श नागरिकता की शिक्षा पर ही ज़ोर दें। किसी देश का गौरव और उत्थान उसके नागरिकों के चरित्र पर अवलम्बित होता है। चरित्रहीन मनुष्यों की भीड़ से कोई भी समाज उन्नति नहीं कर सकता। आदर्श चरित्रवाला एक भी मनुष्य देश और राष्ट्र का नाम संसार में जगमगा सकता है। आज भारत को गाँधी जैसे योग्य पुरुष को जन्म देने पर गौरव है। परन्तु किसी देश में ऐसी संतान उत्पन्न करने के लिए, एक उपयुक्त वातावरण की आवश्यकता पड़ती है। वह वातावरण तभी निर्माण हो सकता है जब देश की शिक्षा और सांस्कृतिक संस्थाएँ इस ओर विशेष ध्यान दें, देश के राजनैतिक दलों का निर्माण साम्प्रदायिक प्रश्नों को छोड़कर आर्थिक और राजनैतिक समस्याओं पर हो, हमारे घर में स्त्रियों को उचित प्रकार की शिक्षा दी

जाय और हमारे पारिवारिक जीवन का सहयोग और प्रेम की भावना पर निर्माण हो। आदर्श नागरिकों के निर्माण के लिए परिवार एक अमिट शिक्षणालय है, इसलिए परिवार में हमें अपनी माताओं को विशेष रूप से शिक्षा देनी चाहिए। उन्हें सन्तति पालन, सफ़ाई, सार्वजनिक स्वास्थ्य का पाठ पढ़ाना चाहिए। प्रत्येक परिवार में आर्थिक न्यूनतम की भी व्यवस्था होनी चाहिए जिससे बालकों के पालन-पोषण और शिक्षा का आसानी से प्रबन्ध हो सके। परिवार के दूसरे सदस्यों को सार्वजनिक कार्यों में भाग लेने का समय भी मिलना चाहिए। ऐसा तभी हो सकता है जब कोई परिवार कमाने की चिन्ता से मुक्त हो सके। अवकाश प्राप्त मनुष्य ही समाज की संस्कृति की उन्नति कर सकता है। जिस मनुष्य को अपने दैनिक उदर पोषण के कामों से ही अवकाश नहीं मिलता वह सार्वजनिक सेवा के लिए कहाँ से समय निकाल सकता है।

योग्यता-प्रश्न

(१) आप 'नागरिक और नागरिकता' शब्दों से क्या समझते हैं?

(२) "नागरिकता का अर्थ हमारी शक्ति को, अपने में, परिवार में, धर्म में, नगर में और राष्ट्र में क्रमानुसार उचित रूप से जमाना है।" इस पर प्रकाश डालिए। (यू० पी०, १६३८ और १६३६)

(३) "मनुष्य की उच्च उन्नति उसके अल्प हितों को उच्च और विस्तृत हितों के लगातार आधीन बनाने में सन्निहित है" इसका विवेचन कीजिये। (यू० पी०, १६३६)

(४) जन्मजात नागरिक (Natural-born Citizen) और राज्यदत्त नागरिक (Naturalised Citizen) की भिन्नता समझाइए। नागरिकता किस प्रकार प्राप्त की जाती है और किस प्रकार नष्ट हो जाती है, इस पर प्रकाश डालिए।

(५) "नागरिकता जीवन की वह परिस्थिति है जो मनुष्य को राज्य-भक्ति प्रदर्शित करने के बदले में नागरिक और राजनैतिक सभी प्रकार के

अधिकारों के उपभोग की पूर्ण व्यवस्था करती है।" इस पर प्रकाश डालिए। (यू० पी०, १६४१)

(६) अच्छे नागरिक के लिये कौन से गुण आवश्यक हैं? वे किस प्रकार सर्वोत्तम ढंग से प्राप्त किये जा सकते हैं? बतलाइए।

(७) आप नागरिकता की किस तरह व्याख्या करेंगे। नागरिक के राज्य के प्रति क्या कर्तव्य हैं? (यू० पी०, १६३२ और १६३६)

(८) अच्छी और ख़राब नागरिकता के भेद समझाइये। अच्छी नागरिकता की बाधाएँ क्या हैं और वे किस तरह हटाई जा सकता हैं? (यू० पी०, १६३६)

(६) एक नागरिक, एक विदेशी और एक प्रजा के भेद समझाइये। अच्छे नागरिक में कौन से गुण होने चाहिए?

(१०) अच्छी नागरिकता की बाधाओं का वर्णन कीजिए और बतलाइये कि वे किस तरह हटाई जा सकती हैं? (यू० पी०, १६३८)

(११) "नागरिकता का अर्थ भक्ति का उचित क्रमानुसार संगठन है।" आप अपनी भक्ति परिवार, नगर, समाज और देश के प्रति किस प्रकार से संगठित करेंगे। यह समझाइये। (यू० पी०, १६३६)

छठा अध्याय

अधिकार और कर्तव्य

पिछले अध्यायों में हमने समाज की अतीतावस्था पर एक विहंगम दृष्टि डाली है और वर्तमान समाज के सङ्गठन का भी कुछ वर्णन किया है।

सामाजिक व्यवस्था का उपयोग विभिन्न उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए किया जा सकता है। उदाहरण के लिये इसके द्वारा एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों पर आतंक फैलाने की चेष्टा कर सकता है अथवा एक ही देश के अन्दर ग़रीब मजदूरों और किसानों का शोषण किया जा सकता है। इसलिए राज्य और उसके विभिन्न अंगों का अध्ययन करने से पहले उन आदर्शों का वर्णन करना चाहिये जिसके अनुसार हमें समूचे सामाजिक सङ्गठन की व्यवस्था करनी है। आदर्श सामाजिक व्यवस्था वह है जिसमें प्रत्येक मनुष्य को चाहे वह किसी भी वर्ण, जाति, धर्म, सम्प्रदाय या लिङ्ग से सम्बन्ध रखता हो अपनी हित साधना के लिये बराबर के ही अवसर प्राप्त हों। ऐसा सामाजिक सङ्गठन समाज के प्रत्येक मनुष्य के लिए एक से ही अधिकार और कर्त्तव्यों की प्राप्ति पर अवलम्बित है इसलिए प्रस्तुत अध्याय में हम सर्वप्रथम मनुष्य के अधिकारों और कर्तव्यों का ही विवेचन करेंगे।

§ १. अधिकारों का स्वभाव

अधिकारों का अर्थ और व्याख्या—नागरिक विज्ञान में अधिकारों और कर्त्तव्यों का विचार एक बहुत आवश्यक स्थान रखता है परन्तु दुर्भाग्यवश अधिकांश लोग इस शब्द का ठीक-ठीक अर्थ नहीं

समझते। विद्वान् लोगों में भी इस शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में भेदभाव है। इसलिये सर्वप्रथम हम अधिकारों के विषय में विभिन्न राजनैतिक लेखकों के मतों का अध्ययन करेंगे।

'हौलैंड' अधिकार की व्याख्या इस प्रकार करता है कि "वह एक मनुष्य द्वारा दूसरे मनुष्य के कर्तव्यों को समाज के मत और शक्ति द्वारा प्रभावित करने की क्षमता है।" आस्टिन उसी शब्द की दूसरी प्रकार व्याख्या करता है कि 'एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य या मनुष्यों से बलपूर्वक कुछ विशेष प्रकार के काय कराने की क्षमता का नाम अधिकार है।' विले अधिकार शब्द की और प्रकार से व्याख्या करता है कि "यह विशेष कार्य पालन करने में स्वाधीनता की उचित माँग है।' क्रौस एक और ही नए ढंग से अधिकारों की प्रथा का वर्णन करता है कि यह "नैतिक जीवन की बाह्य आवश्यक शर्तों का आंगिक समूह है।' हमारे विचार से अधिकार शब्द की सबसे उत्तम परिभाषा यह है कि अधिकार मनुष्य या मनुष्य समुदाय के अच्छा जीवन व्यतीत करने की वह माँगें हैं जो समाज द्वारा समान हित की भावना से स्वीकृत कर ली गई हों।

अधिकारों का ब्यौरा—ऊपर की गई परिभाषा के अन्तर्गत अधिकारों के तीन आवश्यक अंग हैं :—

(१) 'अधिकार' एक मनुष्य या मनुष्यों के समुदाय की माँग का नाम है। २) यह वह माँग है जो उस मनुष्य या मनुष्य समूह के हित के लिए आवश्यक है। (३) यह वह माँग है जिसे पूरा समाज भी अपने सब सदस्यों के हित के लिए आवश्यक समझता है। अब हम अधिकारों के इन तीनों अंगों का विस्तार से वर्णन करेंगे :—

(१) प्रत्येक मनुष्य की अनेक इच्छाएं होती हैं जिन्हें वह सन्तुष्ट करना चाहता है। ये इच्छाएं केवल विशेष परिस्थितियों में और विशेष वस्तुओं द्वारा ही सन्तुष्ट की जा सकती हैं। इसलिए स्वाभाविकतया मनुष्य उन परिस्थितियों और वस्तुओं पर अपना प्रभुत्व जमाना चाहता

है। मनुष्य की इन अवस्थाओं को प्राप्त करने की माँग पर ही अधिकारों की नींव क़ायम है।

(२) परन्तु मनुष्य की बहुत-सी माँगे ऐसी होती हैं जो वास्तव में उसके सच्चे और स्थायी हित के अनुकूल नहीं कही जा सकतीं। उदाहरण के लिये हम देखते हैं कि बहुत से लोग शराब या दूसरी मादक वस्तुओं का प्रयोग करना चाहते हैं और यदि उन्हें यह चीज़ें न मिलें तो फिर आत्महत्या करने पर उतारू हो जाते हैं। ऐसी माँग मनुष्यों के अधिकार नहीं कहे जा सकते। क्योंकि यह उनके सच्चे हित के विरुद्ध है। इसके अतिरिक्त जो लोग विवेक से काम करने की क्षमता रखते हैं और स्वभावतया नैतिक जीवन व्यतीत करते हैं हम उन्हीं लोगों के लिये अधिकारों की कल्पना कर सकते हैं। विवेकहीन और अपवित्र विचारों वाले व्यक्तियों के लिए नहीं। पशु-संसार में एक पशु का दूसरे पशु के विरुद्ध किसी प्रकार का अधिकार नहीं होता। एक शेर जब चाहे और जब भी उसका दाँव लगे एक भेड़ या बकरी या दूसरे किसी जानवर को मारकर खा सकता है, भेड़ या बकरी को शेर के विरुद्ध रक्षा का अधिकार प्राप्त नहीं। ऐसा इसलिए है कि पशु समाज का संगठन विवेक या नैतिकता के आधार पर नहीं वरन् भावना के आधार पर होता है। अधिकारों का अस्तित्व केवल एक विवेकशील और नैतिक समाज में ही हो सकता है। विवेक और नैतिकता, 'माँग' को अधिकार बनाती हैं। इसलिए हम मनुष्य की केवल ऐसी ही माँगों को अधिकार कह सकते हैं जो उसके हित अथवा नैतिक जीवन के लिये आवश्यक हों।

(३) अन्त में, माँग उस समय तक अधिकार नहीं बन सकती जब तक उसे समाज की स्वीकृति प्राप्त न हो। ऐसा होने के दो कारण हैं। पहला यह कि मनुष्य समाज में रहकर ही एक अच्छा जीवन व्यतीत कर सकता है। समाज से बाहर जैसा हम पहिले देख चुके हैं, मनुष्य न अपनी आवश्यकताओं की ही पूर्ति कर सकता है और न अपने व्यक्तित्व का

विकास। यदि समाज, अपनी नैतिक शक्ति द्वारा दूसरे मनुष्यों से एक मनुष्य की माँगों की पूर्ति नहीं कराता, तो ऐसी दशा में मनुष्यों को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपनी ही शक्ति पर निर्भर रहना पड़ता है; और ऐसा करने में समाज में अनेक प्रकार के झगड़े पैदा हो जाते हैं। किसी भी मनुष्य के अधिकार सुरक्षित नहीं रहते और समाज का संगठन अस्त-व्यस्त हो जाता है। इसलिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि मनुष्य की प्रत्येक माँग को समाज निष्पक्ष भाव से जाँचे और यदि उसे न्यायसंगत पाए तो उसे अधिकार का रूप दे दे। समाज द्वारा माँग के न्यायपूर्ण मान लिए जाने पर उसमें समूचे समाज की शक्ति जुड़ जाती है; और इसके पश्चात् सारा समाज ही अपने नैतिक बल द्वारा उस माँग की पूर्ति कराने में लग जाता है। इसलिए यह आवश्यक है कि समाज द्वारा मनुष्य के प्रत्येक अधिकार की स्वीकृति प्राप्त हो। समाज द्वारा अधिकार की स्वीकृति अनिवार्य होने का एक दूसरा भी कारण है और वह यह कि अधिकारों का विचार केवल समाज में ही उत्पन्न होता है। मनुष्य समाज से अलग रह कर एक निर्जन स्थान में अपना जीवन व्यतीत नहीं कर सकता। यदि ऐसा संभव भी हो सकता तो मनुष्य को अधिकारों की आवश्यकता ही नहीं पड़ती, वह तो सारे ही जंगल का स्वामी होता। अधिकारों की आवश्यकता तो केवल ऐसे समाज में पड़ती है जहाँ दूसरे मनुष्य भी रहते हों और जहाँ एक मनुष्य के अधिकार दूसरे मनुष्य के अधिकारों से संघर्ष में आते हों। समाज में रहकर प्रत्येक मनुष्य एक सुखी और समृद्धिशाली जीवन व्यतीत करना चाहता है। ऐसा करने के लिए आवश्यक है कि समाज के दूसरे लोग उसे ऐसा जीवन व्यतीत करने की आवश्यक सुविधायें प्रदान करें। जब समाज के दूसरे सभी व्यक्ति इस प्रकार की सुविधायें देने के लिये उद्यत हो जाते हैं, तो मनुष्य की माँग अधिकार का स्वरूप धारण कर लेती है; परन्तु ऐसी सुविधा प्राप्त करने में प्रत्येक मनुष्य को समाज के दूसरे सदस्यों के प्रति भी अपने कर्तव्यों का पालन करना पड़ता है। इस प्रकार

हम देखते हैं कि समाज की स्वीकृति और संरक्षता अधिकारों की आधार-शिला है।

अधिकार केवल कर्तव्यों की दुनिया में ही जीवित रह सकते हैं

अधिकार शब्द का आशय समझ लेने के पश्चात् प्रश्न उठता है कि अधिकारों और कर्तव्यों का आपस में क्या सम्बन्ध है। कुछ लोग इन दोनों नियमों को एक दूसरे का विरोधी समझते हैं, क्योंकि अधिकार शब्द से उन्हें एक प्राप्ति की भावना होती है और कर्तव्य से हानि की। वह समझते हैं कि अधिकारों की प्राप्ति से वह अपनी इच्छाओं की पूर्ति कर सकते हैं, परन्तु कर्तव्यों के बोझ से उन्हें कुछ शारीरिक अथवा मानसिक कष्ट होता है।

अधिकार और कर्तव्यों के परस्पर सम्बन्ध के विषय में यह मत एकदम भ्रमात्मक है। अधिकार और कर्तव्य तो एक दूसरे के विरोधी नहीं वरन् सहायक है। इन दोनों का कार्य-कारण का-सा सम्बन्ध है, अर्थात् कर्तव्य के बिना अधिकार स्थिर नही रह सकते। प्रत्येक अधिकार के दो स्वरूप होते हैं—एक सामाजिक और दूसरा वैयक्तिक। व्यक्तिगत दृष्टि से जो अधिकार हैं वहीं सामाजिक दृष्टि से कर्तव्य बन जाते हैं। इस प्रकार एक व्यक्ति का अधिकार, सारे समाज अर्थात् सारे ही दूसरे व्यक्तियों, संस्थाओं और सङ्गठनों का उसके प्रति कर्तव्य हो जाता है। यदि यह दूसरे व्यक्ति और संघ, उस एक अधिकार प्राप्त मनुष्य के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन नहीं करते तो समाज में अधिकारों का अस्तित्व कायम नहीं रह सकता।

एक-दो उदाहरणों से सम्भवतः हमारा आशय और अधिक स्पष्ट हो जायगा। समाज के प्रत्येक मनुष्य को जीवित रहने का अधिकार है, परन्तु यह अधिकार तभी पूर्ण हो सकता है जब समाज के दूसरे व्यक्ति उस मनुष्य को चोट न पहुँचावें या उसकी हत्या करने का प्रयत्न न करें। इसका मतलब यह हुआ कि मेरे जीवित रहने का अधिकार समाज के दूसरे सारे

भी सदस्यों का मेरे प्रति कर्तव्य है। इसी प्रकार एक मनुष्य के सम्पत्ति—अधिकार का आशय है कि समाज के दूसरे मनुष्य उस मनुष्य की जायदाद या चल सम्पत्ति पर बलपूर्वक कब्जा न करें और उसे अपनी इच्छानुसार संपत्ति का उपयोग करने दें। इसका मतलब यह हुआ कि एक मनुष्य का सम्पत्ति—अधिकार समाज के दूसरे सभी व्यक्तियों के कर्तव्य का रूप धारण कर लेता है। अच्छे सामाजिक जीवन के लिए यह आवश्यक है कि समाज के सभी सदस्यों को एक से ही अधिकार प्राप्त हों। जो एक व्यक्ति के लिए अच्छा नियम है वह समाज के दूसरे व्यक्तियों के लिए भी अच्छा है। इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य के अधिकारों के साथ-साथ उसके कर्तव्य भी होते हैं। समाज में कोई भी मनुष्य ऐसा नहीं हो सकता जिसके केवल अधिकार ही हों, कर्तव्य नहीं। इस प्रकार अधिकार और कर्तव्य एक दूसरे से पृथक् नहीं, परन्तु एक दूसरे के पूरक हैं। वह एक ही नियम के दो पहलू हैं। सामाजिक दृष्टि से वह नियम कर्तव्य कहलाते हैं और वैयक्तिक दृष्टि से अधिकार। सहयोग की भावना से अधिकारों की उत्पत्ति होती है और इसी के द्वारा उनकी रक्षा। इस प्रकार दोनों साथ-साथ ही चलते हैं।

इस मत के विरुद्ध में कभी-कभी ऐसा कहा जाता है कि समाज में कुछ विशेष व्यक्तियों को केवल अधिकार ही प्राप्त होते हैं, कर्तव्य नहीं; और इसके विरुद्ध कुछ दूसरे मनुष्यों के केवल कर्तव्य ही होते हैं अधिकार नहीं। उदाहरण के लिए कहा जाता है कि भारत में किसानों के अपने ज़मीदारों के प्रति ज़मीन का लगान इत्यादि देने के केवल कर्तव्य ही होते हैं। इसके एवज में उन्हें किसी प्रकार के अधिकार प्राप्त नहीं होते। जमींदार भूमिकर प्राप्ति के बदले में किसानों की किसी प्रकार की भी सेवा करने के लिए बाध्य नहीं। वे समझते हैं कि यदि उपरोक्त अधिकार के बदले उनका किसी के प्रति कर्तव्य है तो वह राज्य के प्रति है, किसानों के प्रति नहीं। इसी मत के कारण अक्सर जमींदार अपने किसानों का

निर्दयतापूर्वक शोषण करते हैं; परन्तु यह दलील ठीक नही । वास्तव में व्यक्तियों की प्रत्येक माँग अधिकार नहीं हो सकती । अधिकार का अर्थ है मनुष्य की वह माँग जो समाज के समान हित के लिए आवश्यक हो। इस दृष्टि से भारतीय जमींदारों का किसानों के विरुद्ध कथित अधिकार, अधिकार माना ही नहीं जा सकता। वह तो केवल एक शक्ति है जिसका अस्तित्व अन्याय और पशु शक्ति पर निर्भर है, समाज की नैतिक शक्ति पर नहीं।जमीदारों का किसानों को उनके अधिकारों से वंचित कर देना या उनके प्रति अपने कर्तव्य का पालन नहीं करना अधिकारों का नाश नहीं, वरन् शक्ति का दुरुपयोग है। समाज में कितने ही मनुष्य शक्ति इकट्ठीकर अपने बल का, दुर्बल और शक्तिहीन मनुष्यों पर, अत्याचार और अनाचार करके उपभोग करते हैं। इसी कारण समाज में दुःख और अशान्ति का वातावरण बना रहता है। यदि प्रत्येक मनुष्य अपने कर्तव्यों का ठीक रूप से पालन करें तथा दूसरे मनुष्यों को उनके अधिकारों से वंचित करने का प्रयत्न न करें तो समाज में एक सच्चे स्वर्ग की स्थापना हो सकती है।

अधिकार और कर्तव्यों का दूसरे दो कारणों से भी निकट सम्बन्ध है। प्रयेत्कअधिकार प्राप्त मनुष्य का धर्म है कि वह समाज के दूसरे व्यक्तियों के प्रति भी अपने कर्तव्यों का पालन करे। यदि हम समाज के दूसरे सदस्यों से इस बात की आशा करते हैं कि वह हमें अपने अधिकारों का शान्ति-पूर्वक उपभोग करने दें, तो हमारा भी समाज के दूसरे सदस्यों के प्रति कर्तव्य है कि हम उनके अधिकारों की रक्षा में सहायक सिद्ध हों और जिस कर्तव्य पालन की हम दूसरों से आशा करते हैं वही कर्तव्य हम दूसरों के प्रति पालन करने के लिये सदा उद्यत रहें। यदि हम अपने लिए जीवन या सम्पत्ति या वाक स्वतन्त्रता का अधिकार चाहते हैं तो हमारा भी धर्म है कि हम दूसरों की जीवन रक्षा करें, उनकी सम्पत्ति का अनुचित उपभोग न करें; और उनको दूसरों पर अपने विचारों को प्रकट करने की स्वतन्त्रता दें। यदि हम अपने देश की स्वतन्त्रता चाहते हैं तो हमें

कोई अधिकार नहीं कि हम दूसरे देशों को अपना गुलाम बनाकर रक्खें। हमारे प्रत्येक अधिकार के साथ इस प्रकार हमारा एक कर्तव्य भी है। हमारा धर्म है कि हम दूसरों को भी वही अधिकार प्राप्त करने दें। जो हम स्वयं अपने लिए चाहते हैं।

अन्त में. प्रत्येक अधिकार प्राप्त मनुष्य का एक और कर्तव्य भी है और वह यह कि वह स्वयं अपने अधिकार का उचित रूप से उपभोग करें। अधिकारों की प्राप्ति मनुष्य को अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए होती है। यदि मनुष्य उन अधिकारों का अनुचित रूप से उपभोग करता है, तो समाज का कर्तव्य है कि वह ऐसे मनुष्य को अधिकार वंचित कर दे। यदि हमें समाज द्वारा अपने विचारों को दूसरों के ऊपर स्वतन्त्रतापूर्वक प्रकट करने का अधिकार है तो हमारा यह भी कर्तव्य है कि हम इस अधिकार का अनुचित प्रयोग न करें। दूसरों को गाली न दें। सांप्रदायिक विष न फैलायें या हिंसा का प्रचार न करें। यदि हम धार्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त करना चाहते हैं तो हमारा कर्तव्य है कि हम दूसरे धर्मावलम्बी मनुष्यों के विचारों का भी आदर करें, उनको बुरा-भला न कहें।

आधुनिक संसार में जितना कलह, द्वेष, प्रतिस्पर्धा और लड़ाई-झगड़े हमें देखने को मिलते हैं उनका एक ही मूल कारण है और वह यह कि हम अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए तो सदा उत्सुक रहते हैं परन्तु अपने कर्तव्यों का पालन नहीं करते। यदि मनुष्य केवल अपने कर्तव्य पालन पर ही ज़ोर दें और कुछ थोड़े समय के लिए अपने अधिकारों को भूल जाय तो संसार सारे दुखों से मुक्त हो सकता है। हमारे देश के पुराने धर्मशास्त्रों ने भी मनुष्य को अपने कर्तव्य पालन करने की शिक्षा दी है। कर्तव्यों के पालन से अधिकार स्वयं ही प्राप्त हो जाते हैं, उनकी प्राप्ति के लिये प्रयत्न नहीं करना पड़ता। इसलिए नागरिकशास्त्र की सबसे अनुपम शिक्षा यही है कि मनुष्य अपने कर्तव्यों के पालन पर

ज़ोर दें। ऐसा करने से हमारा कलहपूर्ण जीवन एक स्वर्गीय आनन्द का अनुभव करने लगेगा।

अधिकार सार्वदेशीय हैं—इस मत के अनुसार अधिकार एक के नहीं वरन् सब की सम्पत्ति बन जाते हैं। उन पर सारे ही सामाजिक मनुष्यों का हित अवलम्बित रहता है। वे किसी व्यक्ति विशेष के शरीर या स्थान या काल विशेष से सम्बन्ध नहीं रखते। वे समाज के प्रत्येक मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिए प्रदान किये जाते हैं। अधिकारों और कर्तव्यों की दुनिया में छोटे और बड़े, अमीर और गरीब, नीच और ऊंच, स्त्री और पुरुष, बालक और बड़े, काले और गोरे का भेद नहीं किया जाता। एक आदर्श समाज में सारे ही मनुष्यों के बराबर के अधिकार होते हैं। यदि किसी समाज में कोई व्यक्ति या व्यक्तियों का समूह अपनी शक्ति के बल से दूसरों के अधिकारों को छीनने का प्रयत्न करता है, तो इससे अधिकारों का नाश नहीं होता, बस शक्ति का दुरुपयोग होता है और समाज में अशांति और दुख फैल जाता है। प्रत्येक समाज का धर्म है कि वह अपने नैतिक बल से दुर्बल और शक्तिहीन मनुष्यों के अधिकारों की रक्षा करे।

अधिकार और राज्य

राज्य (State), समाज की एक संगठित व्यवस्था का नाम है। इसका मुख्य ध्येय समाज में शांति और अनुशासन क़ायम रखना और मनुष्यों के अधिकारों की रक्षा करना होता है। अधिकारों का जन्म राज्य के कारण नहीं होता, वरन् राज्य का जन्म अधिकारों की रक्षा के लिए होता है। अधिकार का सम्बन्ध मनुष्य के व्यक्तित्व से है। यह उन अवस्थाओं का नाम है जो मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक है। यदि कोई राज्य इन अवस्थाओं का प्रबन्ध नहीं करता तो इससे अधिकारों

का अस्तित्व नष्ट नहीं होता, वरन् राज्य की व्यवस्था बिगड़ जाती है, वह राज्य एक अच्छा राज्य कहलाने का अधिकारी नहीं रहता। प्रायः देशों में राज्य क्रांति भी ऐसी ही अवस्था में हुआ करती है। जनता राज्य के शासकों के विरुद्ध खड़ी हो जाती है और उनके स्थान पर नए शासकों का चुनाव कर लेती है।

§ २. अधिकारों के प्रकार

अधिकारों की कोई ऐसी वृहद सूची तैयार करना जो किसी भी राज्य द्वारा उसके सदस्यों के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए दिये जाने चाहिये, प्रायः असंभव-सा कार्य है। अधिकारों की संख्या समय और काल की आवश्यकताओं के अनुसार अदलती-बदलती रहती है। पुरातन-काल में जब मनुष्य शिकारी अवस्था में रहते थे दूसरे प्रकार की अधिकारों की आवश्यकता थी। अधिकारों का सम्बन्ध व्यक्तित्व के पूर्ण विकास से है। जो भी अवस्थाएँ अथवा सुविधाएँ इस दशा में व्यक्ति की सहायता कर सकती हैं, वही उसके स्वाभाविक अधिकार बन जाती हैं। यह दूसरी बात है कि राज्य कहाँ तक उन अवस्थाओं को क़ानून का स्वरूप देता है। यदि कोई राज्य ऐसा नहीं करता तो इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि अधिकार, अधिकार कहलाने से वंचित हो जायंगे। हाँ इतना अवश्य है कि वह अधिकार क़ानूनी अधिकार न रह कर केवल स्वाभाविक या आदर्श अधिकार रह जायेंगे। अधिकारों को इसलिए हम निम्न श्रेणियों में बाँट सकते हैं—

स्वाभाविक अथवा आदर्श अधिकार (Natural or Ideal Rights)

स्वाभाविक या आदर्श अधिकार हम ऐसे अधिकारों को कह सकते हैं जो किसी भी समाज में व्यक्तियों के पूर्ण तथा सर्वोच्च विकास के लिए आवश्यक हैं। ऐसे अधिकारों का पालन केवल एक ऐसी ही समाज में

हो सकता है जो न्याय, सत्य और व्यक्तियों के पूर्ण विकास की भावना पर अवलम्बित हो। यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास की प्रत्येक भावना को हम उस समय तक स्वाभाविक अधिकार नहीं कह सकते जब तक सारा समाज उस भावना को सारे ही मनुष्यों के व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक न समझें। अधिकार का अर्थ मनुष्य की प्रत्येक माँग से नहीं वरन् केवल उस माँग से है जो उसके व्यक्तित्व का विकास करे तथा जिसको समाज सारे ही मनुष्यों की भलाई के लिए आवश्यक समझे।

प्रत्येक स्वाभाविक अधिकार के लिये यह आवश्यक नहीं कि राज्य द्वारा ही उसका पालन किया जाय। आरम्भ में प्रायः प्रत्येक समाज में बहुत से अधिकारों का पालन लोक मत और जनता की नैतिक शक्ति पर निर्भर होता है, फिर शनैः शनैः यह अधिकार क़ानून का रूप धारण कर लेते हैं और स्वाभाविक अधिकार कानूनी या वैधानिक अधिकार कहे जाने लगते हैं।

क़ानूनी अधिकार (Legal or Fundamental Rights)

मनुष्य के जिन अधिकारों की रक्षा राज्य द्वारा की जाती है, अथवा जिन पर आघात करना क़ानूनी अपराध है, ऐसे अधिकारों को वैधानिक अथवा क़ानूनी अधिकार कहा जाता है। इन अधिकारों के उपभोग में जो बाधा डालता है उसे राज्य द्वारा दण्ड दिया जाता है। हमारा जीवन या सम्पत्ति का अधिकार क़ानूनी अधिकार है। यदि कोई मनुष्य हमें मारने अथवा हमारे माल को लूटने का प्रयत्न करे तो सरकार ऐसे व्यक्ति को खून तथा चोरी के अपराध में सज़ा देती है। विपरीत इसके, प्रत्येक मनुष्य के निःशुल्क शिक्षा तथा नौकरी पाने के अधिकार क़ानूनी अधिकार नहीं कहे जा सकते क्योंकि राज्य-शक्ति इसको नहीं मानती। धीरे-धीरे प्रायः प्रत्येक सभ्य देश में मनुष्य के स्वाभाविक अधिकार, स्वाभाविकता के

दायरे से निकलकर क़ानूनी रूप धारण कर लेते हैं। इस प्रकार आज जो हमारे स्वाभाविक या नैसर्गिक अधिकार हैं, वही कल क़ानूनी अधिकार बन जाते हैं।

नैतिक अधिकार (Moral Rights)

बहुत बार नागरिकशास्त्र के लेखक एक और प्रकार के अधिकारों का भी वर्णन करते हैं। यह अधिकार नैतिक अधिकार कहे जाते हैं। इनका पालन राज्य-शक्ति पर नहीं वरन् मनुष्य की अपनी नैतिक भावना अथवा समाज की नैतिक जागृति पर निर्भर करता है। इस प्रकार के अधिकारों में हम शिष्ट व्यवहार का अधिकार, आदर का अधिकार पिता का अपने पुत्र से वृद्धावस्था में पालन-पोषण का अधिकार इत्यादि का उदाहरण दे सकते हैं। राज्य चाहे भी तो भी इन अधिकारों का अपनी सैन्य शक्ति के आधार पर पालन नहीं करा सकता। इनका पालन मनुष्य और समाज की नैतिक भावना पर ही निर्भर रहता है।

यदि एक पुत्र अपने पिता का आदर नहीं करता, अथवा उसे वृद्धावस्था में उदर-पोषण के लिए सहायता नहीं देता, तो पिता क़ानूनी अदालत में जाकर अपने इस अधिकार को नहीं मनवा सकता, क्योंकि कोई भी राज्य मनुष्य को नैतिक जीवन व्यतीत करने के लिए मजबूर नहीं कर सकता। इस प्रकार के अधिकार केवल जन-मत और समाज की नैतिक भावना पर ही अवलम्बित रहते हैं।

§ ३. अधिकारों का वर्गीकरण

अधिकारों की कोई विस्तृत सूची देना या उनका अलग अलग श्रेणियों में विभाजन करना अत्यन्त कठिन कार्य है। कारण, अधिकारों का सम्बन्ध मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास से है। जो भी अवस्थाएँ मनुष्य को इस कार्य में सहायता देती हैं वही उसके अधिकार बन जाती हैं। अधिकारों का स्वरूप काल और समय की प्रगति के साथ बदलता-बदलता

रहता है। सब देशों में भी इनका आकार और गणना एकसी नहीं होती। कुछ देशों में तो एक ही अधिकार के विषय में विरोधात्मक धारणाएँ होती हैं। उदाहरणार्थ निजी सम्पत्ति का अधिकार रूस में उसी रूप में नहीं माना जाता जैसा कि दूसरे देशों में। वहाँ किसी भी मनुष्य को उत्पत्ति अथवा वितरण की सामग्री पर अधिकार करने का हक प्राप्त नहीं। कुछ देशों में स्त्रियों को राज-काज के कामों में पुरुषों के समान भाग लेने का अधिकार प्राप्त होता है। दूसरे देशों में उन्हें यह अधिकार प्रदान नहीं किया जाता। कुछ देशों में प्रत्येक मनुष्य को राज्य की ओर से निःशुल्क शिक्षा प्राप्त करने अथवा नौकरी प्राप्त करने का अधिकार प्राप्त होता है, दूसरे देशों में नहीं। इस कारण प्रत्येक देश के अधिकारों का एक ही प्रकार से विभाजन या वर्णन करना ठीक नहीं, परन्तु फिर भी आजकल प्रायः प्रत्येक सभ्य देश में नागरिकों को दो प्रकार के अधिकार अवश्य प्रदान किए जाते हैं, एक सामाजिक अथवा नागरिक और दूसरे राजनैतिक। इन अधिकारों की गणना में भिन्न-भिन्न देशों में थोड़ा-बहुत अंतर अवश्य हो सकता है, परन्तु अधिकतर देश प्रायः इन सभी अधिकारों को अपने नागरिकों को प्रदान करने का प्रयत्न करते हैं। इसलिए अब हम नागरिकों के इन सामाजिक तथा राजनैतिक अधिकारों का आगे के पृष्ठों में विस्तार से वर्णन करेंगे।

सामाजिक अथवा नागरिक अधिकार (Civil Rights)

ये वे अधिकार हैं जिन्हें सब मनुष्य चाहे वे नागरिक हों अथवा न हो, केवल मनुष्य होने के नाते प्राप्त करते हैं। जो लोग इनकी अवहेलना करना चाहते हैं, उन्हीं के विरुद्ध इनका प्रयोग किया जाता है। इन अधिकारों में विशेष रूप से जीवन स्वाधीनता और जायदाद के अधिकार शामिल किए जाते हैं; यद्यपि आजकल पारिवारिक अधिकार, भाषण स्वतंत्रता का अधिकार, सार्वजनिक सभा बुलाने का अधिकार, स्वतंत्र समाचार पत्र मुद्रण

का अधिकार और धर्म का अधिकार भी सामाजिक अधिकार के अन्तर्गत ही आवश्यक अंग समझे जाते हैं।

राजनैतिक अधिकार (Political Rights)

ये वे अधिकार हैं जिनके कारण नागरिक अपने देश के शासन में भाग ले सकते हैं। इनमें निम्नलिखित अधिकार सम्मिलित किये जाते हैं :—

(अ) मताधिकार

(ब) व्यवस्थापिका सभा में निर्वाचन का अधिकार

(स) पद प्राप्त करने अर्थात् सरकारी मुलाज़िमत प्राप्त करने का अधिकार

राजनैतिक अधिकारों का विश्लेषण

सर्वप्रथम हम उन अधिकारों का वर्णन करेंगे जो समाज में प्रत्येक मनुष्य को नहीं वरन् केवल उन्हीं व्यक्तियों को प्राप्त होते हैं जो राज-काज के कामों में भाग लेने के योग्य समझे जाते हैं तथा उसके प्रति अपनी भक्ति का उचित रूप से प्रदर्शन करते हैं। विदेशियों, नाबालिगों, पागलों, पुराने अपराधियों तथा किसी-किसी देश में स्त्रियों, सरकारी नौकरों और फौजी सिपाहियों को यह अधिकार प्रदान नहीं किये जाते। इन अधिकारों के अन्तर्गत हम विशेष रूप से तीन अधिकारों का वर्णन कर सकते है :—

(अ) मताधिकार—राज्य के प्रत्येक सदस्य को इस बात का अधिकार प्राप्त होना चाहिए कि वह देश की व्यवस्थापिका सभा, म्युनिसिपल तथा डिस्ट्रिक्ट बोर्ड इत्यादि संस्थाओं के सदस्यों के चुनाव में भाग ले सके। इन संस्थाओं के क़ानूनों का प्रत्येक मनुष्य के हित पर प्रभाव पड़ता है, इसलिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक मनुष्य को यह अधिकार प्रदान किया जाय कि वह अपने मत द्वारा इस बात को घोषित कर सके कि वह किन विचार वाले और किस प्रकार के शासकों को अपने

देश के प्रबन्ध के लिए उचित समझता है। किसी विशेष जाति, वर्ण, धर्म, सम्प्रदाय, लिङ्ग अथवा हैसियत के व्यक्तियों को इस बात का अधिकार नहीं होना चाहिये कि वह राज की सत्ता को अपने हाथों में केन्द्रित कर लें और समाज के दूसरे व्यक्तियों को राज-सत्ता का उपभोग न करने दें। ऐसा होने से राज्य का शासन सारी जनता की भलाई के लिए नहीं वरन् समाज की एक विशेष अधिकारप्राप्त वर्ग की भलाई के लिए हो जाता है; और इससे समाज में अशांति और अव्यवस्था फैल जाती है। इसलिए देश में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति को ही बराबर के राजनैतिक अधिकार प्राप्त होने चाहिये।

(ब) व्यवस्थापिका सभा में निर्वाचन का अधिकार—मताधिकार के अतिरिक्त प्रत्येक मनुष्य को यह भी अधिकार प्राप्त होना चाहिए कि वह स्वयं भी व्यवस्थापिका सभा तथा अन्य इसी प्रकार की संस्थाओं की सदस्यता के लिये चुनाव में खड़ा हो सके। प्रजातन्त्र शासन में छोटे से छोटे मनुष्य को भी राज्य की ऊँची से ऊँची पदवी प्राप्त करने का अधिकार प्राप्त होना चाहिये। एक सच्चे प्रजातन्त्र शासन का अर्थ है "जनता की, जनता के हित में जनता द्वारा सरकार।" इस प्रकार की सरकार की स्थापना तभी हो सकती है जब राज्य के प्रत्येक सदस्य को मताधिकार के अतिरिक्त स्वयं राज्याधिकारी बनने का अवसर प्राप्त हो।

(स) पद प्राप्त करने अर्थात् सरकारी नौकरी प्राप्त करने का अधिकार—नागरिक का तीसरा राजनैतिक अधिकार ऊँची से ऊँची सरकारी नौकरी प्राप्त करने का अवसर है। किसी व्यक्ति को अपने वर्ण, जाति, लिङ्ग अथवा हैसियत के कारण सरकारी नौकरी से वञ्चित न रखा जाय। नौकरी प्राप्त करने के लिए कुछ विशेष योग्यता का होना तो आवश्यक है परन्तु इस योग्यता की प्राप्ति प्रत्येक मनुष्य के लिए एकसी होनी चाहिये। ऐसा न हो कि एक मनुष्य को उसके धन अथवा हैसियत के कारण ऊँचा सरकारी पद दे दिया जाय और दूसरे मनुष्य को योग्यता

होने पर भी उसको ग़रीबी के कारण नौकरी न मिले। सरकारी नौकरियों में परीक्षा द्वारा भरती होनी चाहिए। जो भी व्यक्ति इन परीक्षाओं में उत्तीर्ण हो जायं, उन्हें सरकारी नौकरी मिलने का अधिकार होना चाहिए। सिफारिश या रिश्वत के आधार पर नौकरियों का वितरण नहीं होना चाहिए।

कभी-कभी राज्य के सर्वोच्च कर्मचारी के पास सार्वजनिक तकलीफों को दूर करने के लिए प्रार्थना-पत्र देने का अधिकार भी राजनैतिक अधिकारों में ही शामिल कर लिया जाता है। इसके अतिरिक्त कुछ लेखक, देश से बाहर बसने वाले नागरिकों की रक्षा का अधिकार, संगठन की स्वतंत्रता, मत प्रकट करने की स्वतंत्रता और सार्वजनिक सभा करने की स्वतंत्रता इत्यादि अधिकारों को भी राजनैतिक अधिकारों में ही शामिल कर देते हैं। परन्तु हमारी सम्मति में ऐसे अधिकारों को नागरिक अर्थात् सामाजिक अधिकारों की श्रेणी में रखना अधिक उचित जान पड़ता है।

नागरिक (Civic) अथवा सामाजिक (Social) अधिकारों का विश्लेषण

राजनैतिक अधिकारों के वर्णन के पश्चात् अब हमें सामाजिक अधिकारों का अध्ययन करना चाहिए। इन अधिकारों में सर्वप्रथम व्यक्तिगत अधिकार आते हैं।

व्यक्तिगत अधिकार—व्यक्तिगत अधिकार हम उन अधिकारों को कहते हैं जो मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्ध रखते हैं। किसी व्यक्ति के शान्तिपूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिए उनकी स्वीकृति आवश्यक है। इन अधिकारों में निम्नलिखित अधिकार शामिल किए जाते हैं :—

(अ) जहाँ चाहें जाने की स्वतंत्रता (Freedom of Movement)

(ब) विचार और भाषण की स्वतन्त्रता (Freedom of Thought and Expression)

(स संगठन की स्वतन्त्रता (Freedom of Association)

(ड) शरीर की रक्षा (Security of Life)

(य) न्याय का अधिकार (Right to Justice)

फ) व्यक्तिगत सन्मान की रक्षा (Security of Reputation)

(अ) आने-जाने की स्वतंत्रता—इस अधिकार का आशय है कि प्रत्येक मनुष्य को अपनी इच्छानुसार, स्वदेश में अथवा संसार के किसी भी देश में रहने, बसने, यात्रा करने और आने-जाने की स्वतंत्रता होनी चाहिए। आजकल अधिकतः देशों में, दूसरे राज्यों की यात्रा करने के लिए पासपोर्ट Passport की आवश्यकता पड़ती है और एक देश के नागरिक स्वच्छंद रूप से दूसरे देशों में आ-जा नहीं सकते। इस प्रकार की रुकावटें, देश की रक्षा के विचार से लगाई जाती हैं। कुछ देशों में तो नागरिक अपने देश में भी स्वतत्र रूप से घूम-फिर नहीं सकते। भारत में अंग्रेजों के काल में दफा १४४ लगाकर किसी भी मनुष्य को भारत के किसी भी प्रान्त अथवा नगर में दाखिल होने से रोका जा सकता था। इस प्रकार की रुकावटें नागरिकता के मूल सिद्धान्त के बिरुद्ध हैं। इस अधिकार का दूसरा भी आशय है और वह यह कि किसी भी मनुष्य को बिना अपराध, एक ही स्थान पर रहने के लिए मजबूर नहीं करना चाहिए। इङ्गलैंड में एक क़ानून है जिसके अन्तर्गत किसी भी मनुष्य को, बिना जुर्म साबित हुए जेल में बंद नहीं किया जा सकता। इस अधिकार की रक्षा हेबस कौर्पस पैटिशन (Habeaus Corpus Petition) द्वारा की जाती है। संसार के प्रत्येक सभ्य देश में नागरिकों को इस प्रकार के अधिकार अवश्य प्राप्त होने चाहियें।

(ब) विचार और भाषण की स्वतंत्रता—सभी प्रजातंत्रवादी देशों में विचार स्वतंत्रता, मत प्रकट करने की स्वतंत्रता, और संगठन निर्माण की स्वतन्त्रता नागरिकों के मौलिक अधिकार माने जाते हैं। विचार स्वतन्त्रता पर कोई भी देश नियंत्रण नहीं लगा सकता। मनुष्य

का मस्तिष्क विचारों की दुनिया में मनमानी दौड़ लगा सकता है। परन्तु इस स्वतन्त्रता का उस समय तक कोई अर्थ नहीं होता जब तक मनुष्य को अपने विचारों को दूसरे व्यक्तियों पर प्रकट करने की स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं होती। मनुष्य स्वभावतया अपने विचारों को दूसरों पर प्रकट करना चाहता है। कारण, उसके व्यक्तित्व का विकास स्वतंत्र विचार-विनिमय से ही होता है और उसके विचार वाद-विवाद द्वारा ही अधिक स्पष्ट और महत्वपूर्ण बनते हैं।

भाषण-स्वतन्त्रता का अर्थ दूसरों को गाली देना या हिंसा का प्रचार करना अथवा द्वेषाग्नि भड़काना नहीं वरन् अपने स्वतंत्र विचारों को देशहित के कल्याण की भावना से, एक शिष्ट भाषा में दूसरों पर प्रगट करना है। भाषण स्वतन्त्रता के अधिकार के साथ हमारा समाज के प्रति एक परम कर्तव्य भी हो जाता है और वह यह कि हम दूसरे समाज के व्यक्तियों के विचारों का आदर करें और कोई ऐसी बात न कहे जिससे दूसरे की आत्मा को दुःख पहुँचे और बिना किसी प्रयोजन के समाज में द्वेषाग्नि भड़के। सार्वजनिक हित की दृष्टि से इस अधिकार के अन्तर्गत हम सरकार अथवा सामाजिक संस्थाओं की आलोचना कर सकते हैं परन्तु द्वेष अथवा लोभ की भावना से नहीं, केवल सर्वसाधारण के कल्याण की भावना से।

(स) संगठन की स्वाधीनता—नागरिकों को किसी समान उद्देश्य की प्राप्ति के लिए संगठन स्थापित करने की भी स्वतन्त्रता होनी चाहिए। उन्हें अपने क्लब, साहित्यिक समितियाँ, व्यापार संघ या राजनैतिक दल की व्यवस्था करने का अधिकार होना चाहिए। मानव व्यक्तित्व का उस समय अधिक विकास होता है जब एक मनुष्य विभिन्न संगठनों की सदस्यता में क्रियात्मक भाग लेता है।

(ड) शरीर की रक्षा—प्रत्येक मनुष्य को जीवन-रक्षा का अधिकार प्राप्त है। जीवित रहने पर ही मनुष्य के सारे अधिकार और कर्तव्य

अवलम्बित हैं। यदि कोई मनुष्य हमें मारने अथवा चोट पहुँचाने का प्रयत्न करे तो हमारा अधिकार है कि हम उस मनुष्य के आक्रमण से किसी भी प्रकार अपनी रक्षा करें। यह अधिकार इतना अधिक व्यापक है कि मनुष्य को स्वयं अपनी जान लेने अर्थात् आत्महत्या करने का अधिकार प्राप्त नहीं। मनुष्य का जीवन एक सामाजिक निधि है और किसी भी व्यक्ति को यह अधिकार प्राप्त नहीं कि वह अपने जीवन का स्वयं अंत कर सके।

(य) **न्याय का अधिकार**—इस अधिकार का आशय है कि क़ानून के सामने सब मनुष्यों के साथ समान व्यवहार होना चाहिए। एक ही प्रकार की क़ानूनी अदालतों को सब अपराधियों के मुकदमे करने चाहिए; और एक ही क़ानून सब के लिए लागू होना चाहिए। किसी व्यक्ति विशेष के साथ विशेष प्रकार का व्यवहार न किया जाना चाहिए। मुक़दमे की पैरवी के समय किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जाना चाहिए। न्यायालयों को सजा देते समय व्यक्ति की हैसियत, वर्ण, जाति या धर्म का कोई विचार नहीं करना चाहिए। अंग्रेज और हिन्दुस्तानी, लखपती और कंगाल, ब्राह्मण और शूद्र, बड़े और छोटे—कानून के सामने सब एक समान हैं। इस अधिकार का दूसरा अर्थ यह है कि न्याय में विलंब और व्यय अधिक नहीं होना चाहिए। जिससे कि गरीब भी अपने अधिकारों की रक्षा के लिए क़ानूनी अदालतों की शरण ले सकें। इस सम्बन्ध में नागरिकों का भी यह कर्तव्य है कि वे न्याय के पक्ष में राय दें और कभी अदालतों में झूठी गवाहियाँ न दें।

(फ) **व्यक्तिगत सन्मान की रक्षा**—प्रत्येक मनुष्य को अपनी सामाजिक ख्याति बनाए रखने तथा उसके प्रति आक्रमण से रक्षा करने का पूर्ण अधिकार है। किसी मनुष्य को दूसरे व्यक्तियों के विरुद्ध निर्मूल, निराधार और ग़लत दोषारोपण अथवा गाली देने का अधिकार प्राप्त नहीं। यदि कोई मनुष्य ऐसा करता है अर्थात् किसी दूसरे की मान

प्रतिष्ठा को सर्वसाधारण की दृष्टि में भंग करने का प्रयत्न करता है, तो अपमानित मनुष्य को अधिकार है कि वह अपने विरुद्ध लगाए गए अभियोगों को झूठा साबित करके अपराधी व्यक्ति के विरुद्ध दीवानी या फौजदारी अदालत में मुक़दमा दायर कर सके

(७) **सामाजिक अधिकार**— इस शीर्षक के अन्तर्गत हम निम्नलिखित दो अत्यन्त आवश्यक सामाजिक अधिकारों का वर्णन करेंगे :—

(१) सार्वजनिक सभा बुलाने का अधिकार

(२) स्वतंत्र प्रकाशन का अधिकार

सार्वजनिक सभा बुलाने का अधिकार—सार्वजनिक सभा करने का अधिकार प्रजातन्त्रात्मक शासन की आधारशिला है। सार्वजनिक सभाओं के द्वारा ही जनता अपने विचारों को शासकों पर प्रकट कर सकती है, अपने दुख और कष्टों की कहानी उनके कानों तक पहुँचा सकती है, तथा राज्य के अन्यायकारी क़ानूनों और नियमों के विरुद्ध अपनी आवाज़ उठा सकती है। जिस देश में जनता को स्वतन्त्र रूप से शान्तिपूर्ण सभा करने का अधिकार प्राप्त नहीं, वह देश फासिस्ट देश कहलाते हैं। किसी भी राज्य में, शान्तिपूर्ण और न्यायोचित्त माँग की पूर्ति के लिए की गई सभा को भंग करने का, सरकारी कर्मचारियों को अधिकार प्राप्त नहीं होना चाहिए।

स्वतंत्र प्रकाशन का अधिकार—सार्वजनिक सभा करने के अधिकार के साथ ही प्रत्येक देश में जनता को समाचार-पत्र निकालने की स्वतंत्रता होनी चाहिए। प्रजातन्त्र देशों में समाचार-पत्र जनता की राय का प्रतिनिधित्व करते हैं, वह शासकों के सन्मुख भिन्न-भिन्न प्रश्नों पर जनता का मत प्रकट करते हैं, वह निर्भीक रूप से सरकार की योजनाओं की आलोचना करते हैं और इस प्रकार सरकारी कर्मचारियों को जनता के हित के विरुद्ध काम करने से रोकते हैं। फ़ासिस्ट देशों में जहाँ सरकार

केवल एक पार्टी के हित के लिए ही शासन का संचालन करती है. स्वतंत्र समाचार-पत्र छापने की आज्ञा नहीं दी जाती; परन्तु संसार के दूसरे सारे ही सभ्य देशों में स्वतन्त्र समाचार-पत्र प्रकाशित करने का अधिकार जनता का मूल अधिकार समझा जाता है।

परन्तु यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि समाचार-पत्रों पर किसी न किसी प्रकार का नियन्त्रण प्रत्येक ही देश की सरकार को रखना पड़ता है। अच्छे समाचार-पत्र जहाँ समाज की सेवा करते हैं वहाँ गंदे और स्वार्थी व्यक्तियों द्वारा संचालित पत्र समाज की बहुत बड़ी हानि भी कर सकते हैं। ऐसे पत्र साम्प्रदायिकता द्वेष, आपसी झगड़े, मारकाट और कलह की भावनाओं का प्रचार तथा प्रतिष्ठित व्यक्तियों पर झूठे आरोप लगाकर उनसे रुपया ऐंठने का प्रयत्न, अपना पेशा बना लेते हैं। कभी-कभी कुछ धनी लोग अपनी स्वार्थ-सिद्धि और ख्याति की भावना से बहुत से पत्रों के मालिक बन जाते हैं और फिर उन पत्रों का संचालन जनता के हित की भावना से नहीं, वरन् अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए करते हैं। ऐसे समाचार-पत्रों के विरुद्ध प्रत्येक सरकार को कार्यवाही करनी चाहिए। स्वतन्त्र समाचार-पत्र प्रकाशन अधिकार का अर्थ जनता के हितों का हनन नहीं वरन् उसका रक्षा है,इसलिए केवल ऐसे ही पत्रों को स्वतंत्रता प्रदान की जा सकती है जो जनता की सेवा करें।

(३) धार्मिक अधिकार—सामाजिक अधिकारों के पश्चात् धार्मिक अधिकारों का विवरण आवश्यक है। इन अधिकारों में हम—

(अ) विश्वास की स्वतंत्रता (Freedom of Faith)

(ब) पूजा की स्वतंत्रता (Freedom of worship)

(स) धार्मिक प्रचार और उपदेश की स्वतंत्रता Freedom of religious propaganda. शामिल कर सकते हैं।

विश्वास की स्वतंत्रता—इस अधिकार का अर्थ है कि प्रत्येक मनुष्य को किसी भी धर्म, मत या सम्प्रदाय में विश्वास रखकर अपने

ईश्वर तक पहुँचने की स्वतंत्रता होनी चाहिए। किसी भी राज्य को यह कहने का अधिकार नहीं होना चाहिए कि केवल अमुक धर्म या मत ही अच्छा है दूसरा नहीं, विश्वास एक व्यक्तिगत भावना है और प्रत्येक सरकार को इस भावना की इज्ज़त तथा रक्षा करनी चाहिए।

(स) **धार्मिक प्रचार की स्वतंत्रता**—धर्म में विश्वास की स्वतंत्रता के साथ प्रत्येक मनुष्य को शान्तिपूर्ण तथा उचित उपायों से दूसरे मनुष्यों को अपने धर्म में परिवर्तित करने की स्वतत्रता भी होनी चाहिये। परन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि झूठ, दगा और धोखे से दूसरे मनुष्यों को किसी धर्म में बदला जाय। और न इसका यह ही अर्थ है कि धर्म के नाम पर सामाजिक कुरीतियों, जैसे बाल-विवाह, छूतछात, नर-सहार, भ्रूणहत्या इत्यादि बुराइयों का प्रचार किया जाय। धर्म का सम्बन्ध व्यक्तिगत आध्यात्मिक जीवन से है, धर्म के नाम पर सामाजिक बुराइयों के प्रचार की आज्ञा नहीं दी जा सकती।

धार्मिक स्वतत्रता के अधिकार में धार्मिक सहिष्णुता भी सम्मिलित है। इस कारण प्रत्येक मनुष्य को अपने धर्म के समान ही दूसरे धर्मों का भी आदर-सम्मान करना चाहिए।

४) **सांस्कृतिक अधिकार**—सांस्कृतिक अधिकारों में हम निम्न-लिखित अधिकारों का वर्णन कर सकते हैं :—

(अ) साधारण और वैज्ञानिक शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार

(ब) वाचनालय और पुस्तकालय स्थापन का अधिकार

(स) अन्वेषण संस्थाओं, अजायबघर और अन्य सांस्कृतिक केन्द्रों की स्थापना का अधिकार

शिक्षा—(अ) शिक्षा एक अच्छे सामाजिक जीवन की कुंजी है। यह मनुष्य को अच्छा और उपयोगी जीवन व्यतीत करने के योग्य बनाती है। यह प्रजातंत्र शासन की जड़ है। इसलिए प्रत्येक सभ्य राज्य का प्रथम

कर्तव्य है कि वह राज्य के सारे नागरिकों के लिए उचित तथा निःशुल्क शिक्षा का प्रबन्ध करे।

(ब) शिक्षा का अंत स्कूल और कौलिजों की पढ़ाई के साथ ही नहीं हो जाता, वास्तविक शिक्षा तो जीवन के अनुभवों के साथ-साथ ही चलती रहती है, इस शिक्षा में, नव-जीवन और नव-स्फूर्ति प्रदान करने के लिए आवश्यक है कि राज्य की ओर से **वाचनालय, पुस्तकालय, अजायबघर इत्यादि** संस्थाओं का प्रबन्ध हो। हमको संसार के प्रगतिशील ज्ञान के साथ सम्पर्क रखना चाहिए और इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए इन सब चीज़ों की नितान्त आवश्यकता है।

(स) राज्य को **अन्वेषण संस्थाओं** का भी प्रबन्ध करना चाहिए। जिससे चतुर विद्यार्थी यूनिवर्सिटी की शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् नए-नए प्रयोगों द्वारा संसार के वर्तमान ज्ञान में उन्नति कर सकें।

(५) **मनोरंजन अधिकार**—दिन भर के शारीरिक अथवा मानसिक परिश्रम के पश्चात् मनुष्य बिलकुल थक जाता है और अपने शारीरिक कष्टों को मिटाने के लिए किसी प्रकार का मनोरंजन चाहता है। राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह नागरिकों के लिए बगीचे (Parks), खेलने के लिए स्थान तैरने के लिए तालाब, व्यायामशाला, नाटकघर, सिनेमा, चित्रालय, ज़ू, नृत्यशाला, कलाकेन्द्र इत्यादि का प्रबन्ध करे, जिससे लोग अपने अवकाश तथा छुट्टी के समय को इन स्थानों पर जाकर यतीत कर सकें और इस प्रकार अपनी दिन भर की थकान को दूर कर सकें।

(६) **आर्थिक अधिकार**—आर्थिक अधिकारों के अन्तर्गत हम निम्नलिखित अधिकारों का वर्णन कर सकते हैं :—

(अ) आर्थिक न्यूनतम का अधिकार (Right to economic minimum)

(ब) नौकरी का अधिकार (Right to Employment)

(स) इच्छानुसार उद्योग करने का अधिकार Right to follow any vocation) ।

(अ) संसार के प्रत्येक मनुष्य को सुखी और उन्नतिशील जीवन व्यतीत करने के लिए धन की आवश्यकता पड़ती है जिससे वह अपनी विभिन्न आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके । जिस मनुष्य का पेट ही नहीं भरता और जिसे प्रायः भूखे रहने की नौबत आती है उससे हम किस प्रकार एक अच्छा सामाजिक जीवन व्यतीत करने की आशा कर सकते है । गरीबों में इसी कारण बहुधा जुर्म, बीमारी, दुराचार और अन्यान्य निकृष्ट बुराइयाँ पैदा हो जाती हैं । प्रत्येक राज्य का यह कर्तव्य है कि वह अपने नागरिकों को इतनी आमदनी का आश्वासन दे कि वह अपने जीवन को साधारण अच्छे तरीकों से व्यतीत कर सके । यही आर्थिक न्यूनतम् Economic minimum का नियम कहलाता है ।

(ब) नागरिक का दूसरा आर्थिक अधिकार यह है कि राज्य की ओर से उसे उपयुक्त रोजगार मिल सके । जो लोग काम करने के लिए तैयार हैं उनके लिए राज्य की ओर से काम का प्रबन्ध होना चाहिये । जिन्हें नौकरी नहीं मिल सकती उन्हें बेरोजगारी पेंशन (Unemployment doll) इत्यादि मिलने का प्रबन्ध होना चाहिए । बूढ़े और अपाहिज मनुष्यों को, जो किसी भी प्रकार का काम नहीं कर सकते अपाहिज घर (Recluse Home) इत्यादि का प्रबन्ध होना चाहिए । भीख माँगने की प्रथा मिटा दी जानी चाहिए । यह आधुनिक सभ्य समाज की एक भारी कलंककारी प्रथा है ।

(स) अन्त में, राज्य के किसी भी नागरिक को विशेष व्यवसाय करने से केवल इसलिए न रोका जाय कि वह किसी खास जाति में पैदा हुआ है । रीति-रिवाज या कानून को भी मनुष्य के व्यवसाय में बाधक न बनना चाहिए । भारतवर्ष में हरिजनों को कुछ खास प्रकार के नीच काम छोड़ कर दूसरे सम्मानित व्यवसाय करने की आज्ञा नहीं दी जाती । कोई चमार

या भंगी, हलवाई या बजाज होटल का काम नहीं कर सकता। इस प्रकार की रुकावटें हटा देनी चाहिए।

(७) **निजी सम्पत्ति का अधिकार**—नागरिकशास्त्र में शायद ही कोई दूसरा ऐसा अधिकार हो जिसकी प्राप्ति के सम्बन्ध में राजनैतिक विशेताओं में इतना मतभेद है जितना निजी सम्पत्ति अधिकार के विषय में। कुछ राजनैतिक लेखक सम्पत्ति के अधिकार को नागरिक का मौलिक अधिकार मानते हैं। उनकी राय में धन पिपासा ही मनुष्य में अधिक काम करने तथा नए नए आविष्कारों और प्रयोगों द्वारा रुपया कमाने की प्रेरणा पैदा करती है। धन के कारण मनुष्य सदाचारी तथा स्वतंत्र विचारशील बनता है। संपत्ति के कारण मनुष्य के चरित्र तथा व्यक्तित्व का विकास होता है। परन्तु इस मत के विरुद्ध कुछ दूसरे राजनैतिक लेखकों का, जिनमें साम्यवादी लेखक प्रमुख हैं, कहना है कि निजी संपत्ति की प्रथा ही संसार के कलह, द्वेश, प्रतिस्पर्धा, लूट खसोट, चोरी, डाका, झूठ, धोखा-देई, इत्यादि बुराइयों का बीज बोती है। धन लोलुपता के कारण ही संसार में मनुष्य मनुष्य का खून चूसता है। एक भाई अपने दूसरे सगे भाई तथा माता-पिता को मारने के लिए उद्यत हो जाता है, पूँजीपति मजदूरों तथा गरीब किसानों का शोषण करता है और एक देश दूसरे देशों पर आक्रमण करके अपना गुलाम बनाने की चेष्टा करता है। साम्यवादियों की राय में निजी सम्पत्ति की प्रथा ही संसार में अधिकतर सामाजिक तथा राजनैतिक बुराइयों की जड़ है।

उपरोक्त दोनों मतों में आंशिक सत्यता है, यह सच है कि आधुनिक युग में सम्पत्ति के अधिकार से पूँजीपतियों तथा जमीदारों ने गरीब जनता का निर्दयतापूर्वक शोषण किया है, परन्तु इसका मुख्य कारण राज्य द्वारा धन उत्पादन तथा वितरण (Production and Distribution) की सामग्री पर उचित प्रकार के नियंत्रण की कमी है। संपत्ति का अधिकार दो प्रकार का हो सकता है—एक ऐसी सम्पत्ति का अधिकार जो रुपया कमाने के

काम में आती है, दूसरा ऐसी संपत्ति का अधिकार जो मनुष्य के उपयोग में आती है। पहली प्रकार की सम्पत्ति के उदाहरण में हम कारखाने, जमीन, दूकान तथा व्यापार की दूसरी संपत्ति का नाम ले सकते हैं। दूसरी प्रकार की सम्पत्ति में, रहने का मकान या कोठी, मोटरकार, बाग़-बग़ीचा, फरनीचर इत्यादि ऐसी चीजें आती हैं जो मनुष्य के स्वयं के काम में आती हैं और जिनसे धन कमाने का प्रयत्न नहीं किया जाता। दूसरी प्रकार की सम्पत्ति से जनता का शोषण नहीं किया जा सकता और ऐसी सम्पत्ति रखने का अधिकार प्रत्येक सभ्य मनुष्य को मिलना चाहिए। परन्तु पहली प्रकार की सम्पत्ति के अधिकार पर सरकार को कड़ा नियंत्रण रखना चाहिए। सरकार का धर्म है कि वह देखे कि सम्पत्ति का उपयोग जनता की भलाई के लिए ही होता है नकि उसके शोषण के लिए।

(८) पारिवारिक जीवन के अधिकार

इस शीर्षक के अन्तर्गत हम निम्नलिखित अधिकारों का वर्णन कर सकते हैं—

(अ) स्वतन्त्र रूप से विवाह करने का अधिकार (Right to free marriage)

(ब) तलाक़ अथवा विवाह विच्छेद का अधिकार (Right to Divorce)

(स) स्वतन्त्र पारिवारिक जीवन उपभोग करने का अधिकार (Right to free enjoyment of family life)

(अ) **स्वतंत्र विवाह का अधिकार**—हिन्दुओं का विश्वास है कि विवाह एक ऐसा विधि का विधान है जो पति और पत्नी को उनके व्यक्तित्व के पारस्परिक विकास के लिए आध्यात्मिक बन्धन में आबद्ध करता है। परन्तु कुछ अन्य धर्मों का कथन है कि विवाह पति और पत्नी के पारस्परिक सम्बन्ध का केवल इक़रार है जो गार्हस्थ्य जीवन के सुख की प्राप्ति के लिए किया जाता है। इन दोनों मतों में कौन सा

अधिक सत्य है, यहाँ यह विचार करने की आवश्यकता नहीं, यहाँ तो केवल यह समझ लेना पर्याप्त है कि विवाह मनुष्य जीवन की वह महत्वपूर्ण घटना है जिसकी सफलता पर मनुष्य का समस्त सुख अवलम्बित रहता है। इसलिए मनुष्यों को अपने जीवन के साथियों को चुनने की पूर्ण स्वतन्त्रता रहनी चाहिए। इस चुनाव में जाति सिद्धान्त अथवा धर्म की बाधाएँ नहीं होनी चाहिए।

(ब) तलाक़ का अधिकार—तलाक़ के अधिकार की आवश्यकता इसलिए पड़ती है कि यदि किन्हीं विशेष परिस्थितियों में पति और पत्नी का जीवन सुखपूर्वक व्यतीत न हो सके और वह कलह और द्वेष का घर बन जाय तो तलाक़ के द्वारा मनुष्य का गार्हस्थ्य जीवन नरक बनने से बचा रहे। यह एक स्वाभाविक सी बात है कि कभी-कभी मनुष्य अपने जीवन के साथी चुनने में ग़लती कर सकता है, परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं होना चाहिए कि इस ग़लती के लिए मनुष्य को सारी उम्र एक नारकीय जीवन में रहने के लिए मजबूर किया जाय। ऐसी विषम परिस्थितियों में प्रत्येक स्त्री-पुरुष को तलाक का अधिकार मिलना चाहिए।

(स) स्वतंत्र पारिवारिक जीवन उपभोग करने का अधिकार—किसी भी मनुष्य के गार्हस्थ्य जीवन के घरेलू मामलों में बाहर के व्यक्तियों को हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं होना चाहिए। पारिवारिक जीवन एक व्यक्तिगत विषय है, कोई मनुष्य कैसे मकान में रहता है, अपने बच्चों को किस स्कूल में शिक्षा देता है, अपनी स्त्री को किस प्रकार के आभूषणों से सुसजित करता है, इत्यादि व्यक्तिगत मामले हैं। परिवार से बाहर के सदस्यों को इन मामलों में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं होना चाहिए। परन्तु इसका यह आशय कदापि नहीं कि कोई माता पिता अपने बच्चों को चोर और डाकू बनाने की शिक्षा दे सकते हैं या उनको घर से बाहर

निकाल सकते हैं, या उनके साथ दुर्व्यवहार कर सकते हैं। समाज को ऐसे मामलों में हस्तक्षेप करने का पूर्ण अधिकार है। प्रत्येक परिवार के बच्चे को उचित प्रकार की शिक्षा मिले। प्रत्येक परिवार एक स्वास्थ्य-प्रद मकान में निवास करे, तथा परिवार के सारे भी सदस्यों के साथ समानता का व्यवहार हो, यह व्यक्तिगत प्रश्न होने के साथ-साथ सामाजिक मामले भी हैं, और समाज को इन प्रश्नों पर नियंत्रण रखने का उतना ही अधिकार है जितना किसी व्यक्ति को।

मौलिक अधिकार (Fundamental Rights)

उपरोक्त वर्णित अधिकार कभी-कभी राज्य में निवास करने वाले नागरिकों के मौलिक अधिकार भी कहे जाते हैं। अधिकांश प्रजातन्त्र देशों में इस प्रकार के अधिकार विधान द्वारा नागरिकों को प्रदान किये जाते हैं। वे पवित्र अधिकार माने जाते हैं और, निर्दिष्ट परिस्थितियों के अतिरिक्त, सरकार द्वारा उनकी अवहेलना नहीं की जा सकती।

§ ४. कर्तव्य

कर्तव्यों का अर्थ और उनके प्रकार

कर्तव्यों का अर्थ एक इस प्रकार के कार्य करने की प्रेरणा है जो एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य अथवा सारी समाज के प्रति करने चाहिए। कर्तव्य दो प्रकार के हो सकते हैं :—(१) नैतिक (२) क़ानूनी। 'हम दूसरों के प्रति आदर-सत्कार का व्यवहार करें, उनकी मान प्रतिष्ठा को हानि न पहुँचावें; अपने माता-पिता और गुरुजनों की आज्ञा का पालन करें" इत्यादि हमारे नैतिक कर्तव्य कहलाते हैं। नैतिक अधिकारों की भाँति प्रत्येक मनुष्य के नैतिक कर्तव्य भी होते हैं, और इसी प्रकार क़ानूनी अधिकारों की भाँति उनके क़ानूनी कर्तव्य। क़ानूनी कर्तव्यों में हम दूसरों के शरीर को चोट न पहुँचाने का कर्तव्य, चोरी न करने का कर्तव्य,

दूसरों की मान-हानि न करने का कर्तव्य इत्यादि के उदाहरण दे सकते हैं। यदि मनुष्य अपने इन कर्तव्यों की पूर्ति न करें तो उन्हें राज्य द्वारा दंड दिया जा सकता है। नैतिक कर्तव्यों में राज्य दंड की व्यवस्था नहीं हो सकती। कोई भी राज्य मनुष्य को सच बोलने, दूसरों का आदर करने, तथा एक निर्मल जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य नहीं कर सकता। इस प्रकार का जीवन तो मनुष्य की आंतरिक नैतिकता की भावना पर ही निर्भर रहता है, और इसीलिए ऐसे कर्तव्य क़ानूनी कर्तव्य न कहलाकर मनुष्य के नैतिक कर्तव्य कहलाते हैं।

हमारे कर्तव्य किसी व्यक्ति विशेष अथवा सारी समाज के प्रति हो सकते हैं। यदि हम किसी एक व्यक्ति से ५०) रुपए उधार लेते हैं तो हमारा उस एक व्यक्ति के प्रति कर्तव्य है कि हम उसका ऋण चुका दें, दूसरी ओर हमारे सारी समाज के प्रति भी कर्तव्य होते हैं, हम सदाचारी जीवन व्यतीत करें, समाज में शांति और सुव्यवस्था बनाए रखने में सहायता दें, राष्ट्रीय सरकार को सहयोग दें, इत्यादि, हमारे सारे समाज के प्रति कर्तव्य हैं।

कर्तव्यों और अधिकारों का जैसा हम पहले देख चुके हैं 'कार्य कारण' का-सा सम्बन्ध है। अधिकार कर्तव्यों की दुनिया में ही क़ायम रह सकते हैं। नागरिकशास्त्र का सबसे महत्वपूर्ण उद्देश्य समाज के प्रत्येक मनुष्य को उसके अधिकार और कर्तव्यों का ज्ञान कराना है। जो मनुष्य इतना भीरु है कि वह अपने अधिकारों की रक्षा के लिए नहीं लड़ सकता, वह मनुष्य कहलाने का अधिकारी नहीं। इसी प्रकार जो मनुष्य अपने कर्तव्यों को नहीं समझता तथा उनका पालन नहीं करता वह मनुष्य नागरिकता का अधिकारी नहीं बन सकता। नागरिकशास्त्र अधिकारों की अपेक्षा कर्तव्यों पर अधिक ज़ोर देता है और इसका कारण यह है कि यदि समाज में प्रत्येक मनुष्य अपने कर्तव्यों का पालन करता चला जाय तो अधिकारों की रक्षा स्वयं ही हो जाती है। हिन्दू धर्म में भी मनुष्य को अपने कर्तव्यों

का पालन करने पर ही अधिक ज़ोर दिया गया है। "धर्म का अर्थ कर्तव्य से है" हिन्दू समाज में प्रत्येक अच्छे कार्य को धर्म का स्वरूप इसीलिए दिया गया है कि मनुष्य पाप के भय से अपने कर्तव्यों का उचित रूप से पालन करें।

राज्य के प्रति नागरिकों के कुछ आवश्यक कर्तव्य—हम ऊपर देख चुके हैं कि कर्तव्यों का क्षेत्र अधिकारों के क्षेत्र के समान विस्तृत है। परन्तु यहाँ हम मनुष्य के कर्तव्यों की कोई वृहद सूची न देकर केवल उसके राज्य के प्रति कर्तव्यों का विवरण करेंगे।

(१) **राज्य के क़ानूनों को मानने का कर्तव्य**—मनुष्य का अपने राज्य के प्रति सबसे महत्वपूर्ण कर्तव्य राज्य के क़ानूनों का पालन करना है। क़ानून, समाज के हित तथा समाज में शांति क़ायम रखने के लिए बनाए जाते हैं। हृदय से राज्य का हित चाहने वाले प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य है कि वह राज्य के अच्छे क़ानूनों को माने। आज्ञा पालन की सीमा की विस्तृत विवेचना क़ानून के अध्याय में की जायगी। यहाँ केवल इतना बता देना काफ़ी है कि आमतौर पर नागरिकों को राज्य के सभी क़ानूनों को मानना चाहिए।

(२) **भक्ति (Allegiance)**—राज्य-भक्ति के आधार पर ही किसी देश में नागरिक और अनागरिकों की पहचान की जाती है। राज्य-भक्ति का अर्थ है कि किसी भी नागरिक को राज्य के प्रति विश्वासघाती न होना चाहिए। राज्य-भक्ति में नागरिक के निम्नलिखित कर्तव्य शामिल हैं :—

(अ) **फौज में नौकरी करने का कर्तव्य**—वैसे तो प्रत्येक देश में बाहरी आक्रमणों से उसकी रक्षा के लिए एक फौज का प्रबन्ध होता है परन्तु कभी-कभी राष्ट्र पर इतना संकट आ जाता है कि मामूली फौज देश की स्वतन्त्रता की रक्षा नहीं कर सकती। ऐसे अवसर पर प्रत्येक

नागरिक का धर्म है कि वह फौज में भरती होकर अपने देश की रक्षा के लिए लड़ाई में भाग ले।

(ब) सरकारी अफ़सरों की सहायता—प्रत्येक नागरिक का यह भी कर्तव्य है कि वह समाज में शान्ति और सुव्यवस्था बनाए रखने में सरकार का हाथ बटाए। किसी भी देश में चोर और डकैत, लुटेरे और व्यभिचारी लोगों को पकड़ने का उस समय तक कोई समुचित प्रबन्ध नहीं हो सकता जब तक जनता पुलिस का इस काम में हाथ न बटाए। एक प्रजातन्त्रवादी शासन में जनता के प्रत्येक सदस्य का धर्म है कि वह अपने आपको सरकार का ही एक अंग समझे और उसके कार्य में हर प्रकार की सहायता दे।

(स) करों को चुकाना —कर राज्य का प्राण है। किसी भी देश की सरकार बिना धन के नहीं चलाई जा सकती। यह धन सरकार को केवल करों के रूप में ही मिलता है। प्रत्येक नागरिक का धर्म है कि वह इन करों की अदायगी को अपना परम धर्म समझे। करों के चुकाने में किसी प्रकार की बेईमानी नहीं करनी चाहिए। ऐसी बेईमानी से मनुष्य का नैतिक पतन होता है और सरकार को अच्छी प्रकार शासन कार्य चलाने के लिए समुचित धन प्राप्त नहीं होता।

(ड) नागरिकों के अन्य कर्तव्य—नागरिकों के अन्य कर्तव्य नैतिक कर्तव्यों के समान रहते हैं। उन्हें सामाजिक जीवन और समाज के सामान्य हित की उन्नति की भावना से करना चाहिए। ऐसे कर्तव्यों में हम सभ्यतापूर्वक उठना, बैठना, चलना बातें करना, अतिथि सत्कार करना, सामाजिक कुरीतियों को दूर करना, गरीबों की सहायता करना, अपने मत का उचित उपयोग करना, सरकारी पदों को ग्रहण करना, बालकों को उचित प्रकार की शिक्षा प्रदान करना, अपने मकानों के आस-पास सफाई रखना, छूत की बीमारियों को फैलने से रोकना, स्वदेशी वस्तुओं का उपयोग करना, राष्ट्रीय हित की रक्षा करना, और राष्ट्रीय

मान प्राप्त करने के लिए लड़ना इत्यादि **कर्तव्यों** *के उदाहरण दे* **सकते** *हैं।*

इन सब कर्तव्यों में मताधिकार का कर्तव्य सबसे महत्वपूर्ण है। मत राष्ट्र या नागरिक को सौंपा हुआ एक पवित्र विश्वास है। इसलिए उसका उपयोग बड़ी सावधानी, ईमानदारी और विचारपूर्वक करना चाहिए। किसी विशेष उम्मीदवार के पक्ष में मत देते समय जातीय अथवा व्यक्तिगत हित की भावना का ध्यान नहीं रखना चाहिये। इस अथवा अन्यान्य कर्तव्यों के पालन करते समय हमें समाज के हित का ही ध्यान रखना चाहिए।

§ ५. भारत के नए विधान में नागरिकों के मूल अधिकार

१५ अगस्त सन् १९४७ को सदियों की गुलामी के बाद भारत स्वतन्त्र हुआ। परतंत्रता की घोर निशा को चीरकर भारत ने एक बार फिर स्वतन्त्रता के स्वर्णिल-प्रभात में प्रवेश किया। भारत के नागरिकों को परतंत्रता के काल में किसी प्रकार के नागरिक अधिकार प्राप्त नहीं थे। भारतीय जनता के स्वतन्त्रता संग्राम का दमन करने के लिए, ब्रिटिश सत्ता ने तरह-तरह के क़ानून बना रखे थे। जनता को किसी प्रकार की वाक-स्वतन्त्रता, सार्वजनिक सभा करने की आज़ादी या स्वतन्त्र रूप से पत्र प्रकाशित करने का अधिकार नहीं था। किसी भी मनुष्य को बिना मुक़दमा चलाए या उस पर बिना किसी प्रकार का अभियोग सिद्ध हुए, जेल में डाला जा सकता था। नागरिकों के किसी एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने पर रोक लगाई जा सकती थी, उनको दफ़ा १४४ की धारा के अन्तर्गत भाषण देने से रोका जा सकता था। यदि ब्रिटिश शासन में किसी को अधिकार प्राप्त थे तो वह केवल ज़मींदारों, राजाओं या बड़े-बड़े पूँजीपतियों को थे जिसके कारण वह स्वच्छन्द रूप से जनता का निर्भीकता तथा निर्दयतापूर्वक शोषण कर सकते थे। भारत की ग़रीब

तथा मूक जनता को किसी भी प्रकार के नागरिक अधिकार प्राप्त नहीं थे।

परन्तु, आज भारत स्वतंत्र है, पराधीनता की बेड़ियों से मुक्त है। भारत के नए विधान में नागरिकों के अनेक मूल अधिकारों का वर्णन किया गया है। इनमें कहा गया है कि भारत का नया विधान स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व भाव पर अवलम्बित है। भारत के प्रत्येक नागरिक को भाषण, सार्वजनिक सभा, संगठन, चलने-फिरने, पत्र प्रकाशित करने और किसी भी प्रकार का व्यापार करने की स्वतन्त्रता है। किसी भी मनुष्य को उसके धर्म, जाति या सम्प्रदाय के कारण अधिकारों से वंचित न किया जायगा। स्त्री और हरिजनों को बराबर के नागरिक अधिकार प्राप्त होंगे। अस्पर्शता का अंत कर दिया जायगा। स्वतन्त्र भारत में किसी भी नागरिक को राज्य की ओर से उपाधि नहीं दी जायगी। संपत्ति खरीदने और बेचने का अधिकार प्रत्येक नागरिक को प्राप्त होगा। कोई भी मनुष्य किसी भी धर्म में विश्वास रख सकेगा। अल्पसंख्यकों के धर्म और संस्कृति की रक्षा की जायगी। भारतीय समाज से बेगार और ज़बरदस्ती काम लेने की प्रथा का अंत कर दिया जायगा। नागरिकों के इन अधिकारों की रक्षा देश की सबसे बड़ी अदालत (Supreme Court) के द्वारा की जायगी।

परीक्षा-प्रश्न

(१) आप 'अधिकार और कर्तव्य' शब्द से क्या समझते हैं? वे कितने प्रकार के होते हैं?

(२) "अधिकार कर्तव्यों के जगत में उत्पन्न होते हैं।" इस पर प्रकाश डालिए। (यू० पी०, १९३७, १९४३)

(३) "अधिकार और कर्तव्यों का एक दूसरे से पारस्परिक सम्बन्ध है" समझाइए। (यू० पी०, १९४०)

(४) ऐसे अधिक आवश्यक कर्तव्य कौन से हैं जिन्हें नागरिकों को पूरा करना चाहिए? भारतवर्ष के लोग इन कर्तव्यों की पूर्ति कहाँ तक करते हैं?

(५) अधिकार किस तरह सामाजिक वस्तु हैं और वह किस प्रकार मनुष्य की आत्म-उन्नति के लिए ज़रूरी हैं—बतलाइए।

(६) अधिकारों की स्वीकृति की आवश्यकता और उपयोगिता क्या है ?

(७) अधिकारों की उत्पत्ति, विकास और स्वभाव क्या है ?

(८) 'अधिकार' की व्याख्या कीजिए। एक नागरिक के नागरिक अधिकारों का वर्णन कीजिए। (कलकत्ता, १९३२, १९४१)

(९) आदर्श, नैतिक और कानूनी अधिकारों की भिन्नता बतलाइए। आपकी राय के मुताबिक वे कौन से आदर्श अधिकार हैं जिन्हें नागरिक को उपयोग करना चाहिए ?

(१०) नागरिकों के राज्य के प्रति कौन से कर्तव्य हैं ? किस हद तक राज्य उन कर्तव्यों का पालन करने के लिए मजबूर कर सकता है ? (यू० पी०, १९३०)

(११) 'अधिकार और कर्तव्य' शब्द को समझाइए। राष्ट्रीय अधिकार क्या हैं ? (यू० पी०, १९३५, १९४६)

(१२) 'राजनैतिक अधिकार' शब्द की व्याख्या कीजिए। आपके ख़्याल से मुख्य राजनैतिक अधिकार क्या हैं ? (यू० पी०, १९३६)

(१३) आधुनिक राज्य के नागरिकों के अधिक आवश्यक अधिकारों और कर्तव्यों का वर्णन कीजिए। (यू० पी०, १९४२)

(१४) आप 'मनुष्य के अधिकार' शब्द से क्या समझते हैं ? वे किस प्रकार स्वीकृत किए जाते और नागरिक के लिए सुरक्षित रखे जाते हैं। (यू० पी०, १९३७)

(१५) अधिकारों की व्याख्या कीजिए और बतलाइए कि आपकी राय के मुताबिक राज्य को कौन से अधिकार प्रदान करना चाहिए। (यू० पी०, १९३२)

(१६) आपकी राय में नागरिक के सबसे महत्त्वपूर्ण कर्तव्य कौन से हैं ? (यू० पी०, १९४८)

सातवाँ अध्याय

स्वतंत्रता (Liberty)

१. स्वतंत्रता का स्वभाव

हम पिछले अध्याय में बतला चुके हैं कि अधिकार और कर्तव्य मनुष्य के अच्छे सामाजिक जीवन की आवश्यक अवस्थाएँ हैं तथा, दूसरे अधिकारों की भाँति, स्वतंत्रता भी मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है। मनुष्य के दूसरे अधिकारों का विश्लेषण हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं। इस अध्याय में हम स्वतंत्रता का सही अर्थ समझने का प्रयत्न करेंगे।

स्वतंत्रता शब्द का भ्रममूलक अर्थ

दुर्भाग्यवश, आधुनिक काल में, स्वतंत्रता शब्द का प्रयोग तो बहुत अधिक होता है। प्रायः प्रत्येक ही बड़े और छोटे, पढ़े-लिखे और मूर्ख, राजनीतिज्ञ और प्लैटफार्म स्पीकर की ज़बान पर यह शब्द रहता है, परन्तु इन लोगों में से बहुत कम ऐसे मनुष्य होते हैं जो वास्तव में इस शब्द का ठीक-ठीक और सही अर्थ समझते हों। अधिकतर लोग स्वतंत्रता शब्द का अर्थ, दूसरों के द्वारा, बिना किसी प्रकार की रुकावट के, मनमाने तरीक़े से काम करने की आज़ादी, समझते हैं। इन लोगों का यह विचार मनुष्य जीवन को वैयक्तिक भावना पर निर्भर है। वह समझते हैं कि मनुष्य अपना भला स्वयं समझता है और इसलिये उसे अपनी इच्छा-नुसार स्वतंत्र रूप से कार्य करने की स्वाधीनता प्राप्त होनी चाहिए, कोई आदमी कैसे रहता है, क्या खाता है, अपने बच्चों से किस प्रकार का व्यवहार करता है, गंदे मकान में रहता है, या अच्छे

में, शराब पीता है या नहीं, किस उम्र में और कितने विवाह करता है इत्यादि वैयक्तिक प्रश्न हैं। समाज के दूसरे मनुष्यों को इन कार्यों में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं होना चाहिए। ऐसे मनुष्य सड़क के बीचोंबीच चलने में भी अपनी शान समझते हैं और यदि कोई व्यक्ति उनसे कहे कि सड़क के बाँईं ओर चलना चाहिए बीच में नहीं, तो इसमें वह अपनी स्वतंत्रता का नाश और अधिकारों का हनन समझते हैं। स्वतंत्रता शब्द का यह स्वरूप एकदम विकृत है। यदि यही अर्थ सच मान लिया जाय, तो इस आशय के अंतर्गत संसार में केवल एक ही मनुष्य स्वतंत्र रह सकेगा, संसार के दूसरे सारे मनुष्य उसके ग़ुलाम बन कर ही रहेंगे।

हम पिछले अध्यायों में बतला चुके हैं कि मनुष्य एक वैयक्तिक जीवन व्यतीत नहीं कर सकता। स्वभाव और आवश्यकता दोनों के कारण वह समाज में ही जीवित रह सकता है और समाज के ही द्वारा अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकता है। इसलिए यह कहना कि "मनुष्य किस प्रकार का आचरण करता है" यह एक वैयक्तिक प्रश्न है, सामाजिक नहीं, सर्वथा ग़लत है। मनुष्य के प्रत्येक कार्य का समाज पर प्रभाव पड़ता है इसलिये समाज का धर्म है कि वह देखे कि कोई व्यक्ति ऐसा काम तो नहीं करता जिसके द्वारा वह अपना और समाज दोनों का अहित करता हो। मनुष्य शराब पीते समय या कोई और बुरा काम करते समय यह नहीं सोचता कि इससे उसकी हानि होती है और समाज का नैतिक पतन होता है। इसलिये समाज के दूसरे सारे सदस्यों का धर्म है कि वह मनुष्य के प्रत्येक कार्य की जाँच करें और उसे केवल ऐसे ही कार्य करने दें जिससे उसका स्वयं और समाज दोनों का भला हो। इसलिए स्वतंत्रता शब्द का अर्थ स्वच्छन्दता नहीं, इस शब्द का अर्थ है 'मनुष्य को अपने व्यक्तित्व के विकास

की पूर्ण आजादी* दूसरे शब्दों में 'ऐसी अवस्थाओं का अभाव जिनके कारण मनुष्य एक अच्छा और उपयोगी सामाजिक जीवन व्यतीत करने में असमर्थ हो।†

स्वतंत्रता शब्द का कुछ लोग एक और मतलब भी लगाते हैं और वह यह कि प्रत्येक मनुष्य को कार्य करने की उस समय तक पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए, जब तक वह दूसरे मनुष्य के समान अधिकारों पर वार नहीं करता. अर्थात् यदि एक मनुष्य अपने पड़ोसी को परेशान नहीं करता तो वह अपने मकान में जिस प्रकार भी चाहे रह सकता है। स्वतंत्रता शब्द का यह अर्थ भी भ्रमात्मक है। कारण, यह अर्थ इस भावना पर अवलम्बित है कि मनुष्य अपने व्यक्तित्व का विकास केवल उसी समय कर सकता है जब दूसरे लोग उसके कार्य में हस्तक्षेप न करें और उसे अपनी इच्छानुसार कार्य करने दें। वास्तव में सचाई बिल्कुल इसके विपरीत है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज के दूसरे मनुष्यों के क्रियात्मक सहयोग और सहायता के बिना कोई भी मनुष्य समाज में उन्नति नहीं कर सकता। एक बच्चा या बूढ़ा, अपाहिज या रोगी. अलग रहकर समाज के दूसरे सदस्यों के सहयोग के बिना, मर ही सकता है, अपने जीवन का विकास नहीं कर सकता। इसलिए स्वतंत्रता शब्द का अर्थ स्वच्छन्दता अर्थात् 'नियंत्रण का अभाव' है और न 'कम से कम नियंत्रण'।

स्वतंत्रता शब्द का सही अर्थ—

स्वतंत्रता शब्द का सही अर्थ है [१] मनुष्य के मौलिक अधिकारों की रक्षा और [२] ऐसे नियन्त्रणों का अभाव जो मनुष्य के व्यक्तित्व

---

*Liberty means freedom to develop one's personality within maximun limits."

†Liberty means hindering of hindrances to good social life."

के विकास में बाधायें सिद्ध हों। इन दो भावों के अन्तर्गत 'स्वतन्त्रता' अकरात्मक Positive और नकरात्मक Negative दोनों बन जाती है।

(१) **अकरात्मक**—स्वतन्त्रता केवल एक नकरात्मक भावना नहीं। स्वतन्त्रता का अर्थ है उन परिस्थितियों का होना जिनके कारण मनुष्य अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सके। इसलिए मनुष्य के अधिकारों की रक्षा ही मनुष्य की स्वतन्त्रता की पूर्ण रक्षा है।

(२) **नकरात्मक**—स्वतन्त्रता का दूसरा आवश्यक अङ्ग उन परिस्थितियों और नियन्त्रणों को दूर करना है जिनके कारण मनुष्य अपनी सामाजिक उन्नति नहीं कर सकता। प्रत्येक मनुष्य अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए कुछ स्वतन्त्र वातावरण चाहता है। हर क्षेत्र और हर कार्य में हस्तक्षेप मनुष्य को आलसी और परोपजीवी बना देता है, उसमें स्वयं कार्य करने, विचारने, आविष्कार करने तथा नई-नई बातें सोचने की शक्ति नहीं रहती। इसलिये स्वतन्त्रता का अर्थ उन परिस्थितियों को रोकना भी है जो मनुष्य के सर्वोतमुखी तथा पूर्ण व्यक्तित्व के विकास में बाधक सिद्ध हो सकती है।

सार्वभौमिकता तथा स्वतन्त्रता (Sovereignty and liberty)

यदि स्वतन्त्रता का अर्थ स्वच्छन्दता नहीं, वरन् अधिकारों की रक्षा है तो यह आवश्यक है कि समाज में कोई ऐसी संस्था अवश्य होनी चाहिये जो मनुष्य के मौलिक अधिकारों की रक्षा कर सके तथा अपराधियों को दण्ड दे सके। यह कार्य प्रत्येक देश में राज्य द्वारा किया जाता है। कुछ लोगों का विचार है कि राज्य के नियमों के पालन से मनुष्य की स्वतन्त्रता का हनन होता है क्योंकि राज्य, शक्ति का परिचायक है, और मनुष्य की स्वतन्त्रता केवल उस समय क़ायम रह सकती है जब मनुष्य स्वेच्छा से कार्य करे, शक्ति के भय से नहीं। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो यह मत एकदम भ्रममूलक सिद्ध होगा। प्रत्येक समाज में कुछ

न कुछ मनुष्य ऐसे होते हैं जो दूसरों के अधिकारों की परवाह न करके मनमानी करते हैं। राज्य का कर्तव्य है कि वह ऐसे मनुष्यों को दण्ड दे और इस प्रकार समाज के छोटे से छोटे और कमज़ोर से कमज़ोर व्यक्ति की सहायता करे। राज्य एक निष्पक्ष संस्था है, वह समाज के प्रत्येक व्यक्ति के अभिकारों की बिना भेदभाव के रक्षा कर सकती है। इसलिए राज्य की सार्वभौमिकता स्वतन्त्रता की विरोधी नहीं वरन् उसकी प्रथम आवश्यकता है। बिना राज्य के किसी भी मनुष्य की स्वतन्त्रता की रक्षा नहीं हो सकती।

परन्तु इस सब का यह अर्थ कदापि नहीं समझना चाहिए कि प्रत्येक देश की सरकार जनता के अधिकारों तथा उसकी स्वतन्त्रता की रक्षा करती है। बहुत-सी सरकारें इस प्रकार की होती हैं जो जनता का दमन और उसकी निर्दयतापूर्वक शोषण करती हैं। ऐसी सरकारों के नियम मानने के लिए नागरिक बाध्य नहीं। परन्तु किसी सरकार के बुरे होने का अर्थ राज्य की सत्ता को मिटा देना नहीं, वरन् सरकार को बदलने की आवश्यकता पर ज़ोर देना है। राज्य और सरकार दो भिन्न-भिन्न संस्थायें हैं। सरकार बुरी हो सकती है, परन्तु राज्य नहीं। सरकार बदली जा सकती है, परन्तु राज्य की सत्ता नहीं मिटाई जा सकती।

क़ानून और स्वतन्त्रता

स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए केवल राज्य का होना ही आवश्यक नहीं, वरन् राज्य द्वारा प्रसारित नियम और क़ानूनों का होना भी आवश्यक है। क़ानून का अर्थ राज्य के उन नियमों से है जो समाज में शान्ति और व्यवस्था क़ायम रखने तथा जनता के अधिकारों की रक्षा के लिए बनाए जाते हैं। प्रत्येक मनुष्य का धर्म है कि वह राज्य के ऐसे नियमों का पालन करे। इन नियमों के पालन से ही जनता के सारे सदस्यों के अधिकारों की रक्षा हो सकती है। इनकी अवहेलना से समाज में मारकाट, लूट-खसोट, और अराजकता फैल जाती है। किसी भी मनुष्य के अभिकार सुरक्षित

नहीं रहते, और 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' नियम के अन्तर्गत समाज का सङ्गठन चलने लगता है।

एक उदाहरण से हमारा यह आशय बिल्कुल स्पष्ट हो जायगा। प्रत्येक नगर में पैदल जनता, मोटर-गाड़ी, बैल-ठेला, ताँगा-घोड़ा इत्यादि के चलने के लिए 'सड़क के नियम' (Rules of the road) होते हैं। इन नियमों के अनुसार पैदल जनता पटरियों पर चलती है, आहिस्ता चलने वाली सवारी सड़क के बायें ओर और तेज़ चलने वाली गाड़ियाँ सड़क के बीचोबीच चलती है। थोड़ी देर के लिए यदि इन नियमों का पालन न किया जाय और प्रत्येक मनुष्य को यह स्वतन्त्रता दे दी जाय कि वह जहाँ चाहे और जैसे चाहे सड़क पर चले, तो इससे कुछ ही मिनटों में सड़क पर एक अजीब कोलाहल, भीड़भाड़ और अव्यवस्था का दृश्य दृष्टिगोचर होगा। शायद कुछ ही देर में दो-चार दुर्घटना भी हो जायँ और बेगुनाह राहगीरों का खून भी बहने लगे। सरकार के क़ानूनों के द्वारा इस प्रकार की अव्यवस्था की भी रोकथाम की जाती है और थोड़े से नियंत्रण तथा असुविधा से जनता के सारे सदस्यों के अधिकारों की रक्षा हो जाती है।

राज्य के कानून इस प्रकार जनता के अधिकारों का हनन नहीं वरन् उनकी रक्षा करते हैं। वह प्रत्येक मनुष्य से अनुशासित जीवन की माँग करके सारी जनता के अधिकारों की रक्षा करते हैं।

प्रत्येक कानून से स्वतन्त्रता की वृद्धि नहीं होती

परन्तु यहाँ यह समझ लेना भी आवश्यक है कि प्रत्येक कानून से स्वतन्त्रता की रक्षा नहीं होती। क़ानून ऐसे शासकों द्वारा भी बनाए जा सकते हैं जो उनके द्वारा ग़रीब जनता का दमन तथा अपनी स्वार्थ सिद्धि करना चाहें। क़ानून एक दुधारी तलवार है, इससे जनता का भला भी हो सकता है और उसके अधिकारों का अपहरण भी। अच्छे शासक क़ानूनों द्वारा जनता की सेवा कर सकते हैं, परन्तु स्वार्थी शासक

उन्हीं क़ानूनों से जनता के अधिकारों का अपहरण भी । इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रत्येक क़ानून से स्वतंत्रता की वृद्धि नहीं होती, परन्तु फिर भी स्वतंत्रता की रक्षा के लिये अच्छे नियमों के पालन की आवश्यकता होती है। अच्छे और बुरे क़ानूनों की क्या पहिचान है तथा किन परिस्थितियों में मनुष्य राज्य के क़ानून मानने के लिए बाध्य नहीं, इस प्रश्न का विचार हम एक अगले अध्याय में करेंगे। यहाँ केवल मोटे तौर पर इतना समझ लेना पर्याप्त है कि क़ानूनों के पालन के बिना स्वतंत्रता की रक्षा नहीं हो सकती, और प्रत्येक व्यक्ति का धर्म है कि वह अराजकता रोकने के लिए सरकार के प्रत्येक नियम का पालन करे।

स्वतंत्रता की आवश्यकता

फासिस्ट दृष्टिकोण—स्वतंत्रता शब्द का सही अर्थ समझ लेने के पश्चात् यह आवश्यक है कि हम यह समझने का प्रयत्न करें कि स्वतंत्रता सामाजिक संगठन के लिए क्यों आवश्यक है, क्या स्वतन्त्रता के बिना मनुष्य एक अच्छा जीवन व्यतीत नहीं कर सकता, क्या समाज के प्रत्येक व्यक्ति के लिए स्वतंत्रता आवश्यक है, क्या एक स्वतंत्र समाज ही उन्नति कर सकता है, एक विचार वद्ध, और, एक नेता के नीचे संगठित समाज नहीं। यह प्रश्न अत्यन्त विचारणीय है।

संसार में ऐसे लोगों का अभाव नहीं जो स्वतंत्रता को मनुष्य और समाज दोनों के हितों का घातक समझते हैं, इन लोगों में सभी देशों के फासिस्ट बिचार वाले मनुष्य शामिल हैं। इन लोगों का कहना है कि समाज में अधिकतर मनुष्य मूर्ख होते हैं, वह अच्छे और बुरे की पहचान नहीं कर सकते, वह प्रत्येक वस्तु को तर्क की दृष्टि से नहीं वरन् भावना की दृष्टि से देखते हैं, उनके जीवन का मस्तिष्क नहीं वरन् हृदय संचालन करता है। ऐसे मनुष्य, अपनी या समाज की वास्तविक भलाई, किसी विशेष परिस्थिति में, किस प्रकार का कार्य करने में है, नहीं समझते।

वह सार्वजनिक प्रश्नों पर अखबारों, रेडियो, बड़े वक्ताओं के भाषणों तथा राजनीतिज्ञों के व्याख्यानों के आधार पर, अपनी राय क़ायम करते हैं, स्वतंत्र विचार करने की, इन लोगों में शक्ति नहीं होती। इसलिए फासिस्ट विचारकों का कहना है कि, जनता के कुछ थोड़े आदमियों को छोड़कर, जो वास्तव में बुद्धिमान हैं तथा भले-बुरे की पहचान कर सकते हैं, बाक़ी लोगों को किसी प्रकार की स्वतंत्रता नहीं होनी चाहिए। इन लोगों को स्वतंत्रता देने से सामाजिक संगठन ढीला पड़ जाता है, समाज में अनेक वर्ग और पार्टियाँ बन जाती हैं, आपस के झगड़े बढ़ जाते हैं, सामाजिक कार्य कुशलता का अंत हो जाता है, और अंत में देश उन्नति करने के बजाय अवनति की ओर अग्रसर होने लगता है। फासिस्ट विचार वाले लोग इसलिए केवल ऐसे ही मनुष्यों को स्वतंत्रता देना चाहते हैं जो दूसरों पर राज्य कर सकें, उन पर अपना प्रभुत्व जमा सकें। वह स्वतंत्र विचार के नियम में विश्वास नहीं करते, जनता के विचारों पर वह रेडियो, अखबारों, सिनेमाओं तथा इसी प्रकार के दूसरे प्रोपेगेन्डा के शस्त्रों द्वारा नियंत्रण करना चाहते हैं। वह समाज का संगठन एक नेता, एक उद्देश्य, एक कार्यक्रम के नारे पर करना चाहते हैं। जनता के सारे भी सदस्यों के व्यक्तित्व तथा उनकी इच्छाओं का एकीकरण, वह नेता के व्यक्तित्व तथा उसकी इच्छा में कर देना चाहते हैं। फासिस्ट शासन में जनता की राय का कोई मूल्य नहीं माना जाता। एक नेता और उसके नीचे काम करने वाले कुछ थोड़े से लोगों का समूह सारे समाज और राष्ट्र के कार्य का संचालन करता है।

प्रजातंत्रात्मिक दृष्टिकोण—हमारी राय में स्वतन्त्रता का फासिस्ट दृष्टिकोण व्यक्ति और समाज दोनों की भलाई के विचार से अत्यन्त खतरनाक है। स्वतन्त्रता मनुष्य जीवन का सार है, यह वह शक्ति है जो मनुष्य को जंगली जानवरों और पशुओं से पृथक करती है, यह वह भावना है जो मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास में बीज का काम देती है। स्वतन्त्रता

हीन मनुष्य चिड़ियाघर में बंद शेर और चीते के समान होता है, जिसे खाने-पीने के प्रत्येक सुख होने पर भी जीवन का वास्तविक आनन्द नहीं मिलता। मनुष्य महल में बन्द होकर और संसार के आनन्द की सारी भी वस्तुएँ प्राप्त करके, उस आनन्द के एक कण का भी अनुभव नहीं करता जो एक स्वतन्त्रता के जीवन में, मनुष्य. जंगल में रहकर और भूखा रहने पर भी अनुभव करता है। स्वतन्त्रता जीवन का मधु है, यह मनुष्यता की आत्मा है।

फासिस्ट विचार-शैली कार्य कुशलता पर अधिक ज़ोर देती है, इस कुशलता की प्राप्ति के लिए यदि उसे व्यक्ति की स्वतन्त्रता का बलिदान करना पड़े तो वह इसमें परहेज नहीं करती, परन्तु यह उस आदर्श का बिल्कुल विचार छोड़ देती है जिसकी प्राप्ति के लिए सामाजिक संगठन का ढाँचा खड़ा किया जाता है, सामाजिक संगठन का आदर्श मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास है, किसी समाज में इस आदर्श का बलिदान करके कार्य कुशलता की प्राप्ति करना, समाज के संगठन की हँसी उड़ाना है और उसके मूल तत्व को भुला देना है। व्यक्तियों से मिलकर समाज का संगठन होता है, यदि किसी समाज में जनता के व्यक्तित्व का विकास नहीं होता तो वह सामाजिक संगठन बिल्कुल निर्मूल और खोखला बन जाता है। फासिस्ट विचारशैली इस प्रकार मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास की शत्रु है।

फासिस्ट विचारों के अन्तर्गत नमाज का संगठन एक नेता की इच्छा के आधीन होता है, जनता के किसी भी सदस्य को नेता के आदर्शों पर टीका-टिप्पणी करने का अधिकार प्राप्त नहीं होता, इससे शासन में उस विरोधी दल का जन्म नहीं होने पाता जिसके कारण शासक वर्ग अपनी त्रुटियों को देख सकते हैं और जनता की इच्छानुसार अपने राज्य कार्य का संचालन कर सकते हैं। विरोधी दल के अभाव से, राज्य कार्य का संचालन करने वाले लोग, अत्याचारी बन जाते हैं और वह जनता के

हित का विचार छोड़कर अपनी स्वार्थ-सिद्धि की पूर्ति में लग जाते हैं। इसके विपरीत प्रजातन्त्रात्मिक नियमों के आधीन शासकवर्ग, जनता की राय का उल्लंघन नहीं कर सकते, वह जनता के सेवक के रूप में कार्य करते हैं, और किसी समय यदि जनता की राय उन्हें प्राप्त न हो तो उन्हें अपने पद से अलग हो जाना पड़ता है।

स्वतन्त्रता और कार्य-कुशलता के चुनाव में मनुष्य सदा स्वतन्त्रता को ही ऊँचा स्थान देगा। स्वतन्त्रता मानव-जीवन का तत्व है संसार में प्रत्येक जीव स्वतन्त्र वातावरण में ही रहकर उन्नति कर सकता है, स्वतन्त्र व्यक्ति ही अपने समाज की रक्षा कर सकता है, स्वतन्त्रता के बिना मनुष्य कठपुतली के समान रहता है, वह एक लोहे की मशीन के समान कार्य करता है, स्वतन्त्रता उन्नति की जननी है। स्वतन्त्र विचारों से चरित्र गठन होता है, नए विचार और सिद्धान्तों की उत्पत्ति होती है, अनुसंधान को प्रोत्साहन मिलता है, मनुष्य अपने कष्ट और दुःख के निवारण के लिए नए-नए आविष्कार करता है और इस प्रकार अपने वातावरण पर विजय प्राप्त करना सीखता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वाधीनता सामाजिक व्यवस्था का मौलिक सिद्धान्त है। यह वह परिस्थिति है जो मनुष्य के नैतिक विकास को संभव बनाती है और समाज की उन्नति करती है। स्वाधीनता का अधिकार समाज के प्रत्येक ही सदस्य को होना चाहिए, इसमें छोटे और बड़े, ग़रीब और अमीर, पढ़े-लिखे और मूर्ख का विचार नहीं करना चाहिए। स्वतन्त्रता से व्यक्तित्व का विकास होता है और यह विकास प्रत्येक ही मनुष्य के लिए आवश्यक है।

§ २. स्वतंत्रता का वर्गीकरण

स्वतंत्रता एक मौलिक सिद्धान्त है, इसके अन्तर्गत अनेक प्रकार की स्वतंत्रताएँ सन्निहित हैं—नागरिक स्वतंत्रता, राजनैतिक स्वतंत्रता, भाषण

स्वतंत्रता, चलने-फिरने की स्वतंत्रता, सार्वजनिक सभा करने की स्वतंत्रता, संगठन की स्वतंत्रता, पत्र प्रकाशित करने की स्वतंत्रता, विचार की स्वतंत्रता, व्यवसायिक स्वतंत्रता, सामाजिक स्वतंत्रता, राष्ट्रीय स्वतंत्रता, आर्थिक स्वतंत्रता, आत्मा की स्वतन्त्रता, इत्यादि सारी ही स्वतंत्रताएँ इसी एक सिद्धान्त के अन्तर्गत समावेश करती हैं।

नागरिक-स्वतंत्रता—इस स्वतन्त्रता का अर्थ राज्य के अथवा अन्य मनुष्यों के अनुचित हस्तक्षेप से मनुष्यों के नागरिक अधिकारों की रक्षा है। इस स्वतन्त्रता के अन्तर्गत जीवन, भाषण, सार्वजनिक सभा, संगठन, धर्म और विचार की स्वतन्त्रताएँ सन्निहित हैं।

भाषण-स्वतंत्रता—सार्वजनिक प्रश्नों पर किसी व्यक्ति को अपना मत प्रकट करने की स्वाधीनता का नाम भाषण-स्वतन्त्रता है।

आत्मा की स्वतंत्रता—संसार के किसी भी धर्म में विश्वास करने की स्वाधीनता को आत्मा की स्वतन्त्रता कहा जाता है। इस स्वतन्त्रता के अन्तर्गत पूजा की स्वतन्त्रता और धर्म का प्रचार करने की स्वतन्त्रता भी शामिल है।

पत्र प्रकाशित करने की स्वतंत्रता—का अर्थ किसी भी देश में बिना किसी विशेष नियंत्रण के समाचार-पत्रों का प्रकाशित करना है। ऐसा करने में देश के साधारण नियम ही लागू होने चाहिएँ कोई विशेष नियम नहीं।

चलने-फिरने की स्वतंत्रता—इस स्वतन्त्रता का अर्थ मनुष्य को अपनी इच्छानुसार देश के किसी भी भाग में यात्रा करने तथा निवास करने का अधिकार है।

संगठन की स्वतंत्रता—इस अधिकार का अर्थ नागरिकों को न्यायोचित उद्देश्य की प्राप्ति के लिए संगठन निर्माण करने तथा उनमें सम्मिलित होने का अधिकार है।

राजनैतिक स्वतंत्रता—राजनैतिक स्वतन्त्रता का अर्थ जनता का

अपने शासन में भाग लेने का अधिकार है। इन अधिकारों के अन्तर्गत मत देने का अधिकार, सरकारी नौकरी प्राप्त करने का अधिकार, तथा चुनाव में खड़े होने का अधिकार शामिल है।

आर्थिक अथवा व्यवसायिक स्वतन्त्रता—किसी भी मनुष्य का रीति-रिवाज़ अथवा हैसियत की शृङ्खलाओं को तोड़कर इच्छापूर्वक स्वतंत्र व्यवसाय करने का अधिकार आर्थिक अधिकार कहलाता है।

राष्ट्रीय स्वतन्त्रता—राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का अर्थ राजनैतिक स्वतन्त्रता तथा आत्म निर्णय का अधिकार है। किसी एक देश को दूसरे देश की स्वतन्त्रता तथा स्वाधीनता अपहरण करने का अधिकार प्राप्त नहीं। केवल स्वतन्त्र देश में ही मनुष्य अपने व्यक्तित्व तथा नागरिक जीवन के गुणों का विकास कर सकते हैं।

योग्यता-प्रश्न

१. स्वाधीनता की सच्ची जड़ नियम और व्यवस्था है। इस पर प्रकाश डालिये। (यू० पी०, १६२८)
२. इस मत को समझाइये कि क़ानून स्वाधीनता का सच्चा आधार है। (यू० पी०, १६४०)
३. जीवन स्वाधीनता और हित साधन की कामना मनुष्य के अविच्छिन्न अधिकार हैं इस पर प्रकाश डालिये। (यू० पी०, १६२६)
४. आप समानता और स्वाधीनता शब्दों से क्या समझते हैं? (यू० पी०, १६३२)
५. आप स्वाधीनता और समानता शब्दों से क्या समझते हैं? इनके विभिन्न अर्थों पर प्रकाश डालिए। (यू० पी०, १६३४)
६. स्वाधीनता के विभिन्न प्रकार क्या हैं?
७. स्वाधीनता के सम्बन्ध में आम जनता की क्या क्या धारणायें हैं? इस पर प्रकाश डालिए।
८. स्वाधीनता की व्याख्या कीजिए। इस कथन की विवेचना कीजये कि "स्वाधीनता के उपभोग के लिए नियन्त्रण क्यों आवश्यक है?" (यू० पी०, १६४२)

९. स्वाधीन होना मनुष्य का अधिकार है। आज्ञापालन करना मनुष्य का कर्तव्य है। क्या इन मतों के बीच में किसी प्रकार का सङ्गत है?

(यू० पी०, १९३६)

१०. आधुनिक समाज में क़ानून और स्वाधीनता की परस्पर विरोधी माँगें किस प्रकार पूर्ण की जाती हैं? (यू० पी०, १९३९)

११. स्वाधीनता की परिभाषा करो। "स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए आत्म संयम आवश्यक है" सिद्ध करो। (यू० पी०, १९४१)

१२. क्या स्वतंत्रता और क़ानून साथ-साथ चल सकते हैं? इन विषयों से आप क्या समझते हैं—भाषण की स्वतंत्रता, मुद्रण की स्वतंत्रता।

(यू० पी०, १९४३)

१३. आप 'स्वतंत्रता' और 'समानता' से क्या समझते हैं? व्याख्या करें।

(यू० पी०, १९४६)

१४. स्वतंत्रता की शुद्ध परिभाषा दें और उसका सम्बन्ध क़ानून से क्या है? सिद्ध करें। (यू० पी०, १९४७)

आठवाँ अध्याय

समानता (Equality)

समानत शब्द के अर्थ के विषय में कुछ भ्रमात्मक धारणाएँ

स्वतंत्रता के समान समानता भी अच्छे सामाजिक जीवन की एक आवश्यक दशा है, परन्तु स्वतन्त्रता की भाँति इस धारणा के अर्थ के विषय में भी लोगों में अनेक मतभेद हैं । कुछ लोग समानता का अर्थ, सब मनुष्यों की बराबरी से समझते हैं, उनकी राय में प्रत्येक मनुष्य को एक-सी ही शिक्षा, एक-सी ही नौकरी और एक-सा ही बेतन मिलना चाहिये, कुछ दूसरे मनुष्य समानता का अर्थ सब के पास बराबर सम्पत्ति से समझते हैं, इन लोगों की राय में समाज में समानता उसी समय क़ायम रह सकती है जब सब के पास बराबर धन हो और बराबर की आमदनी हो। समानता के विषय में यह दोनों धारणायें बिल्कुल भ्रममूलक हैं। समानता का अर्थ प्रत्येक मनुष्य की बराबरी में नहीं वरन् व्यक्तित्व के विकास के लिए बराबर की अवस्थाओं से है, प्रकृति के नियमानुसार सब ही मनुष्यों को बराबर नहीं बनाया जा सकता, संसार में कुछ मनुष्य छोटे, कुछ बड़े,कुछ मोटे,कुछ पतले, कुछ काले, कुछ गोरे, कुछ आकर्षक, कुछ बदसूरत कुछ बुद्धिमान, कुछ मूर्ख—सब ही प्रकार के व्यक्ति देखने को मिलते हैं । मनुष्य चाहने पर भी इन व्यक्तियों को समान रूप, समान बुद्धि, समान रग और समान स्वभाव प्रदान नहीं कर सकता । असमानता तो प्रकृति में है, संसार में प्रत्येक मनुष्य अपनी एक अलग सूरत, अलग स्वभाव, अलग भाग्य और अलग बुद्धि लेकर जन्म लेता है। समानता का अर्थ इसलिए सब मनुष्यों का एक-सा होना नहीं वरन् एक से अधिकार प्राप्त

करना, तथा अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए एक सी अवस्थायें हासिल करना है।

समानता का असली अर्थ

प्रकृति में जितनी भी वस्तुएं हैं वह मनुष्य को समान ही सुख या दुख प्रदान करती हैं, सूर्य की रोशनी सारे ही जगत् को समान गर्मी देती है, चन्द्रमा की किरणें सभी मनुष्यों को समान शीतलता प्रदान करती हैं, बसन्त ऋतु की सुहावनी हवा. सभी जीव-जन्तुओं को समान आनन्द देती है। समाज में समानता का अर्थ भी यही है कि राज्य प्रत्येक मनुष्य को उन्नति करने के लिये समान सुविधायें प्रदान करें, सबको क़ानून की दृष्टि में समान समझें, सबको ऊँची से ऊँची शिक्षा प्राप्त करने का समान अवसर प्रदान करें तथा सबको ऊंचे से ऊँचे सरकारी पद पर पहुँचने की सुविधा दें।

समानता का अर्थ यह कदापि नहीं कि सब मनुष्यों को एक ही प्रकार की शिक्षा प्रदान करनी चाहिये; या उनको एक-सी ही नौकरी देनी चाहिये, पीतल को किसी भी प्रकार सोना नहीं बनाया जा सकता, इसी प्रकार मनुष्यों में जो बुद्धि अथवा प्राकृतिक स्वभाव की असमानतायें हैं, उनको दूर नहीं किया जा सकता। किसी देश की सरकार अपने नागरिकों को यह नहीं कह सकती कि वह एक ही मात्रा में खाना खाएँ, एक-सी ही पोशाक पहनें, एक ही स्कूल या कालेज में पढ़ें, एक ही नगर में निवास करें। समानता इन चीज़ों में विद्यमान नहीं रहती, समानता का सच्चा अर्थ है, प्रत्येक नागरिक को समान अधिकारों की प्राप्ति। मनुष्य अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए कुछ अवसर चाहता है। यह अवसर उसे राज्य द्वारा अधिकारों के रूप में प्रदान किये जाते हैं, राज्य का कर्तव्य है कि वह इन अवसरों के प्रदान करने में छोटे और बड़े, गरीब और अमीर, स्त्री और पुरुष में भेदभाव न करे, दूसरे शब्दों में समानता का अर्थ सामाजिक निष्पक्षता है। वर्तमान् समाज में अनेक प्रकार की असमान-

तायें हमें देखने को मिलती हैं। उदाहरणार्थ भारतीय महिलाओं को पुरुषों के समान अपने सुख की प्राप्ति के लिए सुविधाएँ प्रदान नहीं की जातीं। स्वभावतया इससे उनका शारीरिक तथा मानसिक विकास नहीं हो पाता। इसी प्रकार एक गरीब मनुष्य के लड़के के पास इतना धन नहीं होता कि वह अच्छी प्रकार से विद्याध्ययन कर सके। सम्भव है कि ऐसे बालक में मिल्टन जैसा मस्तिष्क और शेक्सपियर जैसी भावुकता वर्तमान हो। परन्तु शिक्षा के अभाव से वह अपनी बुद्धि का विकास नहीं कर पाता। न जाने कितने और ऐसे ही लोग समाज की समानता का शिकार बन कर, अपने व्यक्तित्व के विकास से वंचित रह जाते हैं। समाज का धर्म है कि वह इस प्रकार की असमानताओं का अन्त करके सारे भी मनुष्यों को आत्मोन्नति करने के लिए समान सुविधाएँ प्रदान करे। इन सुविधाओं को प्रदान करने में मनुष्य के वर्ण, जाति सिद्धान्त, लिंग अथवा पेशे का ध्यान नहीं करना चाहिए। सभी मनुष्यों को समान सुविधाएँ प्राप्त होनी चाहिएँ।

समानता के सिद्धान्त में नकारात्मक (Negative) और अकारात्मक (Positive) दोनों स्वरूप शामिल हैं। नकारात्मक रूप (Negative) का अर्थ है सामाजिक विशेषाधिकारों का अंत अर्थात् जन्म, वर्ण, जाति अथवा पेशे के कारण मनुष्यों में किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं करना चाहिए। अकारात्मक रूप (Positive) का अर्थ है प्रत्येक मनुष्य को अपने अधिकाधिक विकास के लिए पर्याप्त अवसर प्रदान करना। दूसरे शब्दों में प्रत्येक मनुष्य को बराबर के अधिकार देना। इस प्रकार हम देखते हैं कि समानता का अर्थ स्वतंत्रता की भाँति ही व्यापक है।

समानता का वर्गीकरण

समानता के अधिकार को हम निम्न श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं—

(१) **सामाजिक समानता**—इस धारणा का अर्थ है कि समाज के प्रत्येक व्यक्ति को बराबर के सामाजिक अधिकार प्राप्त होने चाहियें। किसी भी मनुष्य को उसके जन्म अथवा जाति के कारण नीच नहीं समझना चाहिये। दुर्भाग्यवश आज हमारे देश में करोड़ों हरिजन भाइयों को वही सामाजिक अधिकार प्रदान नहीं किए जाते जो दूसरे उच्चवर्ण वाले हिन्दुओं को दिये जाते हैं. हरिजनों को उन्हीं स्कूलों में पढ़ने का अधिकार प्राप्त नहीं जिनमें ब्राह्मण, वैश्य अथवा क्षत्रियों के बच्चे पढ़ते हैं उन्हें ऊँची जाति वाले हिन्दुओं के कुओं से पानी भरने का अधिकार नहीं दिया जाता उनको कुछ नीच प्रकार के पेशे छोड़कर और किसी प्रकार के व्यवसाय करने की स्वतंत्रता नहीं दी जाती। कुछ सूबों में तो उनकी परछाईं मात्र से ही मनुष्य की पवित्रता नष्ट हो जाती है। सामाजिक असमानता का ऐसा भीषण उदाहरण दुनिया के किसी दूसरे श में देखने को नहीं मिलता। हमारे देश में स्त्रियों को भी पुरुषों के समान अधिकार नहीं दिए जाते. उन्हें घर की चहारदिवारी में ही बन्द रहने के लिये मजबूर किया जाता है। इस प्रकार की सामाजिक असमानताओं से समाज का सङ्गठन ढीला पड़ जाता है और देश अवनति की ओर जाने लगता है।

(२) **नागरिक समानता**—इस अधिकार का अर्थ है कि क़ानून की दृष्टि में समाज के प्रत्येक व्यक्ति को बराबर के अधिकार प्राप्त होने चाहियें, क़ानून की अदालत में बड़े और छोटे, अमीर और ग़रीब, ऊँच और नीच, अफ़सर और मातहत—किसी में भेद-भाव नहीं करना चाहिये। न्याय केवल एक ऐसे ही समाज में हो सकता है जो नागरिक समानता की धारणा पर अवलम्बित हो।

(३) **राजनैतिक समानता**—जनता के प्रत्येक सदस्य को राज्यकार्य में बराबर का भाग लेने, अर्थात् वोट देने, सरकारी नौकरी प्राप्त करने, तथा चुनाव में खड़े होने का अधिकार राजनैतिक समानता का अधिकार

कहलाता है। किसी जाति या श्रेणी विशेष के मनुष्यों के हाथ में राजनैतिक सत्ता का केन्द्रीयकरण नहीं होना चाहिये। प्रत्येक मनुष्य को केवल एक ही राय देने का अधिकार होना चाहिये, एक से अधिक नहीं। राज्य सब की भलाई के लिये है उसकी व्यवस्था में सबका समान हाथ होना चाहिये।

(४) शिक्षा प्राप्त करने की समानता—इस धारणा का अर्थ यह कदापि नहीं कि समाज के प्रत्येक सदस्य को एक ही प्रकार की और एक ही संस्था में शिक्षा मिलनी चाहिये। इस अधिकार का अर्थ केवल इतना है कि समाज के किसी भी व्यक्ति को उसके जन्म अथवा जाति अथवा धनाभाव के कारण शिक्षा से वंचित न रखा जाय। समाज के प्रत्येक व्यक्ति को उसकी योग्यतानुसार ऊंची से ऊँची निःशुल्क शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार होना चाहिये। शिक्षा एक अच्छे सामाजिक जीवन की कुंजी है और इसलिए समाज के प्रत्येक व्यक्ति को ही अच्छी से अच्छी शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार होना चाहिये।

आर्थिक समानता—आधुनिक काल में, संसार के प्रायः सभी सभ्य देशों में, राजनैतिक, सामाजिक तथा नागरिक समानता स्थापित करने की चेष्टा की जा रही है, परन्तु आर्थिक समानता एक ऐसा गहन विषय है जिसके अर्थ के सम्बन्ध में राजनीतिज्ञों में अनेक मतभेद हैं, और जिसकी स्थापना रूस को छोड़कर, संसार के किसी दूसरे देश में अब तक नहीं हो सकी है। पिछले समय में राजनैतिक लेखकों का विचार था कि किसी देश में एक सच्चे प्रजातंत्रात्मक शासन की स्थापना आर्थिक समानता के बिना भी हो सकती है। उनके विचार में एक प्रजातंत्रवादी शासन की पहचान केवल यही थी कि जनता के प्रत्येक सदस्य को राय देने का अधिकार प्राप्त हो, तथा सामाजिक क्षेत्र में सब मनुष्य समान अधिकार रखते हों। आर्थिक समानता पर इन दिनों किसी प्रकार का ज़ोर नहीं दिया जाता था।

उन्नीसवीं सदी के मध्य में राजनैतिक वेत्ताओं के हृदय में यह धारणा उत्पन्न हुई कि आर्थिक समानता के बिना प्रजातंत्रवादी शासन केवल एक ढकोसला है, राय देने का अधिकार, एक ग़रीब और भूखे व्यक्ति के लिए, किसी प्रकार का भी मूल्य नहीं रखता। ऐसे व्यक्ति के लिए, किसी सरकारी पद के लिए चुनाव में खड़े होने का प्रश्न तो बहुत दूर रहा, वह स्वतंत्रतापूर्वक अपनी राय का उपयोग भी नहीं कर सकता। भूखे और तृप्त वोटरों की राय खरीदने में धनिकों को अधिक प्रयत्न की आवश्यकता नहीं पड़ती, जहाँ दो-चार सिक्कों का प्रलोभन दिया और ग़रीबों की राय उनके हक़ में पड़ने लगीं। जिन चुनावों में लाखों रुपयों के खर्च का प्रश्न हो और जहाँ अख़बारों और समाचार-पत्रों को केवल रुपये की शक्ति से ही अपने हक़ में किया जा सके, वहाँ ग़रीब जनता के प्रतिनिधियों के चुनाव में खड़े होने का सवाल ही नहीं उठता। एक वास्तविक प्रजातंत्रवादी शासन में इसलिए आर्थिक असमानता और राजनैतिक अधिकार साथ-साथ नहीं चल सकते। जिस देश में एक ओर लोग ऊंची-ऊँची अट्टालिकाओं में रहकर विलासिता का जीवन व्यतीत करते हों, और दूसरी ओर उनके भाई एड़ी से चोटी तक का ज़ोर लगा कर भी अपना पेट न भर सकते हों, प्रजातंत्रवादी शासन सफल नहीं हो सकता। ग़रीबी नैतिक पतन की माँ है, सरकार को चाहिए कि आर्थिक असमानता को अधिक से अधिक दूर करें, समाजवादी भी इसी सिद्धान्त की दुहाई देते हैं, उनका कहना है कि किसी भी देश में प्रजातंत्रवादी शासन की स्थापना उस समय तक नहीं हो सकती जब तक देश में आर्थिक समानता का अधिकार जनता को प्राप्त न हो।

परन्तु यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि आर्थिक समानता का अर्थ धन का बराबर-बराबर बँटवारा नहीं, वरन् प्रत्येक मनुष्य का मेहनत करने के पश्चात् सरकार से एक न्यूनतम वेतन प्राप्त करने का अधिकार है। सरकार की ओर से इस बात का प्रबन्ध होना चाहिए कि जनता के

किसी भी सदस्य को काम की कमी के कारण खाली न बैठना पड़े, उसे रोज़गार मिल सके और दिन भर के परिश्रम के पश्चात् उसे कम से कम इतना वेतन अवश्य मिले कि जिससे वह स्वयं अपना और अपने बच्चों का भरण-पोषण कर सके। आर्थिक समानता के अंतर्गत प्रत्येक मनुष्य का अपनी इच्छानुसार किसी भी प्रकार का व्यवसाय करने का अधिकार भी सन्निहित है। समाज के किसी भी मनुष्य को उसके धर्म अथवा जाति अथवा सम्प्रदाय के कारण किसी प्रकार का व्यवसाय करने से नहीं रोकना चाहिए।

समानता तथा स्वतन्त्रता

कुछ राजनैतिक लेखकों का विचार है कि समानता और स्वतंत्रता—दोनों धारणाएँ—एक दूसरे के परस्पर विरोधी हैं। अपने विचार से स्वतंत्रता के साथ समानता का समावेश नहीं हो सकता क्योंकि स्वतंत्रता नियंत्रण की विरोधी और समानता नियंत्रण की संगिनी है। यह विचार स्वतन्त्रता के ग़लत अर्थ अर्थात् 'नियंत्रण के अभाव' की धारणा पर अवलंबित है। वास्तव में जैसा हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं, स्वतन्त्रता का अर्थ नियंत्रण का अभाव नहीं, वरन् अधिकारों की रक्षा है। समानता के अन्तर्गत भी मनुष्य के अधिकारों का समावेश होता है, इसलिए यह दोनों धारणाएँ एक दूसरे के विरोधी नहीं वरन् पूरक हैं। वास्तव में सच्ची समानता स्वतन्त्रता की नींव पर ही खड़ी हो सकती है। जिस मनुष्य के पास खाने-पहनने को अन्न तथा कपड़ा नहीं, वह किस प्रकार स्वतन्त्र जीवन व्यतीत कर सकता है। स्वतन्त्रता केवल उसी समय क़ायम रह सकती है जब समाज के सारे भी सदस्यों को अपने व्यक्तित्व का विकास करने के लिए बराबर के अवसर प्राप्त हों। जिस समाज में एक ओर धन से उन्मत्त पूँजीपति और दूसरी ओर भूख से पीड़ित जनता रहती हो वहाँ किसी भी प्रकार की स्वतन्त्रता कायम नहीं रह सकती।

।मानता की आवश्यकता

समानता व्यक्तिगत हित और सामाजिक ठहराव—दोनों के लिए ।वश्यक है। कोई भी व्यक्ति अपनी आत्मोन्नति उस समय तक नहीं र सकता जब तक उसे समाज के दूसरे सदस्यों की भाँति नागरिक तथा ।जनैतिक अधिकार प्राप्त न हों। एक गरीब मनुष्य के बच्चे में शेक्सपियर ौर कालीदास जैसी प्रतिभा हो सकती है, परन्तु यदि उसे उच्च शिक्षा ।प्त करने का अवसर न दिया जाय, और सारी उम्र उसे कमाने के धधे हो फुरसत न मिले, तो वह अपनी शक्तियों का विकास नहीं कर सकता। सरे शब्दों में ऐसा मनुष्य कभी भी अपनी भलाई नहीं कर सकता। मृद्धिशाली मनुष्य अपनी शक्तियों का उपयोग केवल अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए ही नहीं करते वरन् दूसरे मनुष्यों पर अपना प्रभुत्व जमाने लिए भी करते हैं, ऐसे मनुष्य राज्य की बागडोर अपने हाथों में रखकर ।न्ति के द्वारा जनता का निर्दयपूर्वक शोषण करते हैं। असमानता इन ारणों से स्वतन्त्रता की शत्रु है। दूसरे शब्दों में समाज के प्रत्येक मनुष्य व्यक्तित्व के विकास के लिए समानता का होना आवश्यक है। ।मानता व्यक्ति के हित साधन के लिए ही नहीं समाज के संगठन को ढ़ बनाने के लिए भी आवश्यक है। कोई भी समाज जिसके अधिकतर दस्य अपने व्यक्तित्व का विकास न कर सकते हों, अधिक समय तक ीवित नहीं रह सकता। असमानता समाज में क्रान्ति की जड़ है, इसके ्रारा देश में अनेक प्रकार के विद्रोह खड़े हो जाते हैं, इसलिए सामाजिक सङ्गठन की पुष्टि के लिए आवश्यक है कि समाज समानता के सिद्धान्त की नींव पर खड़ा हो।

योग्यता-प्रश्न

१. कहा जाता है कि समानता का सिद्धान्त एकदम मूर्खतापूर्ण है। इस विषय में आपका क्या मत है? (यू० पी०, १९२९)
२. समानता के अधिकार को स्वीकार करने की क्या आवश्यकता है?

३. समानता शब्द का प्रयोग किन-किन अर्थों में किया जाता है ? समझाइये ।
४. मनुष्यों के अधिकाधिक लाभ के लिए आर्थिक समानता की आवश्यकता बतलाइये ।
५. समानता के अधिकार का वास्तविक स्वभाव क्या है ? साधारण मनुष्य उसके समझने में किस प्रकार की ग़लती करता है ?
६. आप समानता और स्वाधीनता शब्दों से क्या समझते हैं ? (यू० पी०, १९३२, १९३४, १९४६)
७. आप समानता शब्द से क्या समझते हैं ? क्या समाज के सब लोगों में समानता स्थापित करना उचित है ? किस भाव में समानता प्राप्त करना सम्भव है ? (यू० पी०, १९३८)
८. विभिन्न प्रकार की समानता का वर्णन करो । "समानता की भावना स्वाधीनता के सिद्धान्त के विरुद्ध नहीं है वरन् उसकी पूरक है ।" क्या आप इससे सहमत हैं ? (यू० पी०, १९४३)
९. "प्रजातन्त्र शासन का मूल सिद्धान्त है कि समाज के प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन में अधिक से अधिक उन्नति करने का अधिकार प्राप्त होना चाहिये," समझाइए । (यू० पी०, १९४२)

नवाँ अध्याय

"राष्ट्रीयता और अंतर्राष्ट्रीयता"

आधुनिक समय में राजनैतिक और सामाजिक व्यवस्था के लिए राष्ट्रीयता का सिद्धान्त एक अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्धान्त बन गया है। कुछ लोग तो इस सिद्धान्त को एक ईश्वरीय सिद्धान्त मानते हैं और इस धारणा के अन्तर्गत राष्ट्र को ईश्वर का प्रतीक समझते हैं। मनुष्य के रूप में उनके पास जितनी भी मूल्यवान् वस्तुएँ हैं; उन्हें वे उसकी वेदी पर बलिदान करने के लिए सदा प्रस्तुत रहते हैं। संसार के दूसरे धर्मों की भाँति राष्ट्रीयता का नियम भी उनके लिए एक धर्म ही बन गया है। इस धर्म के अपने देवता, धर्मशास्त्र, ग्रन्थ, पुजारी, भक्त और सूरमा है। राष्ट्र के प्रति यह अनन्य भक्ति इन लोगों में इस कारण से प्रस्फुटित हुई कि वह मनुष्य देह के समान राष्ट्र को भी एक जीवित सङ्गठन मानते हैं। इस संगठन की अपनी अलग इच्छा, अलग उद्देश्य और लक्ष्य होते हैं। इन उद्देश्यों और इच्छाओं में राष्ट्र के सभी सदस्यों की इच्छाएँ और उद्देश्य सन्निहित रहते हैं। इस प्रकार का राष्ट्र ईश्वर के समान महान् और गुप्त अस्तित्व रखता है। यह अस्तित्व अनुभव किया जा सकता है परन्तु देखा नहीं जा सकता। राष्ट्र उस बड़ी माता के समान है जिसकी सन्तान वे सब मनुष्य हैं जो भूतकाल में उत्पन्न हुए थे, जो आज मौजूद हैं, और जो भविष्य में उत्पन्न होंगे। मनुष्य जन्म लेते हैं और फिर काल के गाल में समा जाते हैं, परन्तु राष्ट्र सदा जीवित रहता है। मनुष्य का जितना कुछ भी प्रभुत्व है वह उसे राष्ट्र की ही देन है। उसका अपना न तो जीवन

है और न संस्कृति ही। वह राष्ट के हित और गौरव का केवल एक साधन मात्र है।

राष्ट के इस आध्यात्मिक और आंगिक सिद्धान्त में विश्वास के कारण राष्ट्रीयता के सिद्धान्त का विकास हुआ है।

राष्ट्रीयता की परिभाषा

राष्ट्रीयता की परिभाषा करना अत्यन्त कठिन कार्य है। भिन्न-भिन्न लेखकों ने इस धारणा की अलग-अलग प्रकार से व्याख्या की है, प्रजातंत्रवाद के प्रसिद्ध लेखक लौर्ड ब्राइस का कहना है "राष्ट्रीयता की परिभाषा नहीं हो सकती। इसे तो केवल देखकर पहचाना जा सकता है। ए टैनबर (A. Taynber) का कहना है, "राष्ट्रीयता एक इच्छा है जो बहुत से लोगों को किसी एक राजनैतिक संगठन में रहने के लिए बाध्य करती है।" डाक्टर हौलेन्ड भी राष्ट्रीयता को एक आध्यात्मिक भावना बतलाता है। मैकाइवर (Mac Iver) भी इसी प्रकार कुछ मनुष्यों के एक साथ रहने की क्रियात्मक भावना को राष्ट्रीयता का नाम देता है।

ऊपर दी हुई परिभाषाओं से राष्ट्रीयता का ठीक-ठीक अर्थ समझ में नहीं आता। वास्तव में राष्ट्रीयता कोई स्थूल वस्तु नहीं जिसे देखा या महसूस किया जा सके। राष्ट्रीयता एक आत्मिक भावना का नाम है। इस भावना के अन्तर्गत बहुत से मनुष्य एक साथ रहने और समान उद्देश्यों की पूर्ति के लिए काम करने की इच्छा प्रकट करते हैं, यह मनुष्य आपस में तो एक होते हैं, "परन्तु दूसरों से विभिन्नता का भाव रखते हैं।"

राष्ट्रीयता की भावना का जन्म यूरूप में उन्नीसवी सदी में हुआ। फ्रान्स की राज्य क्रान्ति ने संसार में इस भावना का बीज बोया। इससे पूर्व किसी देश की जनता अपनी भक्ति का प्रदर्शन राजा के प्रति करती थी, देश के प्रति नहीं; फ्रान्स की क्रान्ति ने संसार को समानता, स्वतंत्रता और भ्रातृ-भाव का पाठ पढ़ाया। प्रत्येक देश अपनी स्वतंत्रता प्राप्त करने की दुहाई

देने लगा, जनता के हृदय में राज्य-भक्ति के स्थान पर देश-भक्ति का संचार हुआ। प्रत्येक ऐसे मनुष्यों का समूह जिसकी अपनी एक पृथक् संस्कृति, सभ्यता, भाषा, धर्म तथा इतिहास था, अपने लिए एक अलग स्वतंत्र राष्ट्र स्थापित करने के स्वप्न देखने लगा। सन् १९१४ के महायुद्ध ने इस भावना को और अधिक प्रोत्साहन दिया और अमरीका के प्रेजिडेन्ट विलसन ने राष्ट्रों के लिए आत्म-निर्णय के सिद्धांत को मानकर इस भावना को एक अत्यन्त आध्यात्मिक स्वरूप दे दिया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि राष्ट्रीयता का भाव अभी केवल एक ही सदी पुराना है। इस भावना ने संसार की सेवा भी की है और हानि भी। राष्ट्रीयता का भाव मनुष्य में एक नया गौरव, एक नया आत्म सन्मान, और एक उत्कल देश-भक्ति का संचार करता है। यह मनुष्य के अपने परिवार अथवा जाति अथवा धर्म अथवा प्रान्त के प्रति प्रेम को एक विस्तृत स्वरूप देकर देश के प्रति प्रेम में बदल देता है। परन्तु इस सीमा पर पहुँचने के पश्चात् प्रेम का बहता हुआ स्तोत्र एकदम रुक जाता है, और सारे मनुष्य समाज के प्रति प्रेम में परिवर्तित होने के बजाय, देश की संकुचित सीमा में उलझ कर रह जाता है। इस दृष्टिकोण से राष्ट्रीयता का भाव एक निकृष्ट भाव है और इसके उग्ररूप से संसार में कलह, लड़ाई, झगड़े, खून, और साम्राज्यवाद का जन्म हुआ है।

राष्ट्र क्या है? राष्ट्रीयता की भावना किसी एक राष्ट्र के नागरिकों में ही विद्यमान रहती है, इसलिए राष्ट्रीयता का और अधिक विश्लेषण करने से पहले आवश्यक है कि हम राष्ट्र का सही अर्थ समझने का प्रयत्न करें।

राष्ट्रीयता एक भावना का नाम है, और राष्ट्र एक ऐसे मनुष्यों के समूह का जो एक साथ रहते हों अथवा एक साथ रहने की उत्कट इच्छा रखते हों, और जो अपने आप तो, माला के दानों के समान, एक होकर रहते हों परन्तु दूसरे मनुष्यों के समुदाय से बिल्कुल भिन्नता का अनुभव करते हों राष्ट्र में इस प्रकार निम्नलिखित तत्त्वों का होना आवश्यक है—

(१) राष्ट्र एक मनुष्यों का समुदाय है। किसी राष्ट्र में मनुष्यों की कितनी संख्या होनी चाहिये—यह कहना कठिन है, राष्ट्र छोटे भी हो सकते हैं और बहुत बड़े भी, परन्तु किसी एक नगर या गाँव में बसने वाले लोगों को हम राष्ट्र नहीं कह सकते। राष्ट्र कहलाने के लिए जन संख्या इतनी अवश्य होनी चाहिये कि वह बहुत से देहातों और नगरों में फैली हुई हो।

(२) मनुष्यों के प्रत्येक समुदाय को हम राष्ट्र नहीं कह सकते, केवल वही समुदाय राष्ट्र कहे जा सकते हैं जिनमें समान संस्कृति, समान इतिहास, समान भाषा, समान आदर्श, समान धार्मिक भावना, समान उद्देश्य, अथवा जीवन के प्रति समान दृष्टिकोण के कारण एकता और आत्मीयता का भाव हो। इस प्रकार राष्ट्र की सबसे बड़ी पहचान एकता की भावना है, मनुष्यों का केवल वही समुदाय राष्ट्र कहा जा सकता है जो एकता के सूत्र में बँधा हो और जो संसार के दूसरे, इसी प्रकार के समुदायों से. अपनी अलग संस्कृति, भाषा, आचार व्यवहार, भूगोलिक स्थिति इत्यादि के कारण विभिन्नता का भाव रखता हो।

मनुष्यों के किसी समुदाय को एकता के सूत्र में बाँधने के अनेक साधन हो सकते हैं, समाज सस्कृति, समान जातीय भावना, समान इतिहास, समान भाषा, समान आदर्श, समान धम, समान देश. किसी के शत्रु के विरुद्ध लड़ने की समान भावना, समान रीति-रिवाज, राजनैतिक एकता इत्यादि—यह ऐसी धारणायें हैं जो मनुष्यों के किसी समुदाय में एकता का भाव निर्माण कर देती हैं, इस प्रकार की भावना एक दिन में पैदा नहीं होती. न जाने कितने वर्षों तथा कितनी सदियों के बाद, एक ही साथ रहने वाले मनुष्यों में, इस प्रकार की भावना का जन्म होता है, परन्तु एक बार ऐसी भावना का निर्माण होने के बाद, यह आसानी से नहीं मिटती, इसके पश्चात् यदि एक ही राष्ट्र के लोग अलग-अलग दूर-दूर देशों में भी रहने लगें, तो भी उनमें से राष्ट्रीयता के भाव का लोप नहीं होता, दूर देशों में रहते हुए भी वह अपने आपको अपने पूर्वजों के देश का ही नागरिक मानते हैं और उस

देश के लोगों से मिलने पर एक अनोखी आत्मीयता का अनुभव करते हैं।

ऊपर दिये हुए राष्ट्रीयता की भावना के कारणों में से किसी एक या अधिक कारणों के अभाव से राष्ट्रीयता का लोप नहीं हो जाता, उदाहरणार्थ यदि एक ही देश के रहने वाले लोग भिन्न-भिन्न धर्मों में विश्वास रखते हैं, या अलग-अलग भाषा बोलते हैं, या अलग-अलग रीति-रिवाज़ों का पालन करते हैं तो इतना सब कुछ होने पर भी, यदि उनमें, किन्हीं दूसरे कारणों से एकता की भावना बनी रहती है, तो वह एक राष्ट्र बन सकते हैं, हाँ इतना अवश्य है कि एकता उत्पन्न करने के जितने भी अधिक कारण किसी मनुष्यों के समुदाय में विद्यमान होंगे, राष्ट्रीयता की भावना उतनी ही अधिक उत्कट तथा तीव्र होगी। अब हम राष्ट्रीयता के इन विभिन्न अङ्गों का विस्तार से विवेचन करेंगे।

राष्ट्रीय भावना के विभिन्न अंग

(१) धर्म—मनुष्यों के किसी समुदाय में एकता तथा आत्मीयता का भाव निर्माण करने में धर्म एक बहुत महत्वपूर्ण स्थान रखता है। एक ही धर्म में विश्वास करने वाले लोग एक से ही देवी-देवता, रीति-रिवाज, उत्सव तथा खान-पान और रहन-सहन के तरीक़ों में विश्वास करने लग जाते हैं और इससे उनकी एक अलग संस्कृति बन जाती है। ऐसे लोगों में एकता तथा आत्मीयता का भाव आसानी से निर्माण हो जाता है, परन्तु वर्तमान समाज में, प्रगतिशील मनुष्य, धर्म को एक व्यक्तिगत भावना समझते हैं, वह विभिन्न धर्मों के मनुष्यों के साथ रह कर भी एकता का अनुभव करते हैं। इंगलैंड में प्रोटैस्टेन्ट और कैथोलिक दो अलग धर्मों में विश्वास करने वाले लोग, एक साथ ही मिलकर रहते हैं और अपने आपको एक ही राष्ट्र का सदस्य समझते हैं परन्तु प्रतिक्रियावादी अथवा पिछड़े हुए लोगों में धर्मों की विभिन्नता, अभी भी, राष्ट्रीयता के निर्माण में बाधक सिद्ध होती हैं, भारतवर्ष में हिन्दू और मुसलमान, सदियों तक एक साथ रहते हुये और एक सी ही वेशभूषा, भाषा, रीति-

रिवाज़, इत्यादि होने पर भी सांप्रदायिकता के प्रचार के कारण, अपने आपको दो पृथक् राष्ट्रों का सदस्य मानने लगे। आयरलैंड में प्रोटैस्टेन्ट और कैथोलिक धर्मावलम्बियों में मतभेद के कारण देश के दो टुकड़े हो गए। हौलेन्ड और बेल्जियम देशों का संगठन भी धार्मिक विभिन्नता के कारण टूट गया। इस प्रकार हम देखते हैं कि धर्म राष्ट्रीयता के निर्माण में एक बहुत महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

(२) जाति (Race)—राष्ट्र के निर्माण में जातीय समानता भी समुचित स्थान रखती है, एक ही जाति के लोगों का समान सामाजिक संगठन होता है, उनके रीति-रिवाज भी एक से ही होते हैं, इससे राष्ट्रीय भावना के निर्माण में सहायता मिलती है। परन्तु, आधुनिक काल में, संसार में शायद ही कोई ऐसा देश हो, जहाँ एक ही जाति के लोग रहते हों, इंगलैंड में नौर्मन, सैक्सन, लैटिन वंशों के लोग रहते हैं, अमरीका में यूरुप की सारी ही जातियों के मनुष्य रहते हैं, संसार में विशुद्ध जातियाँ बहुत कम पाई हैं, इस कारण वर्त्तमान काल में, जातीय समानता, राष्ट्रीय भावना के निर्माण में एक आवश्यक अङ्ग नहीं मानी जाती।

(३) भाषा—राष्ट्रीयता के निर्माण में भाषा की समानता एक अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखती है। समान भाषा राष्ट्रीय साहित्य को जन्म देकर, राष्ट्रीयता के भाव को अधिक चैतन्य और उत्कट बनाती है इससे राष्ट्र के सदस्यों का पारस्परिक संबन्ध अधिक घनिष्ठ हो जाता है। परन्तु भाषा की समानता भी राष्ट्र निर्माण के लिये अनिवार्य नहीं, कैनैडा और स्विटज़रलैंड में लोग भिन्न भिन्न भाषायें बोलते हैं। इन भाषाओं के अलग-अलग साहित्य हैं, फिर भी इन देशों के लोग अपने आपको एक ही राष्ट्र का सदस्य समझते हैं। न ही भाषा की समानता से दो भिन्न-भिन्न मनुष्यों के समुदाय एक राष्ट्र ही बन जाते हैं। इंगलैंड और अमरीका निवासी एक ही भाषा बोलते हैं, परन्तु फिर भी वह दो भिन्न-भिन्न राष्ट्रों में विभाजित हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि भाषा की समानता से राष्ट्रीय भावना के

निर्माण में तो सहायता मिलती है, परन्तु यह तत्त्व भी किसी राष्ट्र की उत्पत्ति के लिये अनिवाय नहीं।

(४ **समान देश**—राष्ट्रीय भावना की जाग्रति के लिये मनुष्यों का किसी एक निश्चित देश में रहना भी आवश्यक है, बहुत काल तक एक ही वातावरण, जल-वायु तथा देश में रहने के कारण व्यक्तियों के समुदाय में आत्मीयता तथा एकता का भाव निर्माण हो जाता है, यही भाव राष्ट्र के निर्माण में सहायक सिद्ध होता है। परन्तु एक बार राष्ट्रीयता का भाव निर्माण होने के पश्चात् फिर यह आवश्यक नहीं कि सभी मनुष्य एक ही स्थान या प्रदेश में रहें, आजकल जर्मन, अमरीकन तथा अंग्रेज़ दुनिया के भिन्न-भिन्न देशों में रहते हैं, परन्तु फिर भी वह अपने आप को अपनी पितृ-भूमि का ही राष्ट्रीय मानते हैं।

(५) **समान ऐतिहासिक स्मृतियाँ**—समान रूप से प्राप्त की गई विजय और यातनाओं की स्मृतियों से भी राष्ट्रीय भावना का निर्माण हो जाता है, इस कार्य में राष्ट्रीय कविताएँ, गाथाएँ तथा गीत बहुत महत्वपूर्ण भाग लेते हैं, गुलाम देश में विदेशी शासन से मुक्ति प्राप्त करने के लिये लड़े गये स्वतंत्रता संग्राम से भी राष्ट्रीय भावना का निर्माण होता है, युरुप में कितने ही राष्ट्रों का जन्म इसी भावना के कारण हुआ है।

(६) **समान शासन**—एक ही शासन के आधीन बहुत काल तक रहने से भी राष्ट्रीय भावना की वृद्धि होती है। कैनैडा में फ्रांसीसी और अङ्गरेज़ सदियों से एक ही सरकार के अधीन रहते हैं, इससे आज वह अपने आपको फ्रांसीसी और अङ्गरेज़ समझने के बजाय कैनेडा निवासी ही समझते हैं।

(७) **समान उद्देश्य**—एक साथ रहने वाले जनसमूह में, जीवन के, प्रति समान दृष्टिकोण तथा समान उद्देश्य के भाव निर्माण हो जाते हैं उसके रीति-रिवाज, रहन-सहन के तरीके तथा स्वभाव भी एक से ही बन

जाते हैं, इस प्रकार छोटे-छोटे स्थानीय मतभेत दूर हो जाते हैं और जन समाज एक राष्ट्रीय समूह बन जाता है।

(८) युद्ध—एक प्रसिद्ध लेखक का कथन है. "राष्ट्रों का जन्म युद्ध-क्षेत्र में होता है." इस कहावत का आशय है कि किसी समान शत्रु के विरुद्ध बहुत समय तक युद्ध लड़ने से पारस्परिक प्रेम तथा सहयोग का भाव निर्माण हो जाता है. युद्ध क्षेत्र में उत्पन्न हुई मित्रता बहुत काल तक नहीं मिटती। यही मित्रता राष्ट्रीयता का सार है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि राष्ट्र निर्माण के कार्य में एक नहीं, वरन् अनेक तत्त्व, काम में आते हैं, ऊपर दिये गए सारे भी तत्त्व राष्ट्रीय भावना के निर्माण में सहायक सिद्ध होते हैं, इन तत्त्वों में से जितने भी अधिक तत्त्व किसी जनसमुदाय के जीवन में विद्यमान होंगे, राष्ट्र उतना ही अधिक शक्तिशाली तथा सङ्गठित होगा। परन्तु यहाँ पर यह समझ लेना आवश्यक है कि ऊपर दिये हुये तत्वों में से कोई भी तत्व राष्ट्रीय भावना की जागृति के लिये अनिवार्य नहीं। यह तत्त्व राष्ट्र निर्माण के कार्य में सहायता देते हैं, परन्त उसके अङ्गभूत नहीं, उपरोक्त तत्त्वों में से किन्हीं एक से अधिक तत्त्वों का होना राष्ट्रीयता के निर्माण के लिये आवश्यक है परन्तु किसी विशेष तत्त्व का होना नहीं।

भारतवर्ष एक राष्ट्र है अथवा नहीं

भारतवर्ष में अनेक जातियों, धर्मों, तथा सम्प्रदायों के लोग निवास करते हैं, देश में भिन्न-भिन्न प्रकार की भाषायें बोली जाती हैं, जनता के रहन-सहन, रीति-रिवाजों तथा खान-पान के तरीकों में भी भारी मतभेद है, प्रश्न उठता है कि इन सब चीज़ों के होते हुये भी भारत एक राष्ट्र है अथवा नहीं ?

भारत की जनता के दो मुख्य अंग हिन्दू और मुसलमान हैं। भाषा, वेष, खान-पान, तथा रीति-रिवाजों में थोड़ी-बहुत भिन्नता होने पर भी देश के सारे भी हिन्दुओं में एक आत्मीयता का भाव विद्यमान है, सारे भी हिन्दू राम और कृष्ण की पूजा करते हैं, गङ्गा और यमुना को पवित्र

मानते हैं, गऊ को माता का प्रतीक समझते हैं, वेद और धर्म शास्त्रों के प्रति श्रद्धा रखते हैं तथा एक से ही उत्सव तथा त्यौहारों में भाग लेते हैं।

भारत के मुसलमान इसके विपरीत, हिन्दुओं से बिलकुल अलग रीति-रिवाज, रहन-सहन, खान-पान, उत्सव और मेले, धर्मशास्त्र और ग्रंथ, शादी और विवाह, जन्म और मरण के नियमों में विश्वास करते हैं। इसलिये कुछ राजनैतिक लेखकों का कहना है कि भारत में हिन्दू और मुसलमान दो पृथक् पृथक् राष्ट्र हैं। इसी भावना के अंतर्गत भारत के कुछ प्रमुख मुसलमान नेताओं ने पाकिस्तान की माँग की नींव रक्खी। उन्होंने कहा 'भारत में मुसलमान एक अल्पसंख्यक वर्ग नहीं, वरन् एक राष्ट्र है,' इसीलिये उन्हें 'आत्म निर्णय' का अधिकार मिलना चाहिये अर्थात् उनका अपना एक अलग स्वतंत्र राज्य स्थापित होना चाहिये। दुर्भाग्यवश, हमारे देश के कुछ हिन्दू नेता, विदेशियों तथा मुसलमानों के फैलाये हुये, इस सांप्रदायिकता के जाल में फँस गये, और उन्होंने भी हिन्दुओं को, मुसलमानों से एक पृथक राष्ट्र कहना आरम्भ कर दिया। देश में सांप्रदायिकता की आग बढ़ती गई, हिन्दू और मुसलमानों के झगड़े, आये दिन होने लगे, और अन्त में अंग्रेजों की कूटनीतिज्ञता के कारण, भारत के दो टुकड़े कर दिये गये। हमारे देश में हिन्दू और मुसलमानों को दो पृथक् राष्टों का सदस्य स्वीकार कर लिया गया।

परन्तु आज जब हमारे देश के दो टुकड़े हो गए, और एक स्वतत्र पाकिस्तान का राज्य स्थापित हो गया, तो देश के समझदार हिन्दू और मुसलमान नेताओं ने सोचना आरम्भ किया कि क्या वास्तव में भारतवर्ष में हिन्दू और मुसलमान दो पृथक् राष्ट्र हैं? मुसलमानों के नेता जो कल तक, पाकिस्तान राज्य की स्थापना से पहिले, अपने आप को हिन्दुओं से भिन्न, एक अलग राष्ट्र का सदस्य कहने में गर्व करते थे, आज वही नेता हिन्दुस्तान के प्रति अपनी वफ़ादारी का डङ्का पीटते हैं और कहते हैं कि वह भारतवासी पहले हैं और मुसलमान बाद में। यदि भारत

के मुसलमान अपने आप को एक अलग राष्ट्र का सदस्य मानते हैं तो उनका धर्म है कि वह हिन्दुस्तान की नागरिकता छोड़कर पाकिस्तान में ही जाकर रहें। परन्तु आज तो भारत के मुसलमान अपनी ही फैलाई हुई सांप्रदायिकता की आग में झुलस चुके हैं, सांप्रदायिक वैमनस्य का तांडव नृत्य वह अपनी ही आँखों से देख चुके हैं, इसलिये आज वह कहते हैं कि, 'हमारे साथ हमारे नेताओं ने धोका किया,' 'हिंदू और मुसलमान भाई भाई हैं,' 'हम एक ही राष्ट्र के नागरिक हैं,' 'हम पहले हिंदुस्तानी हैं बाद में मुसलमान,' 'हम पाकिस्तान के विरुद्ध लड़ेंगे' इत्यादि। क्या ही अच्छा होता, यदि यही जागृति मुसलमान जनता में कुछ महीने पहिले आ जाती, आज तो हिंदू समझते हैं कि भारतीय मुसलमानों का ऐसा कहना केवल एक चाल है, मुसलमान हिन्दुस्तान के प्रति वफ़ादार नहीं हो सकते, वह भारत में पाकिस्तान के 'फ़िफ्थ कौलम' हैं।

वास्तव में, पाकिस्तान की माँग, मुसलमानों के धनी तथा मध्य वर्ग के लोगों की माँग थी, देश की ग़रीब तथा त्रस्त मुसलिम जनता से इस माँग का कोई संबंध नहीं था, परन्तु सांप्रदायिकता के विषैले तथा निरन्तर प्रचार ने इन लोगों की मति भी बदल दी और वह भी पाकिस्तान की माँग में अपना सहयोग देने लगे। परन्तु आज जब पाकिस्तान बन गया और ग़रीब मुसलमान जनता दोनों राज्यों में सांप्रदायिक नेताओं के कोप का भाजन बनी, तो इन लोगों की आँखें खुलीं और वह कहने लगे कि 'मुसलमान हिन्दुओं से अलग राष्ट्र नहीं, वह तो उनके भाई हैं।'

भारत के ६५ प्रतिशत मुसलमान हिन्दू धर्म को ही छोड़कर मुसलमान बने हैं, उनके पूर्वज, किसी न किसी समय, हिंदू धर्म में ही विश्वास करते थे, आज भी गाँवों में रहने वाले मुसलमान हिन्दुओं जैसा ही अपना जीवन व्यतीत करते हैं, वह एक सी ही पौशाक पहिनते हैं, एक से ही मकानों में रहते हैं तथा एक से ही रीति-रिवाजों में विश्वास करते हैं, धर्म की विभिन्नता से मनुष्य की राष्ट्रीयता नहीं बदल जाती, धर्म एक

व्यक्तिगत भावना का नाम है, राष्ट्र एक सामूहिक शक्ति का। संसार के प्रत्येक देश में भिन्न भिन्न धर्मों के लोग रहते हैं, परन्तु फिर भी वह अपने आप को एक ही राष्ट्र का सदस्य समझते हैं. भारतवर्ष में भी हिन्दू और मुसलमान एक ही राष्ट्र के सदस्य हैं। विदेशी शासकों की फूट डालने की नीति तथा कुछ सांप्रदायिक नेताओं के विष वमन का कारण, हिंदू और मुसलमानों में झगड़े होने लगे थे. परन्तु स्वतंत्र भारत में यह सब कुछ न हो सकेगा। आज़ाद हिंदुस्तान का प्रत्येक नागरिक अपने आप को पहिले भारतवासी तथा उसके पश्चात् हिन्दू और मुसलमान समझेगा। धर्म का विचार छोड़कर, कुछ ही वर्षों में, भारत की जनता अपने आप को एक संगठित,सुसंस्कृति, और शक्तिशाली राष्ट्र का सदस्य समझने लगेगी।

राष्ट्रीय आत्म निर्णय के सिद्धांत का महत्व (Tde case for national self Determination

प्रश्न उठता है कि क्या संसार में प्रत्येक राष्ट्र को अपना एक अलग स्वतंत्र राज्य स्थापित करने का अधिकार होना चाहिये? इस मत के पक्ष तथा विरोध में अनेक राजनैतिक लेखकों ने अपनी सम्मति प्रगट की है। कुछ लेखकों का कहना है कि राष्ट्रीय आत्म निर्णय का सिद्धांत संसार में लड़ाई, झगड़े, कलह, और द्वेष की भावना का बीज बोता है, इससे संसार विभिन्न क्षेत्रों में बट जाता है, मनुष्य अपने राष्ट्र के हित के सामने मानव समाज के सुख और वैभव का ध्यान छोड़ देता है, मानव के विशुद्ध प्रेम का बहता हुआ स्रोत राष्ट्र की सीमाओं से टकरा कर मनुष्य-मात्र के प्रति प्रेम में परिवर्तित नहीं होता।

परन्तु इस मत के विरुद्ध कुछ दूसरे लेखकों काकहना है कि एक राष्ट्र-एक राज्य का सिद्धांत ही संसार में राजनैतिक सङ्गठन का एक आदर्श सिद्धांत है। इस मत के पक्ष में यह लेखक अनेक दलीलें देते हैं:—

(१) उदाहरणार्थ इन लेखकों का कहना है कि संसार में प्रत्येक राष्ट्र की अपनी एक अलग संस्कृति, अलग साहित्य, अलग भाषा तथा अलग

जन-श्रुतियाँ होती हैं। कोई राष्ट्र इन हितों की केवल उसी समय रक्षा कर सकता है जब वह स्वतंत्र हो अर्थात् जब उसे सार्वभौमिकता प्राप्त हो, दूसरा राष्ट्र चाहे वह कितना ही अधिक सभ्य अथवा ईमानदार क्यों न हो, इन हितों की रक्षा नहीं कर सकता।

(२) दूसरे इन लेखकों का कहना है कि 'स्वाधीनता' तथा 'समानता' के सिद्धांत संसार में केवल उसी समय क़ायम रह सकते हैं जब प्रत्येक राष्ट्र को आत्म निर्णय का अधिकार प्राप्त हो, जब तक दुनिया में एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों को अपने आधीन गुलाम बना कर रखता है, तब तक न दुनिया में शांति ही रह सकती है, न लड़ाई और झगड़े दूर हो सकते हैं, और न समानता का सिद्धांत ही कायम रह सकता है। व्यक्ति की भाँति प्रत्येक राष्ट्र भी अपनी उन्नति के लिये स्वतंत्रता का अधिकार प्राप्त करना चाहता है, जिस प्रकार एक गुलाम मनुष्य अपने व्यक्तित्व का विकास नहीं कर सकता ठीक उसी प्रकार कोई राष्ट्र भी अपनी स्वाधीनता खोकर किसी भी प्रकार की आर्थिक सामाजिक अथवा राजनैतिक उन्नति नहीं कर सकता।

(३) राष्ट्रवादी, राष्ट्रीय आत्म निर्णय के सिद्धांत के पक्ष में, तीसरी दलील यह पेश करते हैं कि संसार की संस्कृति, सभ्यता तथा शांति केवल उसी समय कायम रह सकती है जब दुनिया का प्रत्येक देश आज़ाद हो। दुनिया में कुछ देशों की दूसरे देशों पर शासन करने की भावना से ही युद्ध होते हैं, जिससे संसार की उन्नति और संस्कृति ख़तरे में पड़ जाती है। शासित देश भी अपने विजेता देश के विरुद्ध सदा विद्रोह करने के लिये उद्यत रहता है, और इससे भी संसार की शांति को सदा ख़तरा बना रहता है।

(४) चौथी बात यह है कि प्रत्येक राष्ट्र अपनी विशेष प्रतिभा द्वारा संसार की सभ्यता और संस्कृति को बहुत सहायता पहुँचा सकता है। पराधीनता से देश की उन्नति रुक जाती है और फलस्वरूप संसार के ज्ञान तथा संस्कृति के भंडार को भारी क्षति पहुँचती है।

(५) अंत में राष्ट्रवादियों का कहना है कि एक स्वतंत्र राष्ट्र में नागरिकों की

अपने देश तथा राज्य के प्रति भक्ति की भावनाएँ अधिक विकसित होती हैं, वह समझने लगते हैं कि शासन उनका है और वह शासन के हैं। दूसरे शब्दों में वह शासन को अपने सांस्कृतिक, राजनैतिक तथा आर्थिक हितों का संरक्षक समझने लगते हैं, और इस कारण वह अपने देश पर अपना सर्वस्व न्यौछावर करने को उद्यत रहते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीयता (Interna ionalism)

राष्ट्रवादियों द्वारा व्यक्त किए गए उपरोक्त मत की उन लोगों ने कड़ी आलोचना की है जो अपने आपको संसारवाद (Cosmopolitanism)के सिद्धान्त का प्रवर्तक कहते हैं। इन लोगों का कथन है कि आधुनिक काल में मनुष्य का सामाजिक जीवन केवल राष्ट्र की चहारदीवारियों तक ही सीमित नहीं रहता। वह आज विश्वव्यापी बन गया है। संसार में आवागमन के साधनों तथा विज्ञान की उन्नति के कारण एक क्रान्ति उत्पन्न हो गई है जिसके कारण आज सारा विश्व एक ही समाज बन गया है। आज रेलगाड़ी स्टीमशिप तथा वायुयानों ने उन बाधाओं का नाश कर दिया है जिनके कारण पुराने जमाने में एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र से अलग जीवन व्यतीत करता था। टेलीफोन और वायरलैस के आविष्कार ने समूचे संसार को एक ही संगठन में आवद्ध कर दिया है। एक कपास की खेती करने वाले भारतीय किसान को, आज मैनचेस्टर या ओकासा के कपड़े के कारखानों की हड़ताल से धक्का पहुँचता है क्योंकि इससे उसकी कपास की माँग कम हो जाती है और फलस्वरूप कीमत घट जाती है। इसलिए आधुनिक काल में समूचे संसार का आर्थिक हित एक दूसरे से सन्निहित है। इसके अतिरिक्त आज एक भारतवासी टाल्सटाय की किताबें, शेक्सपियर के नाटक और मोपासाँ की कहानियाँ पढता है। वह अमेरिका, इङ्गलैण्ड अथवा अन्य देशों के सिनेमा चित्रों को देखता है। यही हाल अन्यान्य देशों के निवासियों का भी है। इस प्रकार आज सारे संसार की संस्कृति और सभ्यता समान हो गई है। संसार की इन भौगोलिक, आर्थिक

तथा सांस्कृतिक एकता के कारणों से संसारवादियों का कहना है कि दुनिया में एक ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय शासन का सङ्गठन होना चाहिये जो संसार के सब देशों को हित रक्षा कर सके। इस समय प्रत्येक मनुष्य को अपने आप को संसार का नागरिक समझना चाहिए, राष्ट्र का नहीं। उसके इस दृष्टि-कोण पर ही आज, संसार की शान्ति और उन्नति निर्भर है।

इसके अतिरिक्त आधुनिक जीवन में राष्ट्रीयवादिता का सिद्धान्त दूसरे कारणों से भी अवांछनीय है। राष्ट्रीय भावना, संकीर्णता, छल, और द्वेष के आधार पर अवलम्बित है। राष्ट्रवादी दूसरों से पृथक् रहने और भिन्नता रखने में गर्व करता है। वह समझता है कि वह दूसरों से ऊँचा, अधिक सभ्य, अधिक क्रियाशील, अधिक नैतिक, और रक्त में अधिक विशुद्ध है। इस भावना से मानव-समाज अनेक परस्पर विरोधी और कटु विभागों में विभाजित हो जाता है। मनुष्य का दृष्टिकोण और सहानु-भूति संकीर्ण हो जाती है। उनमें मिथ्या गौरव और अहंकार के भाव आ जाते हैं। लोगों का राजनैतिक दृष्टिकोण संकुचित बन जाता है और राजनैतिक पृथकत्व की भावना बढ़ जाती है। इस भावना से राष्ट्रीय ईर्षा उत्पन्न होती है और अन्त में संसार में युद्ध होने लगते हैं। इन सब कारणों से आधुनिक समाज में राष्ट्रीय भावना मनुष्य के स्थाई सुख की विरोधी है और इसलिए राष्ट्रवाद के सिद्धान्त के स्थान पर संसार को अन्तर्राष्ट्री-यता का सिद्धान्त ग्रहण करना चाहिये।

दोनों मतों का समन्वय

हमारे विचार से उपरोक्त दोनों मतों में आंशिक सत्यता है। यह ठीक है कि संसार में प्रत्येक राष्ट्र को स्वाधीनता का अधिकार प्राप्त होना चाहिये क्योंकि इसी अधिकार के अन्तर्गत राष्ट्र अपनी सांस्कृतिक, आर्थिक तथा सामाजिक उन्नति कर सकता है। परन्तु इस अधिकार का आशय यह कदापि नहीं कि एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों के प्रति द्वेष रक्खे या उनकी स्वाधीनता का अपहरण करने का प्रयत्न करे। संसार के प्रत्येक

राष्ट्र को उतना ही स्वतंत्र रहने का अधिकार है, जितना कि किसी दूसरे राष्ट्र को। इसलिए एक राष्ट्र को दूसरे राष्ट्र के विरुद्ध लड़ाई नहीं वरन् उसकी स्वाधीनता तथा संस्कृति की रक्षा करनी चाहिये। विभिन्न राष्ट्रों को आपस में सांस्कृतिक तथा सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करने चाहिये, तथा ऐसे कार्यों की पूर्ति के लिए जिनमें सब राष्ट्रों का हित सन्निहित हो, एक ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय सङ्घ की स्थापना करनी चाहिए, जिसके दुनिया के सारे राष्ट्र सदस्य हों तथा जिसके आदेशों का दुनिया के सारे ही देश पालन करें। ऐसे 'विश्व सङ्घ' की स्थापना से ही संसार में स्थाई शान्ति तथा पारस्परिक सहयोग की स्थापना हो सकती है।

योग्यता-प्रश्न

१. राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता क्या हैं? क्या ये दोनों अविच्छिन्न पारस्परिक सम्बन्ध रखते हैं? (यू० पी०, १९३०)
२. आप राष्ट्रीयता से क्या समझते हैं? उसके मुख्य सिद्धान्त क्या हैं? (यू० पी०, १९३३)
३. राष्ट्रीयता की खराबियाँ क्या हैं? वे किस तरह समूल नष्ट की जा सकती हैं?
४. सामाजिक व्यवस्था के आधार पर राष्ट्रीयता के महत्व को समझाइये।
५. वे कौन से कारण हैं जिन्होंने अन्तर्राष्ट्रीयता को जन्म दिया है? आप राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता में किस तरह मेल को स्थापित करेंगे?
६. राष्ट्रीयता क्या है? क्या उसे विश्व अशान्ति का कारण समझना उचित है?
७. वह कौन से तत्त्व हैं जिनसे किसी राष्ट्र का संगठन होता है? क्या भारत एक राष्ट्र कहा जा सकता है? (यू० पी०, १९४७)

———

दशवाँ अध्याय

सामाजिक शक्तियाँ

पिछले अध्यायों में हम मनुष्य के नागरिक अधिकारों का विस्तार से वर्णन कर चुके हैं, तथा यह भी बतला चुके हैं कि स्वतंत्रता तथा समानता अधिकारों की स्वीकृति के ही बदले हुए नाम हैं, और इसलिए किसी प्रकार उनसे अपना भिन्न अस्तित्व नहीं रखते। अधिकारों की रक्षा में ही मनुष्य की वास्तविक स्वतंत्रता और समानता सन्निहित है।

मनुष्य के अधिकारों की रक्षा एक विशेष प्रकार के संगठित और सुसंस्कृत समाज में ही हो सकती है। किसी जंगली और असभ्य समाज में मनुष्य के अधिकारों का अस्तित्व क़ायम नहीं रह सकता। संयम और नियंत्रण, क़ानून तथा राज्य के आदेशों के प्रति भक्ति, राष्ट्रीय भावना, और समाज सेवा की लगन अधिकारों की रक्षा की आवश्यक अवस्थाएँ हैं, इनके बिना समाज में अराजकता फैल जाती है और मनुष्य अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए मनमानी करने लगते हैं, ऐसे वातावरण में किसी भी मनुष्य के अधिकार सुरक्षित नहीं रहते।

अधिकारों की रक्षा के लिए कर्तव्य पालन की भावना भी अत्यन्त ही अनिवार्य है, यह भावना मनुष्य के नैतिक चरित्र तथा राज्य के नियमों के आधार पर अवलम्बित रहती है। राज्य के नियमों के द्वारा मनुष्य के कानूनी अधिकारों की रक्षा होती है, परन्तु मनुष्य के नैतिक तथा सामाजिक अधिकारों की रक्षा व्यक्ति तथा समाज की नैतिक शक्ति पर अवलम्बित रहती है। समाज की नैतिक शक्ति का

प्रदर्शन श्रृंखलाओं, संस्थाओं, रीति-रिवाजों तथा संप्रदायों के द्वारा होता है। व्यक्ति की नैतिक भावना उसकी आध्यात्मिक तथा साधारण शिक्षा पर अवलंबित रहती है, और इसी प्रकार राज्य की शक्ति, दंड तथा संपत्ति की व्यवस्था पर निर्भर रहती है। संपत्ति का अधिकार मनुष्य के चरित्र तथा सामाजिक नियंत्रण के क्षेत्र में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

इसी अध्याय के अगले पृष्ठों में इसलिये हम शिक्षा, दण्ड तथा सम्पत्ति की संस्थाओं का विस्तार से वर्णन करेंगे। और यह समझने का प्रयत्न करेंगे कि इन शक्तियों का मनुष्य के चरित्र तथा सामाजिक सङ्गठन के कार्य पर क्या प्रभाव पड़ता है।

§ १. शिक्षा

राष्ट्रीय सदाचार के निर्माण के लिए उचित प्रकार की शिक्षा की सदा आवश्यकता रहती है। हमारे घरेलू जीवन के आदर्श को ऊँचा उठाने के लिये, विचारशील और अधिक चतुर नागरिकों की वृद्धि के लिए, बच्चों को सच्ची नागरिकता के वातावरण का क्रियात्मक ज्ञान प्रदान करने के लिए, परिवार और जाति के पारस्परिक सम्बन्ध को सुधारने के लिए, अपनी जन्मभूमि की समृद्धि और सारे संसार की शान्ति के लिए, शिक्षा के अतिरिक्त दूसरा कोई भी उपयोगी और उच्च साधन नहीं हो सकता।

शिक्षा और प्रजातन्त्रवादी शासन

साधारण रूप में शिक्षा प्रजातन्त्र शासन की जड़ है। प्रजातन्त्र शासन का अर्थ है 'जनता की, जनता के द्वारा, जनता के ही हित में सरकार'। इस प्रकार की सरकार को ठीक ढङ्ग से चलाने के लिए लोगों में सदाचार के उच्च आदर्श, सार्वजनिक कार्य करने की उमङ्ग और राजनैतिक ज्ञान की नितान्त आवश्यकता है। शिक्षा के माध्यम से ही हम

अपने नागरिकों में इस प्रकार के गुणों का सृजन और उनका बौद्धिक तथा नैतिक विकास कर सकते हैं।

(१) शिक्षा अच्छे सामाजिक जीवन की कुंजी है—यह मनुष्य के अन्दर उन गुणों का संचार करती है जिनके द्वारा मनुष्य एक अच्छा शासक और उपयोगी नागरिक बन सकता है। शिक्षा-संस्थाओं में ही नवयुवक विद्यार्थी अपने जीवन के निर्माण काल में प्रेम, सेवा, बलिदान, आदि गुणों और दूसरे सामाजिक तथ्यों का अर्जन कर सकते हैं और इनके द्वारा ही प्रजातन्त्रवादी शासन की नींव रखी जा सकती है।

(२) शिक्षा के द्वारा ही मनुष्य अपनी भावनाओं को अनुचित मार्ग पर जाने से रोक कर एक अनुशासित जीवन व्यतीत करना सीखता है—शिक्षा मनुष्य को वासनाओं की दासता से मुक्त कर एक प्रगतिशील जीवन व्यतीत करना सिखाती है। वह मनुष्य को देशभक्त, सहयोगी, त्यागी और बुद्धिमान् बनाती है। इस प्रकार वह मानव-समाज में उन गुणों का विकास करती है जिनकी किसी भी प्रजातन्त्र सङ्गठन को सफल ढङ्ग से चलाने के लिए आवश्यकता बनी रहती है।

(३) शिक्षा मनुष्य को जीवन के आर्थिक संग्राम के लिये भी तैयार करती है—वह मनुष्य को कार्य करने के लिए चतुर बनाती है। एक शिक्षित मनुष्य विविध कार्यों के जटिल स्वरूप को आसानी से समझ सकता है और इस प्रकार अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए आसानी से सामग्री इकट्ठी कर सकता है।

(४) शिक्षा मनुष्य को अपने बचे हुये समय को अधिक उपयोगी कार्यों में व्यतीत करने के लिए अनेक अवसर प्रदान करती है—एक शिक्षित मनुष्य अपने को ऐसे किसी भी कार्य में लगा सकता है जो उसके स्वभाव के अनुकूल हो। वह पुस्तकें और राजनैतिक साहित्य पढ़कर संसार की परिस्थिति का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

वह सभी युगा क महान् पुरुषों के विचारों, उत्तमोत्तम गंभीर इच्छाओं और भावनाओं में प्रवेश कर सकता है।

(५) अन्त में, शिक्षा के द्वारा मनुष्य भौतिक और सामाजिक स्वास्थ्य के रहस्यों का भी ज्ञान प्राप्त कर सकता है—यह ज्ञान प्राप्त कर लेने पर ही मनुष्य अपने और अपने पड़ोसियों के जीवन को अधिक स्वस्थ और सुखी बना सकता है।

शिक्षा किस प्रकार की हो ?

(१) शिक्षा किस प्रकार की हो, यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। शिक्षा का मुख्य उद्देश्य मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास है। इसलिए शिक्षा इस प्रकार की होनी चाहिए जिससे मनुष्य, समाज में रहकर एक प्रगतिशील जीवन व्यतीत कर सके। शिक्षा ऐसी नहीं होनी चाहिए जो मनुष्य को अपरिवर्तनशील बना दे। दूसरे शब्दों में शिक्षा का अर्थ हमारे मस्तिष्क को विशाल और हमारे हृदय को सर्वतोगामी बनाना है। शिक्षा ऐसी न हो जो हमें केवल अपने पूर्वजों की प्रतिमूर्ति बना दे या हमें पुराने रूढ़िवादी विचारों में ही विश्वास करना सिखाए। शिक्षा का असली उद्देश्य है मनुष्य के मस्तिष्क को हर प्रकार के विचारों को समझने के योग्य बनाना।

(२) दूसरी बात यह है कि शिक्षा को राजनीतिज्ञों के उन सिद्धान्तों और आदर्शों के प्रचार का साधन कभी न बनाना चाहिए जिन पर वे स्वयं विश्वास करते हैं। देश के शासक प्रायः नवयुवकों के हृदय पर उन आदर्शों को अंकित करना चाहते हैं जो उनके शासन को बनाए रखने और उनके स्वार्थ-साधन के लिए आवश्यक हों। उदाहरण के लिए नाजी जर्मनी और इटली में विद्यार्थियों को व्यक्तियों की पूजा करना और कुछ ऐसे विशेष मतों पर विश्वास करना, (जिन्हें उनके शासक मानते थे, सिखलाया जाता था। उन्हें साम्यवाद (communism) से घृणा

करना और साम्राज्यवाद से प्रेम करना सिखाया जाता था। सच्ची शिक्षा में नवयुवकों के हृदय में ऐसी संकुचित भावनाओं का संचार कदापि नहीं होना चाहिए।

इस प्रकार केवल वही शिक्षा जिसके द्वारा निम्नलिखित उद्देश्यों की प्राप्ति हो सके और जिससे उपर्युक्त भय दूर किए जा सकें, प्रजातांत्रिक संगठन की सफलता के लिए आवश्यक है।

शिक्षा का सच्चा उद्देश्य

सच्ची शिक्षा का अर्थ पूर्णरूपेण सुखी जीवन व्यतीत करने की तैयारी करना है। इसलिए उसे निम्नलिखित परिणामों की प्राप्ति को अपना लक्ष्य बनाना चाहिए।

(१) व्यक्तित्व का सर्वतोमुखी (सर्वाङ्गीण) विकास—शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को इस योग्य बनाना है कि वह जीवन के भौतिक, नैतिक आर्थिक, राजनैतिक, राष्ट्रीय, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक सभी क्षेत्रों में समाज के एक शिक्षित सदस्य के समान अपने कर्तव्य का सम्मान सहित पालन कर सके। यह सब तभी संभव है जब मनुष्य के व्यक्तित्व की सर्वांगीण उन्नति हो। दूसरे शब्दों में मनुष्य के अन्दर की सारी शक्तियों का विकास किया जाव। इस प्रकार शिक्षा केवल साहित्यिक ही नहीं, वरन् शारीरिक, नैतिक और आध्यात्मिक भी होनी चाहिए।

(२) आलोचनात्मक दृष्टिकोण—शिक्षा सम्बन्धी संस्थाओं को विद्यार्थियों पर, जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, कुछ विशेष विश्वास या सिद्धान्त नहीं लादने चाहिये अपितु उन्हें इनके दृष्टिकोण को आलोचनात्मक, निर्णय को स्वतंत्र और स्वभाव को स्वावलम्बी बनाने का प्रयत्न करना चाहिये।

(३) आर्थिक संघर्ष की क्षमता—शिक्षा इस प्रकार की होनी चाहिये जो मनुष्य को अपने जीवन निर्वाह के लिये धनोपार्जन के योग्य बना सके। यह तभी सम्भव हो सकता है जब समाज के आर्थिक जीवन के

अनुसार ही शिक्षा का स्वरूप निश्चित किया जाय। उदाहरण के लिये भारतवर्ष में कृषि और छोटे-मोटे उद्योग-धंधों की विशेष प्रकार की शिक्षा दी जानी चाहिये। इसका परिणाम यह होगा कि विद्यार्थी जिस समय स्कूल से अलग होगा उसी समय वह इन धन्धों में से किसी में भी अपने लिए उचित स्थान प्राप्त कर सकेगा।

(४ **श्रम का आदर**—इसके अतिरिक्त शिक्षा से शारीरिक या मानसिक किसी भी प्रकार के कार्य करने की विद्यार्थियों में इच्छा उत्पन्न होनी चाहिये। प्रायः देखा जाता है कि शिक्षित विद्यार्थी हाथ से काम करने में कुछ आदर की कमी का अनुभव करते हैं। उदाहरणार्थ वह खेती करना या कारीगरी अथवा मिस्तरी का काम करना पसंद नहीं करते। इस प्रकार विद्यार्थियों में हाथ से काम करने के प्रति घृणा का उत्पन्न होना सर्वथा अनुचित है। विद्यार्थियों को प्रत्येक श्रम आदरणीय है' 'Dignity of labour' का पाठ सीखना चाहिये।

(५) **मानव व्यक्तित्व की महत्ता**—शिक्षा के द्वारा नवयुवकों को मानव व्यक्तित्व की आवश्यक महत्ता का भली भाँति समझना चाहिये। शिक्षा ऐसी होनी चाहिये जिसके द्वारा जाति, वर्ण, राष्ट्र अथवा लिंग के भेदभाव मिट जायँ और सारा समाज सहयोग की शृंखलाओं में जकड़ जाय।

(६) **ज्ञान की वृद्धि**—शिक्षा इस प्रकार की दी जानी चाहिये जिसके द्वारा मनुष्य सारे मानव-समाज के संचित ज्ञान को न केवल प्राप्त ही कर सके, वरन् खोज के द्वारा उसकी अधिकाधिक उन्नति भी कर सके।

प्रारम्भिक शिक्षा

राज्य का सबसे आवश्यक कर्तव्य यह है कि वह देश के सभी नागरिकों को अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा प्रदान करे। एक अच्छे सामाजिक जीवन के लिए पढ़ना, लिखना और गणित का साधारण ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। इनके बिना मनुष्य को अपने जीवन की प्रत्येक अवस्था में अनन्त

कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। उसमें एक साधारण पत्र लिखने की भी योग्यता नहीं रहती। वह दूसरों की चालों और धूर्ततापूर्ण व्यवहार से अपनी रक्षा नहीं कर सकता। वह समाचार-पत्र नहीं पढ़ सकता और इस प्रकार संसार में जो कुछ हो रहा है उसका ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। प्रारम्भिक शिक्षा से मानव सहानुभूति और ज्ञान की वृद्धि होती है, शिल्पकला का विकास होता है और सहयोग की भावना बढ़ती है। पाठशाला में बालक अपने स्वभाव को एक भिन्न वातावरण के अनुकूल बनाना सीखता है। वह पाठशाला के वातावरण में अधिक विनम्र और आज्ञाकारी बनना तथा खेल के मैदान में एक स्वस्थ जीवन व्यतीत करना सीखता है।

अध्यापकों को इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि वे विद्यार्थियों को शारीरिक दण्ड देकर उनके हृदय में भय उत्पन्न न करें। बच्चों को अपने स्कूल में किसी डर के कारण नहीं, वरन् प्रेम के कारण आना चाहिये। अध्यापकों को बच्चों से अधिक से अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करके उनके हृदय में ज्ञान के प्रति सच्चा प्रेम उत्पन्न करना चाहिये। बच्चों पर किसी भी वस्तु के बलपूर्वक लादने से उनके सदाचार की उन्नति नहीं हो सकती। सच्ची शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य विद्यार्थियों को सदाचारी बनाना है।

मौलिक-शिक्षा (Basic Education)

भारतवर्ष में शिक्षा सम्बन्धी 'वर्धा योजना' ने, जिसे संसार के सर्व-श्रेष्ठ नेता महात्मा गांधी ने प्रस्तुत किया, इस देश की समस्त आधुनिक शिक्षा-प्रणाली में क्रान्ति उत्पन्न कर दी है। यह मौलिक शिक्षा चार सिद्धान्तों पर अवलम्बित है।

प्रथम सिद्धांत यह है कि शिक्षा निःशुल्क और अनिवार्य होनी चाहिये और उसे सात वर्ष तक जारी रखना चाहिये। दूसरा यह कि शिक्षा विद्यार्थी

पर बलपूर्वक नहीं लादनी चाहिये। शिक्षा इस प्रकार दी जानी चाहिये कि बच्चा काम करते करते ही उसे ग्रहण कर ले और वह भी इसलिये कि उसकी ज्ञान प्राप्त करने की अपनी इच्छा हो। तीसरे शिक्षा का माध्यम विद्यार्थी की मातृ भाषा होनी चाहिये, और चौथे शिक्षा स्वावलम्बी होनी चाहिये।

वर्धा-योजना, जैसा ऊपर बताया जा चुका है, बच्चों को शिक्षा प्रदान करने के लिए सात वर्ष के समय की सीमा निर्धारित करती है। इस समय के अन्दर यह आशा की जाती है कि बच्चा गणित, विज्ञान, भाषा, साहित्य, साधारण ज्ञान, इतिहास, भूगोल, चित्रकारी आदि का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर सकता है। इसके अतिरिक्त वह किसी एक ऐसे धन्धे में भी दक्षता प्राप्त कर सकता है जो आगे चलकर उसे अपनी जीविका कमाने में सहायक बन सके।

इस शिक्षा के स्वावलम्बी सिद्धान्त की इसलिये आलोचना की गई है कि यह हमारी शिक्षा सम्बन्धी संस्थाओं को कारखानों का और विद्यार्थियों को श्रमिकों का रूप दे देगी। परन्तु महात्मा गांधी का कथन था कि भारतवर्ष जैसे निर्धन देश में चालीस करोड़ जनता को शिक्षा देने का केवल एक ही उपाय है कि बच्चे अपनी शिक्षा का व्यय स्वयं कमायें। आजकल मौलिक शिक्षा के स्वावलम्बी अग पर अधिक ज़ोर नहीं दिया जाता। सरकार ही इस शिक्षा का सारा व्यय उठाती है। इस योजना की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें काम करने और काम के द्वारा ही विद्या प्राप्त करने पर अधिक जोर दिया जाता है। वर्धा की शिक्षा सम्बन्धी योजना के सभापति डाक्टर ज़ाकिर हुसेन थे। उन्होंने अपने हाल ही के एक व्याख्यान में कहा था—"मौलिक शिक्षा बच्चों को जिस प्रकार की शिक्षा देना चाहती है वह यह है कि विद्यार्थी नैतिक सिद्धांतों को अच्छी तरह समझ जायँ। मौलिक स्कूलों को नैतिक संस्थाओं का रूप धारण करना होगा। जिस स्कूल में कार्य द्वारा शिक्षा देने का प्रबन्ध

हो उसमें विद्यार्थियों में नैतिक शिक्षा और कला सम्बन्धी आदर के भाव स्वयं जागरित हो जाते हैं। इन्हीं संस्थाओं के द्वारा योग्य नागरिक नैतिक दृष्टि से योग्य पुरुष बन सकते हैं।"

सार्वभौमिक शिक्षा के द्वारा ही समान सांस्कृतिक आदर्श प्राप्त किए जा सकते हैं। इसी के द्वारा वह ग़लत धारणाएँ भी दूर की जा सकती हैं जिनमें से अधिकांश वर्तमान बुराइयों का कारण बनी हुई हैं। शिक्षा किसी भी श्रेणी या राष्ट्र की बपौती बनाकर नहीं रक्खी जा सकती वह तो जनसाधारण के मानसिक विकास की कुञ्जी है। प्रत्येक व्यक्ति और राष्ट्र को पूर्ण अधिकार है कि वह अच्छी से अच्छी शिक्षा प्राप्त कर सके। वह राष्ट्रीय सदाचार के उत्थान की जड़ है। वह व्यक्ति के मस्तिष्क और बुद्धि के विकास की नींव है। समाज के प्रत्येक व्यक्ति को चाहे वह बड़ा हो या छोटा, अमीर हो या ग़रीब, शिक्षा पाने का पूर्ण अधिकार है। शिक्षा सच्चे प्रजातंत्रात्मक शासन की जड़ है। शिक्षा के बिना मनुष्य पशु के समान है। शिक्षारहित देश संसार में असभ्य और जंगली कहलाते हैं। सच्ची शिक्षा से मनुष्य का दंभ आपसी झगड़े, विशेषाधिकारों की माँग, उच्च-नीच की भावना और इसी प्रकार की दूसरी बुराइयाँ नष्ट हो जाती हैं जिनके कारण कोई भी समाज उन्नति नहीं कर सकता। सार्वभौमिक-शिक्षा ही संसार के भिन्न-भिन्न राष्ट्रों को एकता और प्रेम के सूत्र में बाँधकर लड़ाई और अन्तर्राष्ट्रीय द्वेषभाव को सदा के लिए इस पृथ्वी से मिटा सकती है। परन्तु इस सब के लिए आवश्यक है कि शिक्षा सच्ची और आदर्श शिक्षा हो। क, ख, ग का ज्ञान और थोड़ा-बहुत गणित जान लेने से मनुष्य शिक्षित नहीं कहलाता। शिक्षा का अर्थ है मनुष्य के व्यक्तित्व का पूर्ण-विकास।

माध्यमिक और उच्च शिक्षा

प्रारंभिक शिक्षा समाप्त कर लेने के पश्चात् अधिक योग्य विद्यार्थियों को राज्य के द्वारा स्थापित हाई स्कूल और कालेजों में अपनी शिक्षा जारी

रखनी चाहिये। इसी अवस्था में विद्यार्थी स्वतन्त्र रूप से विचार करने और अधिक साहित्य पढ़ने के आदी बन सकते हैं। इसी अवस्था में परीक्षाएँ होनी चाहिएँ। इन परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने के पश्चात् विद्यार्थियों को उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए विश्वविद्यालयों में प्रवेश करने का अवसर मिलना चाहिये।

डिगरी कालेजों या विश्वविद्यालयों को विद्यार्थियों को विभिन्न विभागों में ज्ञान प्राप्त करने की सुविधाएँ देनी चाहिये। विभिन्न विश्वविद्यालयों को विभिन्न विषयों के पढ़ाने में विशेषज्ञता प्राप्त करनी चाहिये। उन्हें इस प्रकार के योग्य व्यक्ति तैयार करने चाहिये जो राज्य के प्रधान पदों पर कार्य करने की पर्याप्त योग्यता रखते हों। इसके अतिरिक्त उन्हें विशेष ज्ञान-प्राप्त व्यक्तियों को देश को समर्पित करके उसे अधिकाधिक समृद्धिशाली बनाने का प्रयत्न करना चाहिये। विश्वविद्यालयों को अपने ज्ञान की सीमा को अन्वेषण, निरीक्षण, प्रयोग, अध्ययन और विचार द्वारा अधिकाधिक विस्तृत बनाना चाहिये। उन्हें देश के ज्ञान के संरक्षक का कार्य करते हुए अपने देशवासियों को प्रकाश और ज्ञान प्रदान करना चाहिये।

वैज्ञानिक शिक्षा (Technical Education)

राज्य का कार्य बच्चों को लिखने-पढ़ने की शिक्षा देने पर ही समाप्त नहीं हो जाता। इसके अतिरिक्त उसे देश के नागरिकों को वैज्ञानिक और औद्योगिक शिक्षा भी देनी चाहिये। साहित्यिक शिक्षा से मनुष्य की मानसिक शक्तियों का विकास होता है। वैज्ञानिकों के लिए भी यह बहुत आवश्यक जान पड़ता है क्योंकि ऐसा होने पर वे वैज्ञानिक बातों को बहुत शीघ्र समझ सकते हैं। औद्योगिक ज्ञान प्राप्त कर लेने पर मनुष्य धनोपार्जन कर सकता है और राज्य का एक आवश्यक और सन्तुष्ट नागरिक बन सकता है।

भारतवर्ष की दशा—भारतवर्ष में २०० वर्ष के ब्रिटिश साम्राज्य

के पश्चात् भी केवल दस प्रतिशत व्यक्ति ही शिक्षित हुए। एक विदेशी शासन की असफलता का इससे अधिक और क्या ज्वलन्त प्रमाण हो सकता है? यदि देश स्वतन्त्र हो तो शिक्षा के क्षेत्र में जनता चाहे कितनी ही पिछड़ी हुई क्यों न हो, सरकार ५ या १० वर्ष के काल ही में देश की कायापलट कर सकती है। रूस और जापान का उदाहरण हमारे सामने है। सन् १९१८ तक रूस की ९० प्रतिशत जनता अशिक्षित थी परन्तु इसके पश्चात् केवल १० वर्ष के अन्दर ही रूस की ९० प्रतिशत जनता शिक्षित हो गई। जापान में भी यही हुआ। आज भारत भी स्वतंत्र है और वह कार्य जिसे हमारे अंग्रेज़ शासक २०० वर्ष में न कर सके, हमारी राष्ट्रीय सरकार कुछ ही वर्षों में कर देना चाहती है। संयुक्त प्रांत और कुछ अन्य प्रांतों की सरकारें इस ओर विशेष क़दम उठा रही हैं और ऐसी आशा की जाती है कि हमारे देश से निरक्षरता कुछ ही वर्षों में समाप्त हो जाएगी।

हमारे देश के शिक्षा-अधिकारियों के सामने एक दूसरी समस्या भी है और वह यह कि भारतवर्ष की अंग्रेज़ी काल की शिक्षा-प्रणाली इतनी दूषित थी कि इससे हमारे देश के नवयुवकों का न चरित्र-निर्माण ही होता था और न वे स्कूलों और कालेजों से निकलकर किसी प्रकार का स्वतंत्र व्यवसाय कर सकते थे। यह शिक्षा तो केवल अंग्रेज़ी राज्य को भारत में चलाने के लिए एक क्लर्कों की श्रेणी उत्पन्न करने का काम देती थी। भारत के वातावरण और उसकी आवश्यकताओं के यह सर्वथा विपरीत थी। आज हमारी राष्ट्रीय सरकार को चाहिए कि वह हमारी शिक्षा प्रणाली को ऊपर से नीचे तक बदल दे। शिक्षा का पुराना ढाँचा इतना दूषित है कि उसमें जहाँ तहाँ परिवर्तन करने से काम नहीं चल सकता। हमारे देश की शिक्षा-प्रणाली हमारे देश की जनता की आवश्यकताओं के अनुकूल होनी चाहिए। हमारी शिक्षा इस प्रकार की हो जो प्रत्येक भारतवासी के हृदय में देश-प्रेम और स्वतंत्रता का बीज बो

सके और हमारे देश की जनता को स्वावलम्बी पथ का प्रदर्शन कर सके। उचित प्रकार की शिक्षा पर ही हमारे देश का भविष्य निर्भर है।

§ २. दण्ड

सामाजिक जीवन की दूसरी आवश्यक संस्था दण्ड है। राज्य का कार्य समाज में अनुशासन रखना और नागरिकों के कार्यों को शिक्षा और दण्ड रूपी दो शस्त्रों के द्वारा नियंत्रित करना है। शिक्षा के द्वारा नागरिकों को उनके अधिकार और कर्तव्यों का वास्तविक ज्ञान कराया जाता है जिससे वे अपने अधिकारों को समझकर अपने कर्तव्यों का शांतिपूर्वक पालन कर सकें। दंड के द्वारा ऐसे नागरिकों पर नियंत्रण किया जाता है जो अपने कर्तव्यों का पालन स्वयं नहीं करते और दूसरों के अधिकारों पर आक्रमण करते हैं।

दंड की व्याख्या—हम दण्ड की व्याख्या इस प्रकार कर सकते हैं कि दण्ड एक ऐसे व्यक्ति के अधिकारों का, उसे विशेष कष्ट देकर अथवा बिना कष्ट दिए, अपहरण करना है जो दूसरे मनुष्यों अथवा सारे समाज के अधिकारों की अवहेलना करता हो।

दंड का प्रयोजन

समाज का प्रत्येक व्यक्ति केवल अपने ही कर्तव्यों का पालन करे, दूसरे के अधिकारों को छीनने का प्रयत्न न करे, यही दण्ड का प्रयोजन है। हम पहिले बता चुके हैं कि प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व की अधिक से अधिक उन्नति केवल उसी अवस्था में कर सकता है जब समाज द्वारा उसे जीवन की विशेष सुविधाएं प्राप्त हों। इन सुविधाओं का नाम ही 'मनुष्य के अधिकार' हैं। मुझे शिक्षा प्राप्त करने, घर बसाने और अपने विचारों को दूसरों तक व्यक्त करने आदि की सुविधाओं का प्राप्त होना ही मेरे अधिकारों की प्राप्ति है। मनुष्य को समाज में रहकर यह अधिकार केवल उसी दशा में प्राप्त हो सकते हैं जब वह अपने कर्तव्यों का पालन

करे, दूसरे शब्दों में जब वह दूसरे मनुष्यों के अधिकारों की अवहेलना न करे। प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि वह दूसरों के अधिकारों की भी उतनी ही रक्षा करे जितनी वह स्वयं अपने अधिकारों की करता है। समाज में दण्ड की यवस्था का प्रयोजन केवल यही है कि यदि कोई व्यक्ति दूसरे मनुष्यों को उनके अधिकारों से वंचित करने का प्रयत्न करे तो उसे शारीरिक मानसिक, अथवा आर्थिक क्षति पहुँचाकर ऐसा करने से रोका जाय।

दण्ड के सिद्धान्त

दण्ड के उद्देश्यों के सम्बन्ध में तीन भिन्न भिन्न सिद्धान्त हैं : (१) **प्रतिशोधक सिद्धान्त** (Retributive Theory) (२) **भयावह सिद्धान्त** (Deterrent Theory) और (३) **सुधारक सिद्धान्त** (Reformatory or Curative Theory)

प्रतिशोधक सिद्धान्त—इस सिद्धान्त का कथन है कि जिस व्यक्ति के साथ अन्याय किया गया है उसे अन्याय करने वाले से बदला लेने का अधिकार है। बिना बदला लिए उसकी व्यथित भावनाएँ सन्तुष्ट नहीं होतीं। उसकी न्याय की भावना तब तक शांत नहीं हो सकती जब तक वह आँख के बदले आँख, कान के बदले कान और दाँत के बदले दाँत नहीं निकाल लेता। इसलिए राज्य का वह कर्तव्य हो जाता है कि वह सताए हुए मनुष्य की सताने वाले मनुष्य को कुछ दण्ड देकर क्षतिपूर्ति करे। दंड के इस सिद्धांत के अनुसार दंड का निश्चय सताया हुआ व्यक्ति ही करता है और उसकी त्रस्त भावना को शांत करने के उद्देश्य से ही दंड दिया जाता है।

प्राचीन समय में अपराधियों को दंड देने के लिए इस सिद्धांत का प्रयोग किया जाता था। किन्तु वर्तमान समय में इस सिद्धान्त को निकम्मा समझा जाता है क्योंकि दंड का उद्देश्य समाज में बर्बरता को बढ़ाना नहीं, उसको कम करना है। अपराधियों को दंड इसलिए देना

चाहिए कि वे भविष्य में फिर कभी इस प्रकार का कार्य न करें और उनको दिए गये दंड से जनता के दूसरे लोग यह शिक्षा ग्रहण करें कि यदि उन्होंने भी इसी प्रकार का कार्य किया तो उनकी भी यही दशा होगी। दण्ड देने का अधिकार किसी व्यक्ति को नहीं, समाज को होना चाहिये क्योंकि व्यक्ति को वे अधिकार जिनकी अवहेलना के लिये दंड दिया जाता है, समाज द्वारा ही प्राप्त होते हैं।

भयावह सिद्धान्त—दण्ड का एक दूसरा सिद्धान्त है जिसे भयावह सिद्धान्त कहते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार अपराधी को दण्ड इसलिए दिया जाता है कि वह स्वयं या उसी प्रकार के दूसरे अपराधी भविष्य में अपराध न करें। इस सिद्धान्त के अनुसार दंड बहुत कड़ा और बहुत अधिक मात्रा में दिया जाता है। अपराध के विचार से उसकी मात्रा आवश्यकता से भी अधिक रहती है। इस प्रकार के दंड देने का उद्देश्य यह होता है कि समाज के समान विचार वाले दूसरे मनुष्य सावधान हो जावें और भविष्य में ऐसे अपराध न करें। इस दंड का उद्देश्य नागरिकों के हृदय में भय उत्पन्न करना होता है जिससे कि समाज का कोई व्यक्ति ऐसे अपराधों की पुनरावृत्ति करने की कल्पना तक न कर सके।

सुधारक सिद्धान्त—दंड का एक तीसरा भी सिद्धान्त है जिसे सुधारक सिद्धान्त कहा जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार समाज में अपराध केवल उसी अवस्था में होते हैं जब मनुष्यों को ठीक प्रकार की शिक्षा न दी जाय या सामाजिक संगठन अन्यायपूर्ण हो या समाज के कुछ व्यक्तियों के मस्तिष्क में कोई ख़राबी हो। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत अपराधी को दंड देने की अपेक्षा, अपराध किस लिए किया गया है, इसका क्या कारण हो सकता है, क्या अपराध का कोई सामाजिक कारण है या वैयक्तिक इत्यादि बातों पर विचार किया जाता है। सुधारक सिद्धान्त में विश्वास रखने वाले दार्शनिकों का ऐसा मत है कि समाज में अधिकतर

अपराध इस कारण से होते हैं कि अपराधियों के मस्तिष्क में, किन्हीं कारणों से, कोई ऐसा दोष आ जाता है जिसके कारण वह समाज के दूसरे सभ्य नागरिकों की भाँति आचरण नहीं कर पाते और कुछ न कुछ पाप कर डालते हैं। ऐसे अपराधियों को यदि उपयुक्त वातावरण में रखकर ठीक प्रकार की शिक्षा दी जाय तो ऐसे लोग समाज के दूसरे लोगों की भाँति ही उपयोगी नागरिक बन सकते हैं। भयावह सिद्धान्त के अनुसार अपराधियों को दण्ड देने से वह और भी भयानक अपराधी बन जाते हैं। जेल के दूषित वातावरण में पलकर अपराधियों में प्रायश्चित्त की भावना नहीं, वरन् प्रतिशोध की भावना जाग्रत हो जाती है। सुधारक सिद्धान्त के अनुसार अपराधियों के साथ ठीक उसी प्रकार व्यवहार किया जाता है जैसा कोई डाक्टर अपने रोगी के साथ करता है। अपराध भी एक रोग है और अपराधियों के रोग को समझकर उसका इलाज करना चाहिए। सुधारक सिद्धान्त के अनुसार अपराधियों को वन्दीगृहों में नहीं, सुधारक-गृहों में रखना चाहिए जहाँ धार्मिक और औद्योगिक शिक्षा द्वारा वे समाज के उपयोगी सदस्य बन सकें। हमारे देश के महान् नेता महात्मा गांधी भी इसी सिद्धान्त में विश्वास रखते थे।

आधुनिक सिद्धान्त—दण्ड का आधुनिक सिद्धान्त उपर्युक्त सिद्धांतों के गुणों के एकीकरण का प्रतिफलन है। यह इन सिद्धान्तों की सारी ही अच्छी बातों को स्वीकार करता है। प्रतिशोधक सिद्धान्त का प्रयोग दीवानी मुकदमों में किया जाता है, भयावह सिद्धान्त का प्रयोग पुराने और कट्टर अपराधियों के साथ किया जाता है और सुधारक सिद्धान्त का उपयोग बालक और प्रथम अपराधियों के साथ व्यवहार करने में किया जाता है। दण्ड देने के समय अपराधी की अवस्था, उसका चाल-चलन, उसका कुल, उसका सामाजिक रहन सहन, अपराध का स्वरूप, उसका उद्देश्य, उत्तेजना की मात्रा, इत्यादि अनेक बातों को ध्यान में रक्खा जाता है। बालक अपराधियों को सुधारक-गृहों (reformatories) में रक्खा जाता है, प्रथम

अपराधियों को उचित चेतावनी देकर छोड़ दिया जाता है और पुराने, कट्टर अपराधियों को घोर कारावास का दण्ड दिया जाता है। कभी-कभी मृत्युदण्ड भी दिया जाता है। दण्ड पर्याप्त और उचित है या नहीं इसकी परीक्षा समाज की भलाई से की जाती है।

§ ३. सम्पत्ति

सामाजिक जीवन में निजी सम्पत्ति की संस्था एक आवश्यक शक्ति है। निजी सम्पत्ति का अर्थ किसी व्यक्ति की उस भूमि, जायदाद या सामान से है जिस पर उसका क़ानूनन अधिकार हो और जिसका वह पूर्णरूप से अपनी इच्छा के अनुसार भोग कर सके। किसी सम्पत्ति का अधिकार मनुष्य के केवल उस पर अधिकार कर लेने से ही नहीं हो जाता, अपितु उस अधिकार को समाज को स्वीकार करना पड़ता है और उसकी रक्षा करनी पड़ती है। यदि राज्य अपनी शक्ति के द्वारा उस सम्पत्ति की दूसरों के आक्रमणों से रक्षा न करे तो उसका अस्तित्व ही नहीं रह सकता। इसके अतिरिक्त जायदाद, सामान या भूमि का सामाजिक कार्य और सामाजिक आवश्यकताओं के कारण ही मूल्य होता है। हीरे या मोतियों का उस समय तक कोई मूल्य नहीं होता जब तक समाज उनका उपयोग स्वीकार न करे। अतएव समाज को व्यक्तियों की निजी सम्पत्ति पर कुछ विशेष नियंत्रण रखने का अधिकार है। किसी व्यक्ति की सम्पत्ति इसलिए उसकी निजी संपत्ति नहीं कहलाती कि उस पर केवल वही व्यक्ति नियंत्रण रख सकता है और समाज नहीं, वरन् इसलिये कि समाज ने उस व्यक्ति को अपनी सम्पत्ति पर सामाजिक हित और अपनी निजी भलाई के लिये उपयोग करने की सुविधा दी है।

सम्पत्ति की उत्पत्ति—सम्पत्ति की उत्पत्ति मानव व्यक्तित्व की आवश्यकताओं और स्वभाव से हुई। मनुष्य की आवश्यकताओं को पूर्ण करने और उसके व्यक्तित्व का विकास करने के लिये सम्पत्ति का अधिकार अत्यन्त आवश्यक है।

कुछ लेखकों का मत है कि निजी सम्पत्ति की प्रथा उतनी ही प्राचीन है जितनी कि सांसारिक युद्ध की प्रथा। सभ्यता के प्रसवकाल में विजेता लोग पराजित लोगों की भूमि और दूसरी सारी सम्पत्ति पर अधिकार कर लेते थे। युद्ध से लूटा हुआ सामान सैनिकों में बाँट दिया जाता था। इस प्रकार निजी सम्पत्ति की संस्था का जन्म हुआ।

एक प्रसिद्ध अंग्रेज़ लेखक लौक (Locke) का मत है कि निजी सम्पत्ति का जन्म उस समय हुआ जब मनुष्य धन की उत्पत्ति के लिए अपने परिश्रम को प्रकृति की स्वतन्त्र देन से मिश्रित करने लगा। यह सिद्धान्त सम्पत्ति का उत्पादन अथवा श्रम सिद्धान्त कहलाता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि निजी सम्पत्ति की संस्था बहुत प्राचीन है। सम्भवतः वह वर्तमान राज्य से भी अधिक प्राचीन है। वर्तमान राज्य के बनाये हुए व्यक्तिगत सम्पत्ति की रक्षा के क़ानूनों से इसकी महत्ता अधिक बढ़ गई है।

व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्रथा से लाभ

व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्रथा का जन्म, जैसे पहले कहा जा चुका है, मनुष्य की आवश्यकताओं और स्वभाव से हुआ। इस संस्था के अनेक लाभ हैं :—

(१) व्यक्तिगत संपत्ति से मनुष्य के जीवन और उसकी स्वतन्त्रता की रक्षा होती है। जिस व्यक्ति के पास धन है वह अपनी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता है। धन के बिना मनुष्य न अपनी भूख ही शान्त कर सकता है और न अपनी दूसरी आवश्यकताओं की पूर्ति। धन के अभाव में उसका जीवन दुखी बन जाता है और उसे कितनी ही रातें बिना भोजन के बड़ी व्याकुलता के साथ बितानी पड़ती हैं।

(२) धन के द्वारा सदाचार की उन्नति होती है। जिस व्यक्ति के पास धन होता है उसे किसी से डरने या किसी की खुशामद करने की

आवश्यकता नहीं रहती। वह अपने विचारों में स्वतन्त्र, विश्वासों में दृढ़ और अपने व्यवहार में निष्कपट रह सकता है। इसके विपरीत एक दरिद्र व्यक्ति को अधिकार-प्राप्त पुरुषों की चापलूसी करनी पड़ती है। उसे चाँदी के कुछ टुकड़ों के लिए अपने मत का बलिदान करना पड़ता है और कभी-कभी तो परिस्थितियों से विवश होकर उसे चोर और डाकुओं का-सा निन्दनीय जीवन व्यतीत करना पड़ता है।

(३) धन के अधिकार से **व्यक्ति गम्भीर और सावधान बन जाता है**। धनवान् लोगों को देश की अव्यवस्था से भारी खतरा बना रहता है, इसलिए ऐसे लोग निःशृङ्खल नहीं बन सकते। वे देश की सरकार को शक्तिशाली बनाने में हर प्रकार की सहायता प्रदान करते हैं।

(४) जिस मनुष्य के पास सम्पत्ति रहती है वह अपने जीवन को **सुन्दर और कलापूर्ण** बना सकता है। वह अपने अवकाश का प्रयोग अपनी शक्तियों का कला और संस्कृति की उन्नति में लगाकर कर सकता है।

(५) सम्पत्ति के बिना मनुष्य में **स्वाधीनता और आतिथ्य के गुण विकसित नहीं हो सकते**। जिस व्यक्ति के पास अपनी ही भूख मिटाने के लिए धन नहीं वह दूसरों की सहायता कहाँ से कर सकता है।

(६) सम्पत्ति-प्रथा कार्य करने की अधिक स्फूर्ति उत्पन्न करती है। आधुनिक औद्योगिक सभ्यता में निजी लाभ की आशा एक आवश्यक अंग है। निजी सम्पत्ति की प्रथा को नष्ट करने से मनुष्य में कार्य करने की स्फूर्ति नहीं रहती। वह केवल उतना ही कार्य करता है जितना उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आवश्यक है। इस प्रकार व्यक्तियों के कम काम करने से समाज की आयु घट जाती है और देश की आर्थिक स्थिति को भारी धक्का पहुँचता है।

(७) निजी सम्पत्ति की प्रथा से मनुष्य अपनी आय में से कुछ न

कुछ बचाने का प्रयत्न करता है और इस प्रकार देश की सम्पत्ति बढ़ जाती है।

(८) निजी सम्पत्ति की प्रथा से मनुष्य को सांसारिक चिन्ताओं से मुक्ति मिल जाती है और वह उच्च उद्देश्यों की प्राप्ति में अपना समय व्यतीत कर सकता है।

हानियाँ

निजी सम्पत्ति की प्रथा से जहाँ इतने लाभ होते हैं वहाँ उससे कुछ हानियाँ भी होती हैं। इनमें से कुछ हानियों का वर्णन नीचे किया जाता है :—

(१) निजी सम्पत्ति की प्रथा पर यदि उचित नियन्त्रण न रक्खा जाय तो इससे धनी लोगों को ग़रीबों का ख़ून चूसने का अवसर मिलता है और इससे समाज में अशांति फैलती है। लड़ाई के समय में और उसके पश्चात् आज तक भी किस प्रकार धनी व्यापारियों ने अपने पैसे के बल से जनता के उपयोग की सभी वस्तुओं पर अधिकार जमाया और किस प्रकार चोर बाज़ार को जन्म दिया. यह आज सभी लोग भलीभाँति जानते हैं।

(२) निजी सम्पत्ति की प्रथा से धनी अधिकाधिक धनी और ग़रीब अधिकाधिक ग़रीब बनते जाते हैं। धनी लोगों के पास सम्पत्ति बहुत तेज़ी से बढ़ती है। जो मनुष्य जीवन में अधिक अच्छे पदों पर स्थित होते हैं उन्हें अधिक वेतन, अधिक भत्ता, बिना किराए के बँगले, नौकर आदि मिलते हैं। वे अपनी पिछली बचत से ब्याज प्राप्त कर सकते हैं, मकान आदि ख़रीद कर उनका किराया खा सकते हैं और अपनी इकट्ठी की हुई पूँजी से कोई भी व्यवसाय आरम्भ कर सकते हैं। इस प्रकार सम्पत्ति उन लोगों के पास चली जाती है जिन्हें उसकी बहुत कम आवश्यकता रहती है।

(३) सम्पत्ति की प्रथा से समाज में असमानता उत्पन्न होती है

और समाज अमीर और गरीब दो युद्धशील वर्गों में विभाजित हो जाता है।

(४) निजी सम्पत्ति की प्रथा समानता के विचार से ही नहीं, योग्यता की दृष्टि से भी अनुपयुक्त है। भूमि और सम्पत्ति के उचित प्रबन्ध के लिए कुशल और योग्य व्यक्तियों की आवश्यकता होती है परन्तु इस पूँजीपति-युग में प्रायः ऐसा देखने में आता है कि पूँजीपतियों के उत्तराधिकारी अयोग्य व्यक्ति हुआ करते हैं। वे बिना परिश्रम के ही अपार सम्पत्ति प्राप्त कर लेते हैं और इस कारण उस धन का दुरुपयोग मदिरापान, वेश्यागमन आदि विषय-वासनाओं की तृप्ति में करते हैं। समाज का अपार धन जो योग्य व्यक्तियों के हाथ में होने से देश की उन्नति के काम आ सकता है, इस प्रकार व्यर्थ ही नष्ट हो जाता है।

(५) निजी सम्पत्ति की प्रथा मनुष्य में मिथ्याभिमान और गर्व की भावना को जन्म देती है। धनी होते ही लोग ग़रीबों की ओर घृणा की दृष्टि से देखने लगते हैं।

(६) यह प्रथा समाज में निकम्मे और पराश्रित व्यक्तियों का एक वर्ग उत्पन्न कर देती है। ज़मींदार, ताल्लुकेदार और दूसरे बड़े-बड़े पूँजीपति बिना किसी प्रकार के परिश्रम के बहुत-सा धन पैदा कर लेते हैं। देश की सम्पत्ति को बढ़ाने में इन लोगों का किसी प्रकार का भी हाथ नहीं होता। फलस्वरूप देश की राष्ट्रीय आय पर इसका बुरा प्रभाव पड़ता है।

(७) इस प्रथा से मनुष्य के आचरण में अभिमान, असहिष्णुता, अश्रद्धा, बेईमानी और दूसरे दुर्गुण उत्पन्न हो जाते हैं। वर्तमान समाज में धन बेईमानी और दग़ाबाजी से पैदा किया जाता है, ईमानदारी से नहीं।

(८) इस प्रथा से समाज में एक शोषित वर्ग उत्पन्न हो जाता है। राज्य के शासन की बागडोर ऐसे लोगों के हाथ में चली जाती है जो सर्व-

साधारण पर अपना प्रभुत्व और एकाधिपत्य स्थापित करने के लिये हर प्रकार का कार्य करने को उद्यत रहते हैं। सम्पत्ति के समुचित नियंत्रण और धन के समान विभाजन के बिना प्रजातंत्र शासन केवल एक ढकोसला है। धन के कारण दरिद्र-मतदाताओं को आसानी से ठगा जा सकता है और इस प्रकार शासन की बागडोर केवल पूँजीपतियों के हाथ में सुरक्षित बनी रहती है।

योग्यता-प्रश्न

१. संस्थाओं से आप क्या समझते हैं? वे कौन से भय हैं जिनसे संस्थाओं को बचाना चाहिये? उनके अस्तित्व का क्या प्रयोजन है।
२. शिक्षा का उद्देश्य क्या होना चाहिये? आधुनिक शिक्षा-प्रणाली इस उद्देश्य की पूर्ति में कहाँ तक असफल रही है? (यू० पी०, १९३८)
३. भारत में सामूहिक शिक्षा की समस्या का विवेचन कीजिये। इस समस्या को हल करने के लिये आप कौनसी युक्तियाँ ठीक समझते हैं?
४. दंड के भिन्न-भिन्न प्रयोजन कौन से हैं?
(यू० पी०, १९३० १९४७)
५. राज्य का दंड देने का अधिकार किन कारणों पर आश्रित है?
(यू० पी०, १९३२)
६. सम्पत्ति की उत्पत्ति कैसे हुई? व्यक्तियों को सम्पत्ति पर अधिकार करने की आज्ञा किन कारणों से होनी चाहिये? (यू० पी०, १९३८)
७. एक प्रजातन्त्र शासन चलाने के लिए विस्तृत-रूप में शिक्षा की नितान्त आवश्यकता है, इस कथन की आलोचना कीजिये। (यू० पी०, १९४०)
८. शिक्षा का प्रचार लोक राज्य की स्थापना के लिए आवश्यक है। आलोचना करें। (यू० पी०, १९४१)
९. प्रत्येक राष्ट्र की नींव उसके नवयुवकों की शिक्षा पर खड़ी होती है, समझाइये। (यू० पी०, १९४५)
१०. वह दो संस्थाएँ जिन पर सारे सभ्य समाज की नींव खड़ी है, कुटुम्ब और संपत्ति हैं। समझाइये। (यू० पी०, १९४९)

———

ग्यारहवाँ अध्याय

राज्य

राज्य का अर्थ और तत्त्व

सामाजिक जीवन में राज्य एक बहुत महत्वपूर्ण स्थान रखता है। राज्य के सुप्रबन्ध पर किसी देश की जनता का सुख और उसकी उन्नति निर्भर रहती है। राज्य के प्रबन्ध के बिना समाज में अराजकता फैल जाती है और किसी भी प्रकार की व्यवस्था तथा नियंत्रण क़ायम नहीं रहता। आधुनिक काल में मनुष्य के सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में राज्य कुछ न कुछ भाग अवश्य लेता है। हमारे जीवन का आज-कल शायद ही कोई ऐसा क्षेत्र हो जिसमें राज्य क्रियात्मक रूप से हस्तक्षेप न करता हो। व्यापार, शिक्षा, स्वास्थ्य, विदेश यात्रा, कला-कौशल, आने-जाने के साधन, सफ़ाई, हस्पताल, शिशु-गृह, आमोद-प्रमोद के सामान, अर्थात् जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में ही राज्य कुछ न कुछ भाग अवश्य लेता है। प्राचीन काल में राज्य की इतनी अधिक महिमा नहीं थी, जितनी कि आधुनिक काल में बढ़ गई है। आजकल समाजवाद की प्रगति के कारण, राज्य मनुष्य समाज का सबसे अधिक शक्तिशाली तथा महत्वपूर्ण संगठन बन गया है।

(१) **राज्य की परिभाषा**—दुर्भाग्यवश, राजनैतिक विद्वान्, राज्य शब्द की परिभाषा के सम्बन्ध में एक मत नहीं हैं, प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ गारनर (Garner) का कहना है 'राज्य शब्द की इतनी ही परिभाषाएँ हैं

"The state is a community of persons, moreor less numerous, permanently occupying a definite portion of territory, independent or nearly so of external control & possessing an organised Governmnt to which the great body of inhabitants render habitual control."

—Garner.

जितनी राजनीति विज्ञान के लेखक'। राज्य के मूलतत्व तथा उद्देश्य के बारे में भी लोगों में भारी मतभेद है, उदाहरणार्थ यदि कुछ लोग राज्य को ईश्वर के समान पवित्र तथा शक्तिशाली संगठन मानते हैं, तो दूसरे उसे कुछ धनीमानी तथा समृद्ध व्यक्तियों द्वारा ग़रीब जनता के शोषण का अस्त्र समझते हैं। कुछ लोग राज्य को शक्ति का प्रतीक मानते हैं तो दूसरे उसे जनता की भलाई का एक आवश्यक संगठन।

राज्य की परिभाषा करने से पहिले इसलिये आवश्यक है कि हम राज्य के उन तत्वों पर विचार करें जो सभी राजनैतिक संगठनों में पाये जाते हैं। यह तत्व निम्नलिखित हैं :—

(१) आबादी (Population)

(२) भूमि (Territory)

(३) शासन (Government)

(४) सार्वभौमिकता (Sovereignty)

(२) आबादी—राज्य का सबसे प्रथम तथा सबसे आवश्यक अंग जनता है। पशु या पक्षियों के सङ्गठन से राज्य की स्थापना नहीं होती। मनुष्यों के राजनैतिक सङ्गठन को ही राज्य कहते हैं। किसी एक राज्य में मनुष्यों की कितनी संख्या होनी चाहिये, इसका कोई परिमाण नहीं है। राज्य में थोड़े भी सदस्य हो सकते हैं और बहुत अधिक भी। चीन राज्य में ५० करोड़ जनता की आबादी है तो स्विटजरलैण्ड में केवल ४० लाख आदमियों की, और लुक्समबर्ग तथा लीशैशटीन राज्यों में केवल ८ या १० लाख को। परन्तु यह बात बिल्कुल साफ है कि १०० या ५० आदमियों के सङ्गठन से राज्य की स्थापना नहीं हो सकती, क्योंकि इतनी थोड़ी आबादी में राज्य के दूसरे आवश्यक अंग नहीं मिल सकते। किसी

"State is a people organised for law within a definite territory." Leacock.

राज्य की जन-संख्या जितनी अधिक होगी तथा उसके प्राकृतिक साधन जितने अधिक सम्पन्न होंगे, राज्य उतना ही अधिक शक्तिशाली होगा। आधुनिक काल में, आवागमन के साधनों की सुगमता के कारण राज्यों की सीमाएं बढ़ रही हैं तथा उनकी जन संख्या भी अधिक हो रही है। वर्तमान काल में केवल वही राज्य एक सन्मानित तथा भयहीन जीवन व्यतीत कर सकते हैं जितनी जन-संख्या पर्याप्त हो।

(२) भूमि—राज्य का दूसरा आवश्यक अग भूमि है। भूमि अर्थात् किसी निश्चित स्थान के बिना मनुष्यों का समूह राज्य नहीं कहा जा सकता। यहूदी लोग कुछ दिनों पहिले तक दुनिया के चारों कोनों में फैले हुये थे, परन्तु फिर भी भूमि के अभाव के कारण वह अपना राज्य स्थापित नहीं कर पाये थे। परन्तु अब भूमि पर अधिकार हो जाने से वह एक राज्य बन गये हैं।

भूमि की सीमा के अन्तर्गत जितने भी मनुष्य रहते हैं अथवा जन्म लेते हैं, राज्य का उन सब पर अधिकार रहता है। उन्हें राज्य के नियमों का पालन करना पड़ता है, उसके लिये युद्ध में लड़ना पड़ता है, टैक्स देना पड़ता है, तथा उसकी आज्ञाओं का पालन करना पड़ता है।

आबादी की भाँति, किसी राज्य की भूमि का क्षेत्रफल कितना होना चाहिये इसका भी कोई निश्चित नियम नहीं है। क्षेत्रफल कम भी हो सकता है और अधिक भी, परन्तु आबादी की भाँति अधिक क्षेत्रफल तथा प्राकृतिक साधनों की बहुतायत राज्य की शक्ति के लिये आवश्यक है। एक और भी बात का वर्णन कर देना यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है, और वह यह कि, किसी राज्य की सीमा देश की प्राकृतिक सीमा से मिलती-जुलती होनी चाहिये, जिससे राज्य के प्रबन्ध तथा देश की रक्षा के कार्य में सुगमता हो सके।

(३) शासन—आबादी और भूमि के पश्चात्, राज्य की स्थापना के लिये राजनैतिक संगठन अर्थात् एक सरकार की आवश्यकता पड़ती

है। राज्य और सरकार का अटूट सम्बन्ध है। सरकार की स्थापना के साथ राज्य की स्थापना होती है। सरकार के प्रबन्ध के टूट जाने से राज्य छिन्न-भिन्न हो जाता है। देश में अराजकता फैल जाती है। सरकार राज्य की आत्मा है जिस प्रकार आत्मा के शरीर से अलग हो जाने पर, शरीर एक मिट्टी का ढेर हो जाता है, ठीक उसी प्रकार सरकार के बिना राज्य की व्यवस्था नहीं चल सकती। सरकार ही क़ानून बनाती है तथा देश में शांति और व्यवस्था क़ायम करती है।

राज्य में सरकार किस प्रकार की हो, इसके लिये भी कोई निश्चित नियम नहीं है। सरकार प्रजातंत्रवादी भी हो सकती है और एकतंत्रवादी भी। आवश्यकता केवल इस बात की है कि राजनैतिक संगठन समाज में शांति और व्यवस्था क़ायम रख सकें।

(४) **सार्वभौमिकता** अंत में राज्य एक सार्वभौमिक सङ्गठन है। सार्वभौमिकता का अर्थ है कि राज्य पर कोई बाहरी शक्ति प्रभुत्व न रक्खे, तथा राज्य के अंतर्गत रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति तथा व्यक्तियों के समुदाय राज्य की आज्ञा का पालन करें। राज्य एक सबसे शक्तिशाली सङ्गठन है। कोई राज्य केवल उसी समय स्वतंत्र कहा जा सकता है जब कोई बाहरी देश उस पर हुकूमत न करे, तथा देश के अन्दर रहने वाले हर प्रकार के लोग राज्य की आज्ञाओं का पालन करें। किसी देश में केवल राज्य ही पुलिस और फ़ौज रख सकता है, कोई दूसरी संस्था नहीं।

§ १. राज्य की कुछ अन्य शब्दों से भिन्नता

राज्य और समाज में अन्तर (State and Society)—समाज और राज्य शब्द का प्रयोग बहुधा एक ही अर्थ में किया जाता है। परन्तु इन दोनों शब्दों के अर्थ बिल्कुल भिन्न हैं।

(१) समाज से उन मनुष्यों का बोध होता है जो एक दूसरे के साथ सामाजिक बन्धन में रहते हैं। इसके विपरीत राज्य समाज की वह व्यवस्था है जिसके द्वारा समाज में शांति और व्यवस्था क़ायम की जाती है।

(२) समाज के अधिकार में कोई भूमि नहीं रहती। यह तो केवल मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्ध पर निर्भर रहती है इसलिए समाज का क्षेत्र सारा संसार भी हो सकता है और एक परिवार भी। इसके विपरीत राज्य का अस्तित्व बिना किसी खास और निश्चित भूमि के नहीं रह सकता। उसकी अपनी निज की सीमाएँ होती हैं। दूसरे किसी भी राज्य को उस पर सबल स्वामित्व करने का अधिकार नहीं होता।

(३) राज्य में एक राजनैतिक व्यवस्था होती है जिसे शासन या सरकार कहा जाता है। समाज में किसी विशेष व्यवस्था की आवश्यकता नहीं पड़ती। उदाहरण के लिये जब हम शिकारियों के समाज की बातें करते हैं तब हम उस समाज की व्यावस्था का उल्लेख नहीं करते।

(४) राज्य अपनी आज्ञाओं का शक्ति के द्वारा पालन करा सकता है। समाज अपनी आज्ञा पालन कराने के लिए सिर्फ आग्रह कर सकता है। समाज के अन्तर्गत कोई सेना या पुलिस नहीं होती। और इसीलिए उसे अपनी आज्ञाओं के पालन के लिये केवल जनता की सदिच्छा पर अवलम्बित रहना पड़ता है।

(५) समाज का क्षेत्र राज्य से कहीं विस्तृत होता है। राज्य समाज का केवल एक अंग है। यह समाज के अन्तर्गत दूसरे अनेक संगठनों के समान एक संगठन है।

राज्य और संघ में अन्तर (State and Association)—कभी-कभी समाज शब्द का प्रयोग एक और मामले में किया जाता है अर्थात् मनुष्यों के उस संगठन के रूप में जिसकी व्यवस्था समान उद्देश्य की उन्नति के लिए की जाती है। वास्तव में ऐसे संगठनों को नागरिकशास्त्र में हम संघ कहते हैं, समाज नहीं।

संघ और राज्य के संगठन में निम्नलिखित अन्तर होते हैं :—

(१) राज्य की सदस्यता आवश्यक है। हर एक नागरिक को किसी न किसी राज्य का सदस्य अवश्य बनना पड़ता है, परन्तु सङ्घ की सदस्यता

ऐच्छिक है। मनुष्य किसी भी संघ के सदस्य बनने से इन्कार कर सकता है।

(२) राज्य का विस्तार एक विशेष सीमा के अन्तर्गत होता है। उसकी निश्चित सीमाएँ होती हैं। परन्तु सङ्घ सारे संसार में भी फैल सकता है। आधुनिक काल में कितने ही सङ्घ अन्तर्राष्ट्रीय होते हैं जैसे कौम्यूनिस्ट, इन्टरनैशनल, वर्ल्ड फिडरेशन आफ लेबर इत्यादि।

(३) एक मनुष्य एक समय में एक से अधिक सङ्घों का सदस्य हो सकता है, परन्तु वह एक समय में एक राज्य से अधिक राज्यों का सदस्य नहीं रह सकता।

(४) सङ्घ एक उद्देश्य की पूर्ति के लिए बनाया जाता है जैसे शिक्षा प्रसार अथवा मनोरंजन अथवा राजनीति में भाग लेने के लिये। परन्तु राज्य अनेक कर्तव्यों की पूर्ति करता है। वह शिक्षा, स्वास्थ्य, शांति, कला-कौशल, कारख़ाने तथा इसी प्रकार के अनेक दूसरे काम एक साथ ही करता है।

(५) राज्य एक स्थाई संस्था है परन्तु अधिकतर सङ्घों का अस्तित्व अस्थाई रहता है। सङ्घों का उस समय लोप हो जाता है जब उनके उस उद्देश्य की पूर्ति हो जाती है जिनके लिए उनका जन्म हुआ था। उदाहरण के लिए यदि एक बाढ़ सहायक समाज की स्थापना की जाय, तो बाढ़ सहायक कार्यों के समाप्त हो जाने पर उसके अस्तित्व का अन्त हो जाता है।

(६) राज्य नागरिकों पर कर लगा सकता है जो प्रत्येक नागरिक को बल-पूर्वक देने पड़ते हैं। सङ्घ इसके विपरीत केवल चन्दे वसूल कर सकता है।

(७) नागरिकों के लिए राज्य की आज्ञा का पालन करना अनिवार्य है। यदि कोई मनुष्य राज्य के क़ानूनों को नहीं मानता तो उसे क़ानूनी अदालत द्वारा दण्ड दिया जा सकता है। परन्तु यदि वह सङ्घों के नियमों

का पालन नहीं करता तो केवल जनमत द्वारा उसकी निन्दा की जा सकती है। उसे कारावास का दण्ड नहीं दिया जा सकता।

(८) राज्य एक सार्वभौमिक संस्था है। उसकी शक्ति अपरिमित है, परन्तु संगठनों की शक्ति राज्य के क़ानूनों पर निर्भर रहती है।

राज्य और शासन में अन्तर (State & Government)

शासन राज्य की वह मशीन या व्यवस्था है जिसके द्वारा उसके आदेशों का पालन होता है। वे सब कर्मचारी जो राज्य की इच्छा को व्यक्त करते हैं या उसका पालन कराते हैं शासन में सम्मिलित समझे जाते हैं। दूसरे शब्दों में केन्द्रीय, प्रांतीय तथा स्थानीय अंगों के सब व्यवस्थापक, कार्यकारिणी और न्याय सम्बन्धी संस्थाओं के सदस्यों का योग ही शासन है। राज्य और शासन का अन्तर नीचे दिया जाता है :—

(१) राज्य में सभी नागरिक शामिल होते हैं परन्तु शासन में केवल वही थोड़े से लोग सम्मिलित होते हैं जो सरकारी काम काज में सहायता देते हैं।

(२) राज्य स्थाई है और सरकार अस्थाई। सरकार दिन प्रतिदिन या एक साल या इससे कुछ अधिक समय में बदल सकती है। उदाहरणार्थ हमारे देश में कांग्रेस के स्थान पर समाजवादीदल की सरकार बन सकती है या उसके स्थान पर फौरवर्ड ब्लाक की। परन्तु राज्य कभी नहीं बदलता। राज्य केवल उसी समय बदल सकता है जब वह अपनी स्वाधीनता खो बैठे और किसी दूसरे शक्तिशाली राज्य के आधीन गुलाम हो जाय।

(३) राज्य एक अप्रत्यक्ष संस्था है, वह देखी नहीं जा सकती, उसका अनुभव किया जा सकता है। परन्तु सरकार एक प्रत्यक्ष संस्था है उसे प्रत्येक मनुष्य अच्छी प्रकार देख सकता है।

(४) राज्य को सार्वभौमिक अधिकार प्राप्त होते हैं। परन्तु सरकार केवल उन्हीं अधिकारों का प्रयोग कर सकती है जो राज्य द्वारा प्रदान

किए जा। हैं। इन अधिकारों की संख्या सीमित होती है। मनुष्यों के शासन के विरुद्ध अधिकार हो सकते हैं परन्तु राज्य के विरुद्ध नहीं।

क्या भारत तथा दूसरे उपनिवेश राज्य हैं ? (Are Dominions States ?)

कैनेडा, ऑस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैंड दक्षिण अफ्रीका, न्यूफाउन्डलैन्ड और आयरिश स्वतंत्र राज्य १६३१ में स्वीकृत वेस्टमिनिस्टर स्टैचूट के आधीन औपनिवेशिक राज्य स्वीकृत कर लिए गए थे। इन उपनिवेशों में १६४७ के क़ानून के आधीन भारत और पाकिस्तान को भी सम्मिलित कर लिया गया।

उपनिवेश ब्रिटिश राज्य के अन्तर्गत स्वतंत्र और स्वशासित समाज हैं। उनके अधिकार समान हैं; वे किसी भी प्रकार एक दूसरे के आधीन नहीं हैं। वे अपनी आन्तरिक तथा वाह्य शासन नीति का निश्चय स्वतंत्रतापूर्वक कर सकते हैं, वे सब समान रूप से कौमनवैल्थ आफ नेशन्स के स्वतंत्र सदस्य हैं। ब्रिटिश पार्लियामेन्ट को उपनिवेशों की पार्लियामेन्ट द्वारा स्वीकृत क़ानूनों को संशोधन करने या रद्द करने का कोई अधिकार प्राप्त नहीं है। उपनिवेश चाहें तो साम्राज्य से अलग भी हो सकते हैं। आयरलैन्ड ने ब्रिटिश साम्राज्य से प्राय: सभी सम्बन्धों का विच्छेद कर लिया है। सन् १६४६ के संशोधित क़ानून के मातहत तो अब कोई कामनवैल्थ राष्ट्र ब्रिटिश सम्राट् से भी संबंध विच्छेद कर सकता है। भारत आज एक लोकतंत्रीय राज्य (republic) होते हुए भी, कामनवैल्थ का सदस्य है। वेस्टमिनिस्टर स्टैचूट में यह भी कहा गया है कि उपनिवेशों के सम्बन्ध में ब्रिटिश पार्लियामेन्ट उस समय तक कोई क़ानून नहीं बना सकती जब तक ऐसा करने के लिए उपनिवेश ही स्वयं प्रार्थना न करें। ब्रिटिश पार्लियामेन्ट को किसी भी उपनिवेश के विधान को बदलने या उसके दूसरे क़ानूनों को स्वीकार या अस्वीकार करने का अधिकार नहीं है; उपरोक्त कारणों से स्पष्ट है कि उपनिवेश बिल्कुल

स्वतंत्र राष्ट्र हैं। इसलिए अधिकतर राजनैतिक विद्वानों की राय में उपनिवेशों को राज्य ही माना जाता है।

राज्य और राष्ट्र में अन्तर (State and Nation)

बहुत से राजनैतिक विद्वान् राष्ट्र और राज्य शब्दों में भेद नहीं करते। इसका पता इस उदाहरण से चलता है कि जो सचमुच राज्यों का संघ है वह राष्ट्रों का संघ (United Nation) कहलाता है। वास्तव में राष्ट्र और राज्य पर्यायवाची शब्द नहीं वरन् बिल्कुल भिन्न शब्द हैं।

राष्ट्र का सम्बन्ध भाव से है और राज्य का सम्बन्ध एक राजनैतिक सङ्गठन के अस्तित्व से। राष्ट्र एक आध्यात्मिक भावना है और राज्य एक उद्देश्यपूर्ण व्यवस्था। मोटे तौर पर हम राष्ट्र और राज्य में निम्नलिखित भेद कर सकते हैं :—

(१) राज्य बिना सरकार के जीवित नहीं रह सकता परन्तु राष्ट्र एक व्यवस्थित समाज भी हो सकती है और अव्यवस्थित भी।

(२) राज्य एक सार्वभौमिक सङ्गठन है। वह अपने नागरिकों से बलपूर्वक अपनी आज्ञा का पालन करा सकता है और बाग़ियों को दण्ड दे सकता है परन्तु राष्ट्र का आधार केवल एक आध्यात्मिक भावना है। राष्ट्र के प्रति केवल वही व्यक्ति भक्ति-भाव रख सकते हैं जिनमें ऐसे भाव विद्यमान हों।

(३) राज्य के अन्तर्गत एक से अधिक राष्ट्र रह सकते हैं। उदाहरणार्थ युगोस्लेविया बलगेरिया इत्यादि देशों में अनेक राष्ट्रों के लोग रहते हैं। एक राष्ट्र बहुत से राज्यों में भी विभाजित हो सकता है जैसे पोल दुनिया के कई राष्ट्रों में फैले हुए हैं।

राज्य और देश में अन्तर

बहुत बार लोग राष्ट्र और देश में अन्तर नहीं करते। वास्तव में यह दोनों शब्द बिल्कुल भिन्न हैं। देश एक भौगोलिक शब्द है, इससे राजनैतिक व्यवस्था का कोई सम्बन्ध नहीं है। एक देश के अन्दर बहुत से

राज्य शामिल हो सकते हैं। भारतवर्ष में आजकल इण्डिया और पाकिस्तान दो राज्य हैं। इसके अतिरिक्त एक राज्य बहुत से देशों में भी फैल सकता है जैसे इङ्गलैण्ड और रूस। साधारणतया राज्यों की व्यवस्था उनकी स्वाभाविक सीमाओं के अन्तर्गत ही होती है। इसी कारण बहुत से मनुष्य इन दोनों शब्दों में भेद नहीं करते।

§ २. राज्य की आवश्यकता

राज्य की शक्ति का आधार पुलिस, फ़ौज, क़ानूनी अदालतें तथा जेलखाने हैं। इन शस्त्रों के द्वारा राज्य अपने नागरिकों को एक विशेष प्रकार का संयमी तथा व्यवस्थित जीवन व्यतीत करने के लिए मजबूर करता है। जो नागरिक राज्य के आदेशों का पालन न कर, अपनी मनमानी करते हैं, राज्य उन्हें कारावास का दण्ड देता है, तथा कभी कभी भीषण अपराधों के लिए मृत्यु दण्ड भी देता है। प्रश्न उठता है कि मनुष्य राज्य की इन आज्ञाओं का क्यों पालन करता है, क्या वह बिना राज्य की संस्था के अपना जीवन सुखपूर्वक व्यतीत नहीं कर सकता? संसार का कोई भी मनुष्य ज़बरदस्ती या भय के दण्ड के कारण काम नहीं करना चाहता। वह स्वेच्छा तथा स्वतंत्र रूप से ही प्रत्येक कार्य को करना चाहता है। दंड के भय से काम करने में मनुष्य के स्वाभिमान, यश, तथा उत्साह को भारी ठेस पहुँचती है। ऐसा मनुष्य सदा भय के चगुल में ही फँसा रहता है; और स्वतंत्र रूप से सोचने तथा कार्य करने की शक्ति खो बैठता है। इन शक्तियों के लुप्त हो जाने से संसार की सभ्यता तथा संस्कृति को भारी ठेस पहुँचती है। भय और शक्ति के प्रयोग से केवल जनता पर ही बुरा असर नहीं पड़ता, शासक लोग भी इन अस्त्रों के प्रयोग से दुराचारी, स्वार्थी तथा जालिम बन जाते हैं। इसलिए यह नितांत आवश्यक है कि राज्य तथा दंड संस्थाओं की आवश्यकता के विषय में हम निष्पक्षरूप से विचार करें।

अनार्किस्ट दृष्टिकोण (Anarchist view)

राजनैतिक विद्वानों का एक दल जिन्हें अनार्किस्ट कहा जाता है राज्य की संस्था को मनुष्य के सुख और उसकी उन्नति का घातक मानता है। इन लोगों का कहना है कि मनुष्य समाज में रहकर एक आदर्श जीवन केवल उस समय व्यतीत कर सकता है जब उसे किसी भी प्रकार का भय तथा आतंक का डर न हो। राज्य की संस्था शक्ति तथा भयावह सिद्धांत पर निर्भर है। इन अस्त्रों के प्रयोग से मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास नहीं होता, इसलिए राज्य को सामाजिक व्यवस्था से बिल्कुल अलग कर देना चाहिए। मनुष्य स्वभाव से एक शान्तिप्रिय सहयोगी तथा प्रेमी जीव है, उसे उसका कर्तव्य बतलाने के लिए राज्य की शक्ति की आवश्यकता नहीं। उसे यदि स्वतंत्र रहने दिया जाय तो वह अपने व्यक्तित्व का विकास तथा अपने राष्ट्र की अधिक सेवा कर सकता है। ऐसी दशा में मनुष्य संसार में स्वर्ग की स्थापना कर सकता है क्योंकि स्वर्ग केवल उस जगह का नाम है जहाँ जीवन में सुख, सौंदर्य, तथा शान्ति का साम्राज्य हो; और किसी भी प्रकार का भय, द्वेश, प्रतिस्पर्धा तथा कलह का वातावरण न हो। स्वर्ग प्रेम का प्रतीक है और राज्य शक्ति का; और 'ट्रीटस्के' के कथनानुसार 'शक्ति अच्छे जीवन की शत्रु है।"

अनार्किस्ट दृष्टिकोण की आलोचना—अनार्किस्ट लेखकों का उपरोक्त मत मनुष्य स्वभाव की दो धारणाओं पर अवलम्बित है। प्रथम यह कि संसार का प्रत्येक मनुष्य स्वभाव से देवता है, वह न किसी से झगड़ा करता है, न द्वेष रखता है, न बेईमानी करता है और न झूठ बोलता है; दूसरा यह कि मनुष्य के जीवन में स्वाभाविक सहयोग की भावना है। अर्थात् मनुष्यों की पारस्परिक इच्छाओं में किसी प्रकार का सङ्घर्ष नहीं है। यह दोनों मत वास्तविकता के दृष्टिकोण से बिल्कुल भ्रममूलक हैं। यह सच है कि मनुष्य में देवताओं जैसे गुण होते हैं, परन्तु इसके साथ ही प्रत्येक में राक्षसी वृत्तियाँ भी होती हैं। वास्तव में संसार का प्रत्येक मनुष्य दैवी

और दानवी दोनों गुणों का मिश्रण है। मनुष्य की दानवी अर्थात् राक्षसी प्रवृत्तियों को दबाने के लिये यह आवश्यक है कि उसको किसी न किसी प्रकार का भय अवश्य दिखाया जाय। दूसरे, मनुष्यों की बहुत-सी इच्छाएँ परस्पर विरोधी होती हैं। एक मनुष्य एक वस्तु को पसन्द करता है, दूसरा उससे घृणा करता है; एक मनुष्य एक चीज़ को लेना चाहता है, दूसरा भी उसे प्राप्त करना चाहता है। ऐसे भिन्न-भिन्न तथा परस्पर विरोधी इच्छा वाले मनुष्यों में प्रायः संघर्ष हो जाता है और इस प्रकार समाज की शांति और व्यवस्था को भारी ठेस पहुँचती है। राज्य की संस्था इस कार्य को भी पूरा करती है।

राज्य सभ्य जीवन की पहली दशा है (State is the first condition of civilised life)

इस प्रकार हम देखते हैं कि राज्य सभ्य जीवन की प्रथम कुंजी है, वह व्यक्ति तथा समाज की भलाई के लिये अनेक कार्य करता है :—

(१) राज्य अधिकार तथा कर्तव्यों की रक्षा करता है—किसी समाज की शांति और व्यवस्था उसके सदस्यों के अधिकारों की रक्षा पर निर्भर रहती है। यह अधिकार केवल उसी समय सुरक्षित रह सकते हैं जब समाज का प्रत्येक सदस्य अपने कर्तव्यों का पालन करे। राज्य एक निष्पक्ष तथा सार्वभौमिक संस्था होने के नाते जनता के सारे सदस्यों के अधिकारों की रक्षा आसानी से कर सकता है। यदि राज्य की संस्था मनुष्य के अधिकारों की रक्षा करना छोड़ दे तो मनुष्य के जीवन का अधिकतर समय अपनी आत्म-रक्षा करने में ही व्यतीत हो जायगा; और उसे प्रकृति के रहस्यों पर विजय प्राप्त करने या सौन्दर्य तथा आनन्द की चीज़ों को उत्पन्न करने के लिये कोई भी समय न मिल सकेगा। अधिकारों और कर्तव्यों की प्रणाली स्वावलम्बी नहीं है। व्यक्तिगत रूप से बलहीन मनुष्य बलवान मनुष्यों के विरुद्ध अपने अधिकारों की रक्षा नहीं कर सकते। इसलिये प्रत्येक समाज को एक ऐसी शक्ति की आवश्यकता पड़ती है जो सब मनुष्यों

और मनुष्य समुदायों की शक्ति से अधिक शक्ति रखती हो और जो प्रत्येक नागरिक के अधिकारों और कर्तव्यों की निष्पक्ष भाव से रक्षा कर सकती हो। इसी शक्ति को हम राज्य-शक्ति कह सकते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि अधिकारों और कर्तव्यों तथा समाज की सभ्यता की रक्षा के लिये राज्य की संस्था की अत्यन्त आवश्यकता है।

(२) राज्य देश की बाहरी आक्रमणों से रक्षा करता है—किसी भी समाज के सभ्य जीवन का अस्तित्व उसी दशा में क़ायम रह सकता है जब कि उस देश की विदेशी आक्रमणों से रक्षा की जा सके। इतिहास में न जाने कितने ऐसे उदाहरण हमें देखने को मिलते हैं कि जब कोई देश अपनी स्वतंत्रता खो बैठने के कारण अपनी सभ्यता भी खो बैठता है। रोम और हिन्दुस्तान के इतिहास इस कथन के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। एक अव्यवस्थित समाज फौज की शिक्षा के बिना अपनी रक्षा नहीं कर सकता। इसलिए राज्य की संस्था राष्ट्रीय स्वतंत्रता बनाए रखने अथवा देश की विदेशी आक्रमणों से रक्षा करने के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

(३) राज्य देश में शांति और व्यवस्था क़ायम करता है—सभ्यता की उन्नति केवल एक शांतिमय वातावरण में हो सकती है। समाज में यह अवस्था केवल राज्य द्वारा ही प्रदान की जा सकती है। राज्य के अभाव से देश में अराजकता फैल जाती है और किसी भी प्रकार का संयम क़ायम नहीं रहता।

(४) राज्य कमज़ोरों की बलवानों के आक्रमण से रक्षा करता है—राज्य मज़दूरों की पूँजीपतियों से, किसानों की ज़मीदारों से, नौकरों की उसके मालिकों से अर्थात् समाज के बलहीन मनुष्यों की शक्तिशाली मनुष्यों से रक्षा करता है और इस प्रकार उनके व्यक्तित्व के विकास के लिए अवसर प्रदान करता है।

(५ यह राष्ट्र के सांस्कृतिक विकास में वृद्धि करता है—राज्य स्कूल, कालेज, विश्वविद्यालय, अन्वेषण संस्थाएँ इत्यादि स्थापित करके

नागरिकों को शिक्षा प्रदान करता है और इस प्रकार समाज के सांस्कृतिक विकास में सहायता देता है।

(६) **यह देश की आर्थिक उन्नति में सहायता करता है**—राज्य सड़क, रेलवे, टेलीफोन, तार, नहर, औद्योगिक अन्वेषण संस्थाएँ इत्यादि स्थापित करके तथा दूसरे देशों से व्यापार-सम्बन्धी समझौते करके देश की कृषि व्यवसाय और व्यापार की उन्नति में सहायता करता है। यह बैंकों तथा लेन-देन की दूसरी संस्थाओं का भी प्रबन्ध करता है जो देश की आर्थिक उन्नति के लिये बहुत ही आवश्यक है।

(७) **यह मनोरंजन की सामग्री प्रस्तुत करता है**—राज्य सार्वजनिक स्थान, पार्क, पुस्तकालय, वाचनालय, चित्रशाला, पशुशाला (Zoos) सिनेमाओं इत्यादि का प्रबन्ध करके जनता के मनोविनोद तथा शिक्षण के लिए आवश्यक सामग्री प्रस्तुत करता है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि राज्य मनुष्य के अच्छे जीवन के लिये आवश्यक है। यह उसका मित्र, उसके अधिकारों और कर्तव्यों का पोषक, उसकी व्यक्तिगत तथा राष्ट्रीय स्वतंत्रता का रक्षक और उसके सामूहिक कर्तव्यों का प्रवर्तक है।

३. राज्य की आज्ञापालन करना क्यों आवश्यक है?

(Nature of political obligation)

ऊपर दिये गये राज्य की आवश्यकता और महत्व के वर्णन से हमें राजनैतिक कर्तव्यों के स्वभाव का पता चलता है। परन्तु इस विषय में अपने विचार प्रकट करने के पूर्व हमें राजनैतिक कर्तव्यों के आधार के सम्बन्ध में कुछ भ्रममूलक मतों पर विचार कर लेना आवश्यक जान पड़ता है।

(१) **शक्ति सिद्धान्त (Force theory)**—शक्ति सिद्धान्त में विश्वास करने वाले विद्वानों का मत है कि प्रजा डर से राज्य की

आज्ञाओं का पालन करती है। राज्य उन लोगों को दंड देता है जो उसकी आज्ञाओं का पालन नहीं करते। यह दंड किसी भी सीमा तक—कभी-कभी प्राण दंड तक—दिया जा सकता है। इसलिये प्रत्येक मनुष्य जो राज्य की अधिकार सीमा के अन्दर रहता है, उन परिणामों से हमेशा डरा रहता है जो राज्य के नियमों को न मानने से उसे भुगतने पड़ते हैं। दूसरे शब्दों में वह राज्य की आज्ञाओं का इसलिये पालन करता है कि आज्ञापालन न करने के परिणाम, आज्ञा पालन करने के परिणामों की अपेक्षा अधिक भयंकर होते हैं।

यह मत केवल राज्य की पाशविक शक्ति को स्वीकार करता है, उसकी आध्यात्मिक शक्ति को नहीं। इस मत के अनुसार राज्य जनता की संस्था नहीं, वरन् एक श्रेणी की वह व्यवस्था है जो दूसरों पर शासन करती है। वह उन लोगों के लिये कोई उपयोगी काम नहीं करती जिन्हें उसकी आज्ञा का पालन करना पड़ता है। स्वभावतया, इन लोगों का मत है कि राज्य का अस्तित्व उसकी की गई सेवाओं के आधार पर नहीं वरन् उसकी तलवार की शक्ति पर निर्भर रहता है।

मत का औचित्य—इस मत में बहुत कुछ ऐतिहासिक सत्यता विद्यमान है। भूतकाल में कुछ ऐसे राज्य थे और आज भी वे मौजूद हैं जिनके अस्तित्व का आधार शक्ति के सिवाय और कुछ नहीं था। उदाहरण के लिये भारतवर्ष में इस प्रकार का मुग़ल साम्राज्य था; और आज दक्षिण अफ्रीका में इसी प्रकार की एक सरकार है जो हबशियों के साथ केवल शक्ति का ही प्रयोग करती है।

इसके अतिरिक्त इस मत के औचित्य का इस बात से भी पता चलता है कि अंत में प्रत्येक राज्य को अपनी आज्ञा की पूर्ति के लिये शक्ति का ही प्रयोग करना पड़ता है।

आलोचना—परन्तु यह सब होते हुये भी हम कह सकते हैं कि शक्ति सिद्धान्त में केवल आंशिक सत्यता है और इसलिये यह भ्रमोत्पादक

है। यह बात सच है कि राज्य अपनी आज्ञा पालन कराने के लिये शक्ति का प्रयोग करता है। परन्तु अधिकांश मामलों में शक्ति का प्रयोग केवल असाधारण परिस्थितियों में ही किया जाता है। साधारणतया जनता राज्य की सेवाओं के आधार पर उसकी आज्ञाओं का पालन करती है। जनता का यह विश्वास होता है कि राज्य की आज्ञा पालन करने से उसकी सबसे अधिक भलाई हो सकती है। जब एक मनुष्य सड़क के क़ायदों को मानकर सड़क के बाएं ओर चलता है तो वह ऐसा इसलिये नहीं करता कि उसके ऐसा न करने से उस पर मुक़दमा चलाया जायगा या उसे सज़ा मिलेगी वरन् इसलिये कि ऐसा करने में वह अपनी तथा समाज के दूसरे आदमियों की भलाई देखता है। इसी प्रकार एक मनुष्य दूसरे आदमी का खून इस डर से नहीं करता कि ऐसा करने से उसे क़ानूनन प्राण दण्ड की सज़ा मिलेगी वरन् इसलिये कि वह समझता है कि उसकी भलाई दूसरों के साथ सहयोग करने में है, उनके विनाश करने में नहीं।

(२) **केवल शक्ति से राज्य क़ायम नहीं रह सकता**—इसके अतिरिक्त यह मत इस बात को भूल जाता है कि केवल शक्ति के सहारे राज्य कभी क़ायम नहीं रह सकता। शक्ति केवल कुछ समय तक काम दे सकती है; परन्तु ज्यों ही प्रजा को इस बात का बोध होता है कि उसके पास राज्य की अपेक्षा अधिक शक्ति है, त्योंही वह राज्य को उलट देती है। केवल शक्ति के आधार पर आश्रित राज्य एक अशक्त वृक्ष के समान है जो असन्तोष का मामूली-सी आंधी से समूल नष्ट हो सकता है। इस सम्बन्ध में एक बात का और विचार कर लेना आवश्यक है और वह यह कि राज्य जिस शक्ति का प्रयोग करता है वह बिल्कुल शारीरिक या यांत्रिक शक्ति नहीं है। वह सामाजिक शक्ति है। राज्य उसी दशा में अपनी शक्ति का प्रयोग करता है जब कि उसे यह प्रतीत हो कि अधिकांश जनता उसके साथ है। इसलिए राज्य की आज्ञा पालन के सम्बन्ध में शक्ति सिद्धान्त भ्रममूलक है।

समझौता सिद्धान्त (Contract School)—राजनैतिक कर्तव्यों के सम्बन्ध में एक दूसरा मत भी है जिसे इक़रारी मत या समझौते का सिद्धान्त कहते हैं। इस मत के अनुसार हम राज्य की आज्ञा का पालन इसलिए करते हैं कि हम या हमारे पुरखों ने किसी समय व्यक्त या अव्यक्त रूप से राज्य की आज्ञा पालन करने का इक़रार किया था। इस मत की यह धारणा बिलकुल ग़लत है। इक़रारनामे के कारण राज्य की उत्पत्ति नहीं हुई और न हम अपनी स्वतंत्र इच्छा के कारण उसके सदस्य बने हैं। यह सिद्धान्त पूर्णतः अमान्य है। हम इसका विस्तृत विवरण अगले अध्याय में करेंगे।

दैवी सिद्धान्त (Divine Theory)—कुछ मनुष्य राज्य के दैवी सिद्धान्त में विश्वास करते हैं। उनके विचार से लोग राज्य को इसलिए मानते हैं कि राजा पृथ्वी पर ईश्वर का प्रत्यक्ष प्रतिनिधि है। यह सिद्धान्त आज से बहुत पहिले अमान्य ठहराया जा चुका है। इसमें राजनैतिक कर्तव्यों का कोई भी सच्चा आधार नहीं है।

स्वभाव, उपयोगिता, रीति-रिवाज इत्यादि राजनैतिक आज्ञा पालन के आधार हैं—कुछ दूसरे राजनैतिक दार्शनिक स्वभाव, रीति-रिवाज, आलस्य, वैराग्य, तथा उपयोगिता के विचार इत्यादि से राज्य के नियमों के पालन को उचित बतलाते हैं। इन विद्वानों के विचारानुसार कुछ मनुष्य केवल स्वभाव अथवा आदत के कारण राज्य की आज्ञा का पालन करते हैं, कुछ दूसरे मनुष्यों को देखादेखी। ये सब मत भी मिथ्या हैं क्योंकि यह हमें राजनैतिक कर्तव्यों के सच्चे आधार का ज्ञान नहीं कराते।

राजनैतिक कर्तव्य का सच्चा स्वभाव

आदर्शवादी सिद्धान्त (Idealistic Theory)—हमारे विचार से राज्य की आज्ञा पालन का सच्चा आधार, जैसा कि आदर्शवादी

दार्शनिकों ने बतलाया है, मानव व्यक्तित्व के स्वभाव में सन्निहित है। मनुष्य उस समय तक अपनी शक्तियों का विकास नहीं कर सकता जबतक कि वह किसी राजनैतिक व्यवस्थित समाज में नहीं रहता। हम ऊपर बतला आए हैं कि राज्य सभ्यता और नैतिक गुणों का रक्षक है। राज्य के अन्दर रहकर ही मनुष्य अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सकते हैं। राज्य की आज्ञापालन में ही हम अपनी सच्ची भलाई मानते हैं। राज्य को हमसे आज्ञापालन कराने का एक नैतिक अधिकार प्राप्त है। यह अधिकार उसके नैतिक स्वभाव और नैतिक सेवा पर अवलम्बित है। राज्य हमारा शत्रु नहीं वरन् सबसे बड़ा मित्र है। वह हमारी इच्छाओं का प्रतिबिम्ब तथा प्रतिनिधि है। वह मनुष्य के उच्चतम स्वरूप की प्रतिमा है। राज्य हमारा है और हम राज्य के। राज्य की आज्ञापालन करने में हम किसी दूसरे की आज्ञापालन नहीं वरन् स्वयं की ही आज्ञा का पालन करते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि राजनैतिक कर्तव्यों का सच्चा आधार न शक्ति है न समझौता, न स्वभाव है न रीति-रिवाज़, न आलस्य है और न उपयोगिता का विचार। वह केवल हमारी नैतिक भावना है।

परन्तु, यहाँ हम यह बतला देना आवश्यक समझते हैं कि सभी लोग उपरोक्त मत की यथार्थता को नहीं समझते। समाज में ऐसे बहुत से मनुष्य होते हैं जो केवल सज़ा के भय के कारण राज्य की आज्ञा का पालन करते हैं। ऐसे भी मनुष्य होते हैं जो स्वभाव, आलस्य, रीति-रिवाज़ या राज्य की उपयोगिता के भाव से राज्य का आज्ञापालन करते हैं। आदर्शवादी सिद्धान्त तो केवल यह प्रदर्शित करता है कि राज्य की आज्ञापालन का नैतिक आधार क्या है। न आदर्शवादी सिद्धान्त का यह ही अर्थ समझना चाहिये कि संसार का प्रत्येक राज्य नैतिकता के आधार पर अवलम्बित है और राज्य के प्रत्येक सदस्य को अपने राज्य की आज्ञा माननी चाहिये। संसार में ऐसे राज्य भी हैं जो जनता के शोषण और

दमन को ही अपना मुख्य कर्तव्य बना लेते हैं। गुलाम देशों में यह बात और भी अधिक चरितार्थ होती है। ऐसे देशों की जनता का यह धर्म नहीं कि वह अपने राज्य की प्रत्येक उचित और अनुचित आज्ञा का पालन करे। राज्य की प्रत्येक आज्ञा का पालन केवल एक आदर्श राम राज्य में ही धर्म हो सकता है। एक व्यभिचारी, दोषपूर्ण राज्य में नहीं।

राजनैतिक आज्ञापालन की सीमा

उपरोक्त मत के विरुद्ध कुछ राजनैतिक विद्वानों का कहना है कि नागरिकों को अपने राज्य की आज्ञा की अवहेलना नहीं करनी चाहिए, क्योंकि उनके विचारानुसार एक द्वेषपूर्ण, राज्य विहीनता से कहीं अच्छा है। अराजकता की दशा में न केवल मनुष्य को काम करने की ही स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं होती वरन् उसका जीवन भी सुरक्षित नहीं रहता। उसे सदा आकस्मिक मृत्यु का भय बना रहता है। ख़राब से ख़राब शासन भी नागरिकों के जीवनोधिकार की रक्षा करता है। यह दूसरी बात है कि वह मनुष्यों की दूसरे प्रकार से सेवा न करता हो। जीवन की रक्षा अराजकता की दशा से कहीं अधिक अच्छी है। राज्य के विरुद्ध किसी भी प्रकार के विद्रोह से अराजकता फैल जाती है और फिर जनता के सभी अधिकारों का लोप हो जाता है। इसलिये इस मत के मानने वाले दार्शनिकों का कथन है कि नागरिकों को, विद्रोहात्मक परिस्थितियों में रहते हुए भी राज्य की आज्ञा का पालन करना चाहिए।

सही दृष्टिकोण—परन्तु हमारी राय में यह मत भ्रमोत्पादक है। वास्तव में उपरोक्त मत के प्रवर्तक राज्य और शासन के अन्तर को नहीं समझते। विद्रोह हमेशा शासन के विरुद्ध होता है राज्य के विरुद्ध नहीं। शासन के प्रति विद्रोह करने से हम समूचे सामाजिक जीवन को सङ्कट में नहीं डालते। हम सामाजिक जीवन के केवल एक भाग को चुनौती देते हैं जो मानव व्यक्तित्व के प्रति अत्याचार करता है। यदि हम ऐसा न करें और अत्याचार को बराबर सहन करते रहें तो हम उस दशा में मनुष्य

ही नहीं रहेंगे। हमारा अपने और अपने पड़ोसियों के प्रति भी कुछ कर्तव्य है। यदि एक शासन प्रणाली हमारे उच्च विकास के मार्ग में रोड़े अटकाती है तो उसे उलट देना हमारा कर्तव्य हो जाता है।

राज्य की किस प्रकार अवहेलना की जानी चाहिये

परन्तु इसका आशय यह कदापि नहीं कि समाज के प्रत्येक व्यक्ति को राज्य के विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार प्राप्त है। सरकार के प्रति बग़ावत करने से देश में अराजकता फैलने का डर रहता है, इसलिए सरकार के क़ानूनों की अवहेलना केवल कुछ विशेष परिस्थितियों में ही करनी चाहिए।

सर्वप्रथम यह देखना चाहिये कि जिस अधिकार को आज्ञा भङ्ग करने का आधार स्तम्भ बनाया जा रहा है वह समस्त समाज द्वारा स्वीकार किया जाता है अथवा नहीं। एक या दो या समाज के कुछ थोड़े से व्यक्तियों के किसी बात को अधिकार मान लेने से तथा समाज के दूसरे व्यक्तियों के उस अधिकार के प्रति उदासीन रहने से नागरिकों को सरकार के विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार प्राप्त नहीं हो जाता।

दूसरी बात यह है कि आज्ञा भंग उसी दशा में की जानी चाहिए जब शासन को बदलने के लिये क़ानूनी और वैधानिक शासन वर्तमान न हों। यदि ऐसे साधन मौजूद हैं तो नागरिकों को चाहिए कि वह जनमत को अपने साथ करके आने वाले चुनाव में सरकार को बदलने का प्रयत्न करें। शासन के क़ानूनों को न मानना या अधिकारियों के विरुद्ध विद्रोह करना किसी भी प्रबल बुराई को मिटाने के लिए आख़िरी उपाय समझना चाहिए।

योग्यता-प्रश्न

(१) राज्य शब्द का अर्थ समझाइए। उसके आवश्यक गुण क्या हैं?

(२) राष्ट्र, समाज, राज्य और शासन में क्या भिन्नता है? समझाइए। (यू० पी० १९३२, १९३६, १९४०, १९४४)

(३) समाज और राज्य की भिन्नता बतलाइये और संक्षेप में इन दोनों के सम्बन्ध का वर्णन कीजिये। (यू० पी०, १९३०)

(४) नागरिक का अपने धार्मिक समाज तथा राज्य के प्रति सम्बन्ध में जो अंतर है वह समझाने का प्रयत्न कीजिये।

(५) 'राज्य सभ्य जीवन की पहली दशा है,' समझाइये। (यू० पी०, १९३२, १९४७)

(६) क्या शासन के बिना सामाजिक जीवन सम्भव है? शासन के अस्तित्व की क्या आवश्यकता है? (यू० पी०, १९३?)

(७) सामाजिक संस्थाओं के नियम क्या हैं? राज्य के नियम उनसे किस प्रकार भिन्न होते हैं? (यू० पी०, १९३५)

(८) सार्वभौमिक राज्य के आवश्यक तत्त्व क्या हैं? क्या आप निम्नलिखित राज्यों को सार्वभौमिक राज्य समझते हैं? अपने उत्तर को सप्रमाण समझाइये—हिन्दुस्तान, काश्मीर, न्यूज़ीलैन्ड, म्युनिसिपल बोर्ड, अंतर्राष्ट्रीय संघ, स्पेन। (यू० पी०, १९३९)

(९) मनुष्य राज्य की आज्ञा क्यों पालन करते हैं? क्या ऐसी भी कोई परिस्थिति है जिसमें नागरिकों को राज्य की आज्ञा भंग करने का अधिकार रहता है? (यू० पी०, १९३३, १९४३)

(१०) राज्य का अर्थ समझाइये और बताइये कि राज्य और सरकार में क्या अंतर है? (यू० पी०, १९४८)

बारहवाँ अध्याय

राज्य की उत्पत्ति (Origin of the State)

राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में बहुत से सिद्धान्त हैं। इन सब सिद्धांतों में थोड़े बहुत सत्य के तत्त्व हैं, परन्तु केवल एक सिद्धान्त पूर्णतः सत्य है। इसलिये हम पहिले उन सिद्धान्तों पर विच.र करेंगे जो केवल आंशिक रूप में सत्य हैं। इसके पश्चात् हम उस सिद्धान्त का विश्लेषण करेंगे जिसमें हमारे विचार से सबसे अधिक सत्य के तत्व पाये जाते हैं।

जिन सिद्धान्तों में केवल आंशिक सत्यता है वे निम्नलिखित हैं :—

(१) दैवी सिद्धान्त (Divine Origin Theory)

(२) शक्ति सिद्धान्त (Force Theory)

(३) सामाजिक समझौते का सिद्धान्त (Social Contract Theory)

(१) दैवी सिद्धान्त

वह सिद्धान्त जो राज्य की उत्पत्ति को दैवी इच्छा पर निर्धारित करता है, सबसे प्राचीन सिद्धान्त है। इसके अनुसार राज्य की उत्पत्ति ईश्वर की इच्छा के अनुसार हुई। ईश्वर ने कुछ लोगों को राज्य करने के लिए और कुछ को आज्ञापालन करने के लिए पैदा किया। उसने आज्ञापालन के सिद्धान्तों का भी निश्चय किया। राज्य नियमों की अवज्ञा ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध बग़ावत है और इसलिये भारी पाप है। राज्य के नागरिकों को प्रत्येक दशा में राज्य की आज्ञा का पालन करना चाहिये। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य का राजा ईश्वर का प्रतिनिधि है, वह अपने अधिकार ईश्वर

से प्राप्त करता है और इसलिये केवल ईश्वर के ही सन्मुख वह अपने कर्तव्यों के लिये उत्तरदायी है। प्रजा, राजा से उसके कर्तव्यों के औचित्य के सम्बन्ध में प्रश्न नहीं कर सकती। इसके विपरीत राजा ईश्वर का प्रतिनिधि होने के नाते जनता से अपनी हर प्रकार की आज्ञाओं का पालन करा सकता है। राजा ही यह निश्चय कर सकता है कि उसकी प्रजा के लिये क्या अच्छा है और क्या अच्छा नहीं। राजा का अपनी प्रजा पर उसी प्रकार का अधिकार है जैसा कि एक पिता का अपनी सन्तान पर होता है। राजा पवित्र है इसलिये यदि प्रजा उसके शरीर पर आक्रमण करती है तो वह महान् अपराध तथा पाप करती है।

मत की आलोचना—हमारी राय में राज्य का दैवी सिद्धान्त अनुचित धारणाओं पर आधारित है और इसलिये वह भ्रमोत्पादक है। कुछ लोगों का तो ईश्वर के अस्तित्व पर ही विश्वास नहीं और इसलिये वह इस सिद्धान्त को नहीं मानते। इसके अतिरिक्त अन्यान्य लोग निम्नलिखित आधार पर इसकी आलोचना करते हैं—

(१) यह सिद्धान्त मनुष्य के उन आवश्यक कार्यों को भूल जाता है जिनके द्वारा राजनैतिक संस्थाओं का निर्माण और विकास होता है। इतिहास से पता चलता है कि मनुष्य ने शासनों को बनाया और मिटाया है। हम आज देखते हैं कि मनुष्य जानबूझकर नियम बनाता है और उन संस्थाओं का निर्माण करता है जिनमें उसे जीवन व्यतीत करना पड़ता है। इसलिये ऐसा समझना उपयुक्त नहीं कि राज्य दैवी इच्छा से उत्पन्न हुआ है।

(२) इस सिद्धान्त से अपरिवर्तनशीलता का प्रचार होता है। यह सिद्धान्त वर्तमान अवस्था को दैवी इच्छा की स्वीकृति देकर पवित्र बना देता है। इस सिद्धान्त के अनुसार वर्तमान संस्थाओं को बदलने का तात्पर्य यह लगाया जाता है कि मनुष्य ईश्वर की बुद्धि में दोष निकाल रहा है। इस प्रकार यह सिद्धान्त मानव व्यक्तित्व के शक्तिशाली स्वभाव के विपरीत है।

(३) यह सिद्धान्त स्वेच्छाचार तथा अत्याचार का मार्ग खोल देता है। राजाओं को मनमाने ढङ्ग पर शासन करने का अधिकार इसी सिद्धांत के आधार पर दिया जाता है। इस प्रकार यह सिद्धान्त मनुष्य की भलाई की दृष्टि से अत्यन्त भयानक है।

(४) यह सिद्धान्त केवल राजा की व्यवस्था का ही वर्णन करता है परन्तु प्रजातन्त्र शासन की उत्पत्ति को नहीं समझा सकता। इस प्रकार यह राजनैतिक संस्थाओं के आंशिक अध्ययन पर अवलम्बित है।

सिद्धान्त का औचित्य—परन्तु ऊपर की बातों से हमारा यह तात्पर्य कदापि नहीं कि इस सिद्धान्त में सत्य का कोई भी अंश नहीं है या यह सिद्धान्त मानव इतिहास में उपयोगी सिद्ध नहीं हुआ है।

इस सिद्धान्त का यह कथन बिल्कुल उचित जान पड़ता है कि प्रत्येक समाज के कुछ लोगों में शासन करने की और कुछ लोगों में आज्ञापालन करने की स्वाभाविक मनोवृत्ति पाई जाती है। दूसरे शब्दों में इस मनोवृत्ति को ईश्वर प्रदान करता है। इसके अतिरिक्त यह सिद्धान्त राज्य के नैतिक स्वभाव पर ज़ोर देता है। यह कथन भी उचित जान पड़ता है कि राज्य की उत्पत्ति उस नैतिक और न्यायपूर्ण चैतन्यता के कारण हुई जो मानव जीवन पर शासन करती है। यह सिद्धान्त समाज के बाल्यकाल में बहुत उपयोगी प्रमाणित हुआ। इसने शासक के अधिकारों को दैवी इच्छा की स्वीकृति देकर मनुष्यों में आज्ञापालन और सहयोग की आदत डाली। परन्तु वर्तमान् काल में यह सिद्धान्त केवल अनुन्नत समाजों के लिए ही उपयुक्त है जिनमें राजनैतिक चैतन्यता बहुत कम पाई जाती है। सभ्य समाजों के लिए यह सिद्धान्त बिल्कुल व्यर्थ है।

(-) शक्ति सिद्धान्त

इस सिद्धान्त के प्रवर्तकों का कहना है कि राज्य की उत्पत्ति उस समय हुई जब किसी बलवान् पुरुष या पुरुषों के समूह ने निर्बल मनुष्यों के विरुद्ध युद्ध करके उनपर अपना प्रभुत्व जमा लिया। युद्ध के पश्चात् विजेता

शासक बन गए और विजित शासित अथवा प्रजा। आरम्भ में पृथ्वी पर मनुष्यों के बहुत से गिरोह, भिन्न-भिन्न प्रदेश में रहते थे। यह गिरोह खाने पीने की चीजों की तलाश में इधर-उधर घूमते रहते थे। इन गिरोह में जो शक्तिशाली होता था वह निर्बल गिरोहों पर अपना प्रभुत्व जमा लेता था, इस प्रकार राज्य की उत्पत्ति हुई।

युद्ध का कार्य पुराने जमाने में ही नहीं चलता था आज भी यह क्रम बराबर जारी है। एक राज्य दूसरे राज्य पर अपनी सैन्य शक्ति के आधार पर कब्जा करने की सदा बाट जहता रहता है, १६१४ तथा १६३६ के महायुद्ध शक्ति के आधार पर ही हुए। शक्ति के ह्रास से देश अपनी राजसत्ता खो बैठता है। जिस राज्य की शक्ति अधिक है वह दूसरों पर शासन कर सकता है। शक्ति के अभाव मे रोम साम्राज्य खंडित हुआ, नैपोलियन की हार हुई तथा हिटलर का अंत हुआ। शक्ति के कारण ही आज अमेरीका और रूस संसार में सबसे अधिक सम्पन्न राष्ट्र माने जाते हैं। इस प्रकार राज्य शक्ति के आधार पर ही निर्भर रहता है।

मत की आलोचना—दैवी सिद्धांत की भाँति शक्ति सिद्धान्त में आंशिक सत्यता है। यह सच है कि किसी राज्य के अस्तित्व के लिये शक्ति का उपयोग आवश्यक है। जनता के अधिकारों की रक्षा के लिये कभी-कभी राज्य सैन्य तथा पुलिस शक्ति का प्रयोग करता है, परन्तु अधिकतर राज्य केवल अपनी नैतिक तथा सामाजिक शक्ति के आधार पर ही अपनी आज्ञाओं का पालन कराते हैं। राज्य के अधिकार सहयोग और सेवा से पैदा होते हैं, पुलिस और फौज के बल से नहीं। इसके अतिरिक्त केवल शक्ति के सहारे कोई भी राज्य अधिक देर तक क़ायम नहीं रह सकता। शक्ति के अनुचित प्रयोग से जनता में विद्रोह की आग भड़क उठती है। ऐसे देश में सदा गृह-युद्ध की अवस्था बनी रहती है परन्तु हम यह दशा अधिकांश राज्यों में नहीं पाते। वास्तविकता यह है कि राज्य की शक्ति उस भलाई

पर निर्भर रहती है जिसे राज्य समूचे समाज के लिए करता है। इस प्रकार राज्य केवल शक्ति से ही उत्पन्न नहीं होता।

(३) सामाजिक समझौते का सिद्धान्त

इस सिद्धान्त के समर्थकों का कथन है कि मनुष्य स्वभाव से सामाजिक या राजनैतिक प्राणी नहीं है। आदिम अवस्था में वह जंगल में अकेला रहता था, उस समय न राज्य था न समाज। प्रत्येक मनुष्य स्वयं अपना मालिक था और अपनी इच्छाओं के अनुसार कार्य करने के लिए पूर्ण रूप से स्वतंत्र था। कोई मनुष्य किसी दूसरे पर अपनी इच्छा को नहीं लाद सकता था। इस काल में न कोई सरकारी क़ानून था और न कोई सामाजिक बंधन। मनुष्यों की इस आदिम अवस्था को सामाजिक समझौते के प्रवर्तकों ने प्राकृतिक अवस्था (State of Nature) का नाम दिया है। बहुत काल तक सब मनुष्य इसी अवस्था में रहे। यह अवस्था आरम्भ में अच्छी थी या बुरी इसके सम्बन्ध में, इस मत के दार्शनिकों में मतभेद है, परन्तु वह सब इस बात को मानते हैं कि कुछ समय पश्चात् मनुष्य की प्राकृतिक अवस्था असह्य हो गई और फिर सब मनुष्यों ने मिलकर यह निश्चय किया कि प्राकृतिक अवस्था को समाप्त करके उन्हें एक सामाजिक तथा राजनैतिक संगठन बनाना चाहिए। राज्य की उत्पत्ति इस प्रकार हुई। राजनैतिक सङ्गठन बनते समय क्या-क्या शर्तें तय की गईं, इस विषय में भी इस मत के प्रवर्तकों में मतभेद है। कुछ लेखकों के विचार से मनुष्यों ने अपने अधिकारों को पूर्णतया त्याग दिया परन्तु कुछ दूसरे लेखकों के विचार से परित्याग केवल आंशिक रूप में हुआ। इकरारनामें की विस्तृत शर्तें चाहे जो कुछ भी रही हों, परन्तु उसका मुख्य उद्देश्य राज्य की व्यवस्था करना था। फलस्वरूप राज्य का प्रादुर्भाव इस उद्देश्य से हुआ कि वह मानव जीवन को व्यवस्थित करे और उससे प्राकृतिक दशा (State of Nature) के दोष अलग कर दे।

दूसरे शब्दों में यह सिद्धान्त राज्य को मानव समझौते की उपज समझता है, मानव स्वभाव की नहीं। मनुष्य राज्य में इसलिए रहता है कि उसने ऐसा करने के लिए वचन दिया है। वह राज्य में इसलिए नहीं रहता कि उसका स्वभाव उसे वहाँ रहने के लिए विवश करता है। यह सिद्धान्त न केवल राज्य के विकास को समझाता है वरन् उस सम्बन्ध को भी समझाता है जो शासक और शासित के बीच में रहना चाहिए।

ऐतिहासिक दृष्टि से समझौते का सिद्धान्त कोई नई चीज़ नहीं है, अफलातून (Aristotle) से पहिले सूफी लोग इसी सिद्धान्त में विश्वास करते थे, सुकरात (Socrates) भी इस सिद्धान्त को मानता था, मध्य काल में भी इस सिद्धान्त का बोल बाला रहा, परन्तु १७वीं तथा १८ वीं शताब्दी में हाब्स, लाक तथा रूसो ने इस सिद्धान्त को वैज्ञानिक महत्व प्रदान किया।

इस सिद्धान्त की आलोचना करने से पहिले हम यह आवश्यक समझते हैं कि इसके तीन मुख्य प्रवर्तक अर्थात् हाब्स, लाक तथा रूसो के मतों का सन्क्षेप में विवेचन करें :—

हाब्स (Hobbes)— हाब्स ने १७वीं शताब्दी में अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'लेवियाथान' (Leviathan) में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। वह चार्ल्स प्रथम के ज़माने में पैदा हुआ था। उसने पार्लियामेन्ट तथा चार्लस प्रथम का युद्ध और उसके भयंकर परिणाम देखे थे। वह प्रकृति से डरपोक था और लड़ाई झगड़ों से घृणा करता था। फलस्वरूप हाब्स का मत इसी वातावरण से प्रभावित हुआ है।

हाब्स का कहना है कि मनुष्य प्रकृति से जंगली, असभ्य, झगड़ालू तथा स्वार्थी है। प्राकृतिक अवस्था (State of Nature) में इसलिए मनुष्यों में बराबर झगड़े होते रहते थे, उनमें निरन्तर युद्ध रहता था। इस वातावरण में न शांति थी, न सभ्यता, न सम्पत्ति की रक्षा और न ही कला कौशल की उन्नति। प्रत्येक मनुष्य को हर समय अपनी जान

बचाने की ही फिक्र रहती थी। हर मनुष्य दूसरे को अपना शत्रु समझता था। उसका स्वयं का जीवन जंगली था, उसके पास न घर था, न व्यवसाय, न हथियार, न बुद्धि। सभी प्रकार से उसका जीवन दुखी तथा घृणित था। इस काल में 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' के नियम का साम्राज्य था। किसी भी मनुष्य की जान सुरक्षित नहीं थी। इन सब विपत्तियों से तंग आकर और जीवन-रक्षा तथा शान्ति के निमित्त एक दिन सब मनुष्यों ने निश्चय किया कि वह एक व्यक्ति (अथवा सभा) को अपना राजा बनायेंगे और उसके हाथ में अपने सभी अधिकार दे डालेंगे। बस यही हुआ। सब ने मिलकर अपना एक राजा चुना और उसकी हर प्रकार की आज्ञा को मानने का वचन दिया। राजा से किसी प्रकार की प्रतिज्ञा या शर्त नहीं करवाई गई। इस प्रकार राजा सर्व-शक्तिमान् हो गया। प्रजा को उसके विरुद्ध किसी प्रकार का अधिकार नहीं दिया गया। हाब्स, इस प्रकार, समझौते के सिद्धान्त के आधार पर, निरंकुश शासन-प्रणाली का समर्थन करता है।

लौक (Locke)—हाब्स के बाद लौक का जन्म इङ्गलैन्ड में उस समय में हुआ जब वहाँ का शासन स्टुअर्ट वंश से निकल कर विलियम और मेरी के हाथ में चला गया था, राजा के अत्याचार से जनता ऊब चुकी थी और प्रजातंत्र शासन की स्थापना चाहती थी। लौक ने इसी वातावरण से प्रभावित होकर अपने सिद्धान्त का प्रचार किया। प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य शांतिपूर्ण जीवन व्यतीत करता था, उसे खाने-पीने की काफी सामग्री प्राप्त थी, प्रत्येक मनुष्य दूसरे मनुष्य के जीवन, स्वतंत्रता तथा सम्पत्ति के अधिकारों की इज्ज़त करता था। सब मनुष्य बराबर थे, वह एक दूसरे के प्रति सद्भाव रखते थे। 'दूसरों के साथ भी वैसा ही करो जैसा तुम अपने साथ चाहते हो' (Do unto others as you want others to do unto you)—सब मनुष्य प्रकृति

के इस नियम का पालन करते थे। जीवन शान्तिपूर्ण तथा संघर्ष-रहित था।

परन्तु लौक के कथनानुसार, प्रकृति की यह दशा अधिक समय तक न चल सकी। इसके दो कारण थे। प्रथम यह कि यदि दो मनुष्यों में उनके अधिकार तथा कर्तव्यों के विषय में झगड़ा होता था तो उसका यह निश्चय करने वाला कोई नहीं था कि किस मनुष्य का अधिकार उचित है और किसका अनुचित। दूसरे प्राकृतिक समाज में कोई न्यायालय नहीं था जिससे अपराधियों को दण्ड दिया जा सकता।

इन्हीं दो बातों से तंग आकर सब मनुष्यों ने निश्चय किया कि वह एक सामाजिक तथा राजनैतिक संगठन बनायेंगे। परन्तु लौक के कथनानुसार, इस सङ्गठन के बनाते समय जनता ने केवल समाज में शान्ति रखने तथा न्याय करने का काम ही राजा (अथवा सभा) को सौंपा। जनता के बाक़ी अधिकार व्यक्तियों के अपने ही हाथ में रहे। राजा को आदेश दिया गया कि वह कुछ विशेष कार्यों का पूर्ति करे. उसको यह भी बतला दिया गया कि यदि वह अपने कर्तव्यों का उचित रूप से पालन नहीं करेगा तो उसे गद्दी से उतार दिया जायगा। लौक ने इस प्रकार वैधानिक प्रजातंत्र (Constitutional or Limited Monarchy) का प्रथा का प्रतिपादन किया।

रूसो (Rousseau)—रूसो का जन्म फ्रांस में राज्य क्रांति के समय से कुछ पहले हुआ था। उसके काल में फ्रांस की दशा अत्यन्त शोचनीय थी। वहाँ के राजा का जीवन घृणित था, थोड़े से अमीर जनता का शोषण करते थे। प्रजा दमनकारी क़ानूनों से तङ्ग आ चुकी थी, ऐसे समय में सन् १७६२ में रूसो ने सामाजिक इक़रार (Social Contract) नामक एक ग्रंथ लिखा। इस ग्रन्थ के द्वारा उसने दुनिया के प्रजातन्त्रवादी शासन का प्रतिपादन किया।

रूसो का कहना है कि मनुष्य प्राकृतिक दशा (State of Nature) में स्वर्गीय जीवन व्यतीत करता था। वह पक्षी के समान स्वतंत्र था, वह जहाँ चाहता घूम सकता तथा जहाँ चाहता रह सकता था, उसका जीवन स्वथ्य और प्रसन्न था, वह सामाजिक बंधनों से मुक्त था। परन्तु यह आदर्श अवस्था और अधिक समय तक नहीं टिक सकी। शीघ्र ही जनसंख्या बढ़ने के कारण, जीविका के नए साधनों, विशेषकर खेती का आविष्कार हुआ। खेती के आविष्कार से लोगों ने भूमि पर अपना अधिकार जमाना आरम्भ कर दिया। कुछ लोगों ने सबसे अच्छी व अधिक भूमि ले ली। औरों को ख़राब भूमि मिली, या दूसरों से थोड़ी। इस प्रकार अमीर या ग़रीब का भेदभाव उत्पन्न हुआ। अमीरों ने ग़रीबों पर अत्याचार करने आरम्भ कर दिये। लूट, खसोट, हत्या तथा चोरी का बाज़ार गरम हो उठा। प्राकृतिक जीवन की यह अंतिम दशा थी। इस अवस्था में मनुष्यों में घृणा, क्रोध, लोभ, मोह तथा अपने पराए के ज्ञान का संचार हुआ। इस प्रकार यह जीवन असह्य हो उठा।

रूसो लिखता है कि मनुष्य प्राकृतिक अवस्था में सरल, स्वस्थ, प्रेमपूर्ण तथा चिंतारहित जीवन व्यतीत करता था। उसे हम और तुम का ज्ञान नहीं था। परन्तु आज मनुष्य समाज में रह कर अपनी स्वतंत्रता खो बैठा है। वह अपने आपको, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सामाजिक शृङ्खलाओं में जकड़ा हुआ देखता है। रूसो ने प्राकृतिक जीवन की अंतिम अवस्था की बुराइयों को दूर करने के लिए सामाजिक तथा राजनैतिक जीवन का सङ्गठन तो किया, परन्तु इस सङ्गठन को चलाने के लिये कोई राजा नहीं बनाया, उसने अलग-अलग आदमियों की वैयक्तिक शक्ति को जनता की सामूहिक शक्ति का रूप दे दिया; और फिर इसी जनमत की शक्ति को सब अधिकार सौंप दिए। रूसो ने इस प्रकार अपने सिद्धांत के द्वारा प्रजातन्त्रवादी शासन का प्रतिपादन किया; और कहा कि किसी

देश में 'जनता का शासन' राजा द्वारा नहीं वरन् जनमत (General Will) द्वारा होना चाहिए। राजा के क़ानून का अधिकार भी रूसो ने सारी जनता को ही दिया, किसी राजा या जनता के प्रतिनिधि संघ को नहीं।

आलोचना—सामाजिक समझौते के सिद्धान्त की बहुत से राजनीतिज्ञों ने आलोचना की है। यह आलोचनाएँ, ऐतिहासिक, दार्शनिक तथा तार्किक दृष्टिकोण से की गई हैं। नीचे हम इनका सारांश देते हैं—

(१) **यह सिद्धान्त ऐतिहासिक नहीं है**—इतिहास ऐसा एक भी उदाहरण नहीं बतलाता जिस समय समझौते के द्वारा जनता ने इस प्रकार के राज्य की स्थापना की हो। मनुष्य स्वभाव से ही एक राजनैतिक प्राणी है। वह समझौते के कारण किसी राज्य का सदस्य नहीं बनता।

(२) **यह तर्क के विरुद्ध है**—यह सिद्धान्त इस बात का उत्तर नहीं देता कि जंगल में रहने वाले असभ्य लोगों में समझौता करने की उच्च सामाजिक भावना किस प्रकार जागृत हो सकती थी और यदि थोड़ी देर के लिए यह मान भी लिया जाय कि ऐसा इक़रार किया गया, तो ऐसे जंगली लोगों से समझौते की शर्तों पर अमल करने की किस प्रकार आशा की जा सकती थी।

(३ **यह बुद्धि के विरुद्ध है**—राज्य समझौते पर स्थापित नहीं रह सकता, कारण इसका तात्पर्य यह होता है कि राज्य की सदस्यता मनुष्य की अपनी इच्छा पर निर्भर है; और यदि वह चाहे, तो राज्य की सदस्यता छोड़ भी सकता है। यह बात एकदम असम्भव है।

(४) **यह क़ानून के विरुद्ध है**—समझौते का ऐसे समय में किया जाना, जब उसे अमल में लाने के लिए कोई राजनैतिक व्यवस्था नहीं थी, क़ानून नहीं है। ऐसे समझौते को कोई क़ानूनी अदालत नहीं मान सकती।

इतना सब कुछ होने पर भी यह कहे बिना नहीं रहा जाता कि सम-

भौते का सिद्धान्त उस समय बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ जब इसका प्रचार किया गया। यह राजाओं के दैवी अधिकार सिद्धान्त को नष्ट करने में सफल हुआ और इसने मनुष्यों को राज्य व्यवस्थित करने की शक्ति प्रदान की। सफल प्रजातंत्रवादी शासन के विकास में यह सिद्धान्त बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ।

ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धान्त (Evolutionary theory of State)

वास्तव में राज्य की उत्पत्ति का वैज्ञानिक सिद्धान्त ऐतिहासिक सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के मतानुसार राज्य की उत्पत्ति किसी एक विशेष समय में नहीं हुई। यह धीरे-धीरे समय की प्रगति के साथ हुई है। जिस प्रकार एक बड़का वृक्ष एक दिन या एक वर्ष में बढ़कर तैयार नहीं होता, ठीक उसी प्रकार राज्य की उत्पत्ति एक दिन की चीज़ नहीं है। सदियों में इसका विकास हुआ है। इस सिद्धान्त के अनुसार समाज किसी भी अवस्था में राज्य विहीन नहीं थी, उसमें किसी न किसी प्रकार का नियंत्रण अवश्य मौजूद था। यही नियंत्रण समाज का संगठन चलाता था। आरम्भ में राजनैतिक व्यवस्था अत्यन्त दोषपूर्ण थी, परन्तु धीरे धीरे उसमें सुधार होता चला गया। आज भी राजनैतिक संगठन पूर्ण नहीं है, अभी भी उसमें दोष हैं और इसी कारण राजनैतिक व्यवस्था का विकास निरतँर जारी है।

मनुष्य स्वभाव से एक सामाजिक तथा राजनैतिक प्राणी है। जब से संसार में मनुष्य रूपी जीव ने जन्म लिया है तभी से समाज तथा राजनैतिक संगठन का भी जन्म हुआ है। आरंभ में यह सामाजिक संगठन अत्यन्त अस्तव्यस्त था। मनुष्य जंगली अवस्था में रहते थे। जानवरों को मारकर उनके मांस से वह अपनी क्षुधा शांत करते थे। सारा समाज कुछ गिरोहों में बंटा हुआ था। गिरोह का एक नेता होता था जिसके नियंत्रण में सारा गिरोह काम करता था।

आखेट अवस्था को त्याग कर मनुष्य पशु पालन की अवस्था में आया और फिर कृषि अवस्था में। कृषि के युग में सामाजिक व्यवस्था का स्वरूप कुछ सुधर गया। गिरोह के लोग इधर-उधर घूमने के बजाय गाँव में बस कर खेती करने लगे। गाँव का एक मुखिया होने लगा जो सब सार्वजनिक कार्यों की देख-भाल करने लगा। धीरे-धीरे गाँवों में अनेक प्रकार के दूसरे व्यवसाय जारी हो गये और छोटे छोटे कारखानों की नींव पड़ी। इसके पश्चात् भाप तथा बिजली के आविष्कार से वर्तमान् कारखानों के युग की नींव पड़ी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि समाज का एक अपूर्ण तथा अपरिपक्व संगठन धीरे-धीरे एक सुसंगठित तथा जटिल रूप में परिवर्तित हो गया।

राज्य निर्माण के अंग (Factors in State Building)

राज्य के विकास में किसी एक या दो तत्वों ने भाग नहीं लिया। इसकी उत्पत्ति में अनेक कारणों ने भाग लिया है। इन तत्वों में हम निम्न तत्त्वों का विशेष रूप से वर्णन कर सकते हैं—

(१) **रक्त सम्बन्ध**—इस कारण से सबसे पूर्व युग में मानव प्राणियों के बीच एकता उत्पन्न हुई। इसी कारण से सबसे प्राचीन सामाजिक व्यवस्था अर्थात् परिवार की उत्पत्ति हुई। पारिवारिक जीवन के विकास से वंश, वर्ग और जातियाँ बनीं। इन सब के बनने से आपस में मेल और घनिष्ठता की भावना मनुष्यों के हृदय में जागृत हुई।

(२) **धर्म**—रक्त के द्वारा जो मेल के बन्धन उत्पन्न हुए उन्हें धर्म ने दृढ़ बनाया। इसका प्रभाव विशेषकर प्राचीन समाजों में बहुत अधिक हुआ। आदिम धर्म का आधार स्तम्भ, पूर्वजों और प्रकृति की आराधना थी। लोग प्रकृति की उन शक्तियों की आराधना करते थे जिन्हें वे समझ नहीं सकते थे, और जिनके कोप से रक्षा प्राप्त करने का उनके पास कोई दूसरा साधन नहीं था। ऐसी प्राकृतिक शक्तियों में बादल की गरज, विद्युत की चमक, वर्षा, तूफान इत्यादि थे। आदिम मनुष्य के प्राण तथा सम्पत्ति

की रक्षा तभी सम्भव हो सकती थी जब मनुष्य इन प्रकृति की विपत्तियों से अपनी रक्षा कर सकता। इसीलिए वह प्रकृति के देवताओं की आराधना करने लगा। जाति के सभी लोग इन देवताओं की आराधना तथा समान धर्म का पालन करते थे। इस प्रकार धर्म ने राज्य के विकास में, और आपस में युद्ध करने वाली जातियों में मेल भावना बढ़ाने में, बहुत प्रबल काम किया।

(३) **शान्ति और सुरक्षा की आवश्यकता**—कृषक अवस्था में, स्थायी सामाजिक जीवन की उत्पत्ति से, नियम और शासन की आवश्यकता अनुभव हुई। रक्षा और आक्रमण की आवश्यकता से सामाजिक मेल और अधिक दृढ़ हुआ और इस कारण सैनिक सरदारों के हाथ में अधिकार सौंप दिये गये। सैनिक सरदारों के बीच बहुत से युद्ध हुए। उनका परिणाम यह हुआ कि निर्बल और छोटे समुदाय अधिक शक्तिशाली और बड़े समुदायों के आधीन हो गए। इस प्रकार अधिकांश शक्तिशाली जातियों का अधिकार क्षेत्र बहुत अधिक बढ़ गया। राज्य क्षेत्र के अधिक विस्तार के कारण प्राचीन जातीय संस्थाएँ, नई परिस्थिति की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अपर्याप्त सिद्ध हुईं। इस कारण से इनके स्थान में अधिक विशुद्ध राजनैतिक प्रणालियाँ स्थापित की गईं।

(४) **आर्थिक आवश्यकताएँ** - समाज में धन की वृद्धि के कारण ऐसे नियमों के बनाने की आवश्यकता हुई जिससे सम्पत्ति के नियन्त्रण, परिवर्तन और झगड़ों के फैसले किए जा सकें। आदिम समाजों के आर्थिक लेन-देन रीत-रिवाज़ और प्रथाओं के अनुसार निर्णय किये जाते थे। परन्तु आर्थिक जीवन की उन्नति के साथ-साथ अधिक निश्चित और अधिकारपूर्ण नियमों के बनाने की आवश्यकता पड़ी।

(५ **राजनैतिक जागृत**—धीरे-धीरे राज्य की उन्नति की अवस्था में धर्म और राजनीति पृथक्-पृथक् हो गये। राज्य का धर्म से विच्छेद हो गया। जैसे-जैसे अधिकाधिक लोगों के मस्तिष्क में शासन की व्यवस्था मे

सम्मिलित होने की भावना बढ़ी, उसी प्रकार राज्य का स्वरूप राज्यतंत्र (Monarchy) से कुलीनतंत्र (Aristocracy) और कुलीनतंत्र से प्रजातंत्र (Democracy) में परिवर्तित हो गया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि राज्य के विकास तथा उत्पत्ति में अनेक तत्त्वों ने भाग लिया है। परन्तु इस विकास के युग में भिन्न-भिन्न कालों में सामाजिक व्यवस्था का क्या स्वरूप था, इसके सम्बन्ध में विकासवादी लेखकों में मतभेद हैं। इसलिए इन लेखकों के दो भिन्न-भिन्न मतों का वर्णन कर देना हम यहाँ आवश्यक समझते हैं।

(१) पितृ-प्रधान मत (Patriarchal Theory)—इस सिद्धांत की यह धारणा है कि राज्य परिवार का बड़ा स्वरूप है। बहुत से परिवार मिल कर एक वंश बनाते हैं, बहुत से वंशों से एक जाति बनती है और बहुत सी जातियों से मिलकर एक राज्य बनता है। समाज के सबसे पहिले संगठन का स्वरूप—परिवार था। परिवार का मुखिया पिता होता था जिसे अपने सदस्यों पर हर प्रकार का नियन्त्रण रखने का पूर्ण अधिकार था। वंशों या जाति का मुखिया या तो किसी प्रमुख परिवार का सबसे अधिक आयु वाला मनुष्य होता था या बड़े बूढ़ों की एक सभा होती थी। इस सिद्धान्त के प्रवर्तक सर हेनरी मेन थे।

(२) मातृ-प्रधान मत (Matriarchal Theory)—इस सिद्धांत के जोड़ का एक दूसरा सिद्धान्त है जिसे मातृ-प्रधान सिद्धान्त कहते हैं। इस सिद्धान्त के प्रधान प्रवर्तक मेकलेनन, मौर्गन इत्यादि हैं। उन लोगों का विश्वास है कि प्रारम्भ में परिवार का मुखिया पिता नहीं माता थी। आदिम जंगली अवस्था में पति और पत्नी के बीच का सम्बन्ध अज्ञात था। इस अवस्था में विवाह जैसी कोई चीज़ नहीं थी। एक स्त्री एक पुरुष के साथ, या एक पुरुष एक स्त्री के साथ बँधकर नहीं रहता था। सन्तान और परिवार की सभी सम्पत्ति माता की समझी जाती थी और वह सामाजिक

समूह की शासिका मानी जाती थी। परिवार के इस स्वरूप के चिह्न, संसार के कुछ भागों में जैसे तिब्बत या भारत की ट्रावनकोर रियासत में, अभी भी पाये जाते हैं।

आदिम काल में समाज जातियों में नहीं वरन् वंशों में विभाजित था। वंश का समूह उन मनुष्यों का समूह था जो किसी स्वाभाविक वस्तु जैसे कोई पशु या वृक्ष के संकेत से पहचाने जाते थे। इस समूह के अन्दर लोगों के आपस में विवाह नहीं होते थे। एक वंश के लोगों को दूसरे वंश की स्त्रियों के साथ विवाह करना पड़ता था। समाज की इस अवस्था में सम्पत्ति की अधिकारिणी स्त्री होती थी; और उत्तराधिकार का निर्णय स्त्रियों के पक्ष में ही किया जाता था।

आलोचना—उपरोक्त दोनों मतों में आंशिक सत्यता है। यह सच है कि आरम्भ में समाज का संगठन माता या पिता से हुआ। परन्तु ऐसा कहना मिथ्या है कि आरम्भ में सब सामाजिक समूह मातृक या पैतृक थे। प्रोफेसर लीकाक (Leacock) का कथन है कि कहीं-कहीं मातृक और कहीं-कहीं पैतृक संगठन समाज के प्रारंभिक काल में पाए जाते थे।

योग्यता-प्रश्न

(१) राज्य के विकास के सम्बन्ध में विभिन्न सिद्धान्त कौन-कौन से हैं? आपके विचार से कौन सा सिद्धान्त सही है और क्यों? (यू० पी०, १९३५)

(२) राज्य के विकास के सम्बन्ध में सबसे आवश्यक सिद्धान्त कौन से हैं? (यू० पी०, १९४०)

(३) राज्य के विकास और महत्व पर प्रकाश डालिये। (यू० पी०, १९३९)

(४) हाब्स, लाक और रूसो के मतानुसार सामाजिक समझौते का सिद्धान्त समझाइये। यह राज्य के विकास के सम्बन्ध में असन्तोषजनक सिद्धान्त क्यों माना जाता है?

(५) राज्य के विकास के सम्बन्ध में ऐतिहासिक विकासवादी सिद्धान्त पर अपने विचार प्रकट कीजिये और उन कारणों को समझाइए जिन्होंने राज्य के निर्माण में प्रमुख भाग लिया है।

(६) राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अधिक आवश्यक सिद्धान्तों का संक्षेप में वर्णन कीजिये। (यू० पी०, १९३७)

(७) राज्य के निर्माण में किन कारणों ने आवश्यक भाग लिया है ? संक्षेप में समझाइए।

(८) पैतृक और मातृक सिद्धान्तों में आप कितनी सत्यता पाते हैं ?

(९) राज्य के विकास के सम्बन्ध में सामाजिक समझौते का सिद्धान्त समझाइए और उसकी सूक्ष्म आलोचना भी कीजिए। (यू० पी०, १९४२, १९४७)

(१०) 'वर्तमान राज्य धीरे-धीरे सामाजिक विकास का फल है' इस मत को समझाइए। (यू० पी०, १९४५)

तेरहवाँ अध्याय

राजसत्ता अथवा सार्वभौमिकता (Sovereignty)

हम पिछले अध्याय में स्पष्ट कह चुके हैं कि सार्वभौमिकता राज्य का सबसे आवश्यक गुण है। वास्तव में यही गुण राज्य को अन्य संस्थाओं से पृथक् करता है। राज्य वह संगठन है जिसके आदेशों का प्रत्येक मनुष्य तथा संस्था पालन करने के लिए बाध्य हो तथा जो स्वयं किसी के आदेशों को न माने। राज्य का यह गुण सार्वभौमिक गुण कहलाता है। यदि किसी राज्य में यह गुण नहीं है तो वह राज्य एक स्वतंत्र अथवा आज़ाद देश नहीं कहा जा सकता।

सार्वभौमिकता के दो लक्षण होते हैं : (१) आंतरिक (२) बाह्य। आंतरिक लक्षण का अर्थ है कि राज्य का अन्तर्गत रहने वाले प्रत्येक मनुष्य तथा मनुष्यों के समुदाय राज्य की सार्वभौमिकता या राजसत्ता को स्वीकार करें तथा उसके आदेशों का स्वाभाविक रूप से पालन करें। राज्य के अन्दर रहने वाले किसी भी मनुष्य को, चाहे वह कितना ही बड़ा क्यों न हो, यह कहने का अधिकार नहीं कि वह राज्य की आज्ञा मानने के लिये बाध्य नहीं। ठीक इसी प्रकार राज्य के अन्दर काम करने वाली कोई संस्था भी राज्य की आज्ञा का पालन करने में इन्कार नहीं कर सकती। धार्मिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक, आर्थिक व प्रत्येक प्रकार की संस्थायें राज्य के क़ानूनों को मानने के लिये बाध्य हैं। वह यह नहीं कह सकतीं कि हमारा कार्य क्षेत्र आध्यात्मिक है, या हमें कार्य करने का अधिकार ईश्वर की ओर से प्राप्त हुआ है। राज्य के अन्तर्गत काम करने वाली प्रत्येक संस्था राज्य के आधीन रह कर ही काम कर सकती हैं, उससे अलग रहकर नहीं।

सार्वभौमिकता के बाह्य लक्षण का अर्थ यह होता है कि राज्य के बाहर भी कोई ऐसी संस्था अथवा शक्ति नहीं होनी चाहिये, जिसकी आज्ञा का पालन करने के लिये उसे बाध्य किया जा सके। यदि किसी देश के प्रबन्ध में कोई बाहरी सरकार हस्तक्षेप करती है तो वह देश स्वतंत्र नहीं कहा जा सकता। देश की विदेशी नीति क्या हो, वह किन राष्ट्रों के साथ मिलकर काम करें, युद्ध में किस का साथ दे, व्यापारिक समझौता किस देश से करे—इत्यादि, किसी स्वतंत्र राजसत्ता प्राप्त देश के अपने प्रश्न हैं। किसी दूसरे देश को इन मामलों में हस्तक्षेप करने का अधिकार प्राप्त नहीं।

सार्वभौमिकता इस प्रकार राज्य की सबसे बड़ी शक्ति का नाम है। यह वह शक्ति है जिसे न कोई दबा सकता है, न बाहर निकाल सकता है और न अलग ही कर सकता है। यह राज्य का प्राण है। जिस प्रकार प्राण के शरीर से अलग होते ही मनुष्य शरीर एक मिट्टी का ढेर हो जाता है, ठीक उसी प्रकार सार्वभौमिकता अथवा राजसत्ता के अलग होने से राज्य की स्वतंत्रता का अंत हो जाता है।

सार्वभौमिकता के गुण (Attributes of Sovereignty)

डाक्टर गार्नर (Dr. Garner) सार्वभौमिकता के अन्तर्गत निम्नलिखित साधारण गुणों का वर्णन करता है :—

(१) स्थिरता (Permanence)—जैसे ऊपर कहा जा चुका है सार्वभौमिकता और राज्य का एक दूसरे से अटूट सम्बन्ध है। यदि सार्वभौमिकता का अंत होता है तो राज्य का भी लोप हो जाता है। जब कभी राज्य अपनी स्वाधीनता खो देता है और दूसरे राज्य के आधीन हो जाता है तो समझा जाता है कि उसने अपनी सार्वभौमिकता खो दी और इस प्रकार वह राज्य की दृष्टि से मिट गया।

(२) सर्वत्र व्यापकता (All Comprehensiveness)—राज्य की सीमा के अन्तर्गत रहनेवाली सभी संस्थायें संगठन तथा मनुष्य राज्य की सत्ता को स्वीकार करती हैं। कोई भी मनुष्य या मनुष्यों का

समुदाय राज्य के अधिकार क्षेत्र के बाहर रहने का दावा नहीं कर सकता। सब लोगों को विवशतापूर्वक राज्य के क़ानूनों का पालन करना पड़ता है।

(३) **अनियन्त्रितता (Absolutism)**—राज्य की सार्वभौमिकता क़ानूनन असीमित है। राज्य के अन्दर या बाहर उससे बड़ी या उस पर शासन करने वाली कोई शक्ति नहीं होती। मेरियम का कहना है कि "सार्वभौमिकता को सीमित करने के लिए कोई भी राजनैतिक शक्ति समर्थ नहीं है, अन्यथा सीमित करने वाली शक्ति ही सार्वभौमिक बन जायगी।"

(४) **अदेयता (Inalienability)**—राज्य अपनी सार्वभौमिकता दूसरे को नहीं दे सकता। सार्वभौमिकता राज्य का आवश्यक गुण है। यह उसका जीवन प्राण है। जिस प्रकार मनुष्य अपनी आत्मा को दूसरे मनुष्य को नहीं दे सकता ठीक उसी प्रकार राज्य अपनी सार्वभौमिकता को भी नहीं बदल सकता।

(५) **अविभाज्यता (Indivisibility)**- एक राज्य में दो सार्वभौमिक शक्तियाँ नहीं रह सकतीं। नागरिक केवल एक स्वामी की आज्ञापालन कर सकते हैं दो की नहीं। जिस प्रकार एक म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकतीं या एक बन में दो शेर, ठीक उसी प्रकार एक ही राज्य में दो राजा (सार्वभौमिक शक्तियाँ) नहीं रह सकते। इस प्रकार सार्वभौमिकता एक अविभाज्य गुण है।

सार्वभौमिकता की परिभाषायें—सार्वभौमिकता के उपरोक्त गुणों के आधार पर राजनीति के भिन्न भिन्न लेखकों ने इस धारणा की अलग-अलग प्रकार से व्याख्या की है :—

प्रो० बरगैस (Burgess)* का कथन है कि "सार्वभौमिकता

---

* "The original, absolute and unlimited power over individual subjects and associations of subjects." (Burgess)

नागरिकों तथा नागरिकों के संगठनों पर एक मौलिक, अनियन्त्रित तथा असीमित अधिकार है।"

जैलिंक (Jellink)† का कथन है कि "सार्वभौमिकता राज्य का वह गुण है जिसके कारण वह अपनी इच्छा के अतिरिक्त किसी दूसरे की इच्छा या किसी बाहरी शक्ति के आदेशों से बाध्य नहीं है।"

बोदाँ (Bodin)‡ लिखता है "सार्वभौमिकता सम्पूर्ण प्रजा पर सबसे बड़ी शक्ति है जिसे बड़े से बड़ा क़ानून नहीं दबा सकता।"

जान आस्टिन (John Austin)§ का कथन है "यदि किसी राजनैतिक संगठन के अन्दर कोई ऐसा व्यक्ति हो जिसे देखा जा सके, जो किसी के मातहत नहीं हो और सारा संगठित समाज जिसकी आज्ञाओं का स्वाभाविक रूप से पालन करता हो तो वह व्यक्ति राजा और सङ्गठित समाज एक स्वतंत्र राष्ट्र कहलाता है।"

उपरोक्त परिभाषाओं को देखने मे पता चलता है कि सार्वभौमिकता के मुख्य अंग निम्नलिखित हैं :—

१) सार्वभौमिकता आंतरिक और बाह्य दोनों क्षेत्रों में होनी चाहिए।

---

† "That characteristic of the state by virtue of which it cannot be bound except by its own will, or limited by any power other than itself."—(Jellink)

‡ "Sovereignty is the supreme power over citizens and subjects unrestrained by the laws."—(Bobin)

§ If a determinate human superior not in the habit of obedience to a like superior receives habitual obedience from the bulk of a given society, that determinate superior is sovereign in that society, and that society is a society political and independent."—(Austin)

(२) सार्वभौमिकता कहा है अर्थात् सार्वभौमिक अधिकार किस व्यक्ति या व्यक्तियों के हाथ में है यह आसानी से देखा जा सके।

(३) प्रजा का बहुमत सार्वभौमिक सत्ता की आज्ञाओं का आदतन पालन करे।

सार्वभौमिकता की आलोचना—प्रश्न उठता है कि क्या किसी देश में इस प्रकार की राजसत्ता हो सकती है जो किसी की आज्ञा का पालन न करे जो किसी के मातहत न हो, जिसकी शक्ति असीमित हो और जो किसी प्रकार के क़ानूनों को मानने के लिए बाध्य न हो। यदि हाँ तो हमें देखना है कि भिन्न भिन्न स्वतन्त्र राष्ट्रों में यह शक्ति किस मनुष्य या मनुष्यों के समुदाय में विद्यमान रहती है।

राजनीति के प्रसिद्ध लेखक लास्की (Laski) डेगविट (Deguit) तथा क्रेब (Krabbe) ने सार्वभौमिकता के मत की कड़ी आलोचना की है। उनके कथानुसार किसी राज्य के अन्दर कोई ऐसा महान् मानव, जिसकी शक्ति अविभाज्य, असीमित तथा सम्पूर्ण हो, नहीं पाया जा सकता। प्रत्येक राज्य की शक्ति अनेक कारणों से सीमित होती है। प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ विद्वान् ब्राइस (Bryce) का कहना है "संसार में कभी कोई ऐसा मनुष्य या मनुष्यों का समूह नहीं जन्मा जिसकी शक्ति अनियन्त्रित तथा असीमित थी।' जरमन लेखक बलंट शिली (Blunt-Schli) भी यही कहता है कि "राज्य सर्वशक्तिमान संस्था नहीं है क्योंकि बाहर के अन्य राज्यों के अधिकार द्वारा, तथा अंदर से अपने स्वभाव और व्यक्तियों के अधिकार द्वारा उसकी शक्ति सीमित रहती है।" इसके अतिरिक्त निम्नलिखित कारण भी राज्य की शक्ति को सीमित करते हैं।

(१) **जन-मत**—राज्य का कोई भी क़ानून अधिक समय तक जन-मत की अवहेलना नहीं कर सकता। यदि क़ानून जनता का दमन करता

है अथवा उसके मौलिक अधिकारों को छीनने का प्रयत्न करता है, तो ऐसा राज्य बहुत समय तक क़ायम नहीं रह सकता।

(२) **राज्य के अन्य सङ्गठन**—राज्य की शक्ति समाज के अनेक संगठनों, जैसे गिरजाघर व्यापार सङ्घ, राजनैतिक दल, धार्मिक सङ्घ द्वारा भी सीमित हो जाती है। राज्य के समान यह सङ्गठन भी अपने क्षेत्र में स्वतंत्र रूप से कार्य करते हैं और राज्य इच्छा रहने पर भी इनके कार्य में अधिक हस्तक्षेप करने की हिम्मत नहीं कर सकता।

(३) **अन्तर्राष्ट्रीय मत और नैतिकता**—किसी राज्य के क़ानूनों पर दूसरे राज्यों के अधिकार और अन्तर्राष्ट्रीय क़ानूनों का भी बहुत प्रभाव पड़ता है। आजकल कोई भी राज्य, दमनकारी कृत्यों द्वारा शेष संसार की सहानुभूति खोना पसन्द नहीं करता। जब कभी इस प्रकार दमन चक्र का प्रयोग किया भी जाता है तो राज्य निरन्तर प्रचार कार्य द्वारा, अन्तर्राष्ट्रीय मत को अपने हक़ में करने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार कोई राज्य नैतिकता के सिद्धांतों के विरुद्ध क़ानून नहीं बना सकता।

(४) अन्त में राज्य, मनुष्यों के नैतिक और स्वाभाविक अधिकार, समाज के प्रचलित रीति-रिवाज़ जन-श्रुतियों और संगठन के नियमों की अवहेलना नहीं कर सकता। ऐसा करने से समाज में विद्रोह का डर बना रहता है और जनता राज्य के विरुद्ध बग़ावत करने लग जाती है।

सार्वभौमिकता की स्थिति—उपरोक्त कारणों के अतिरिक्त सार्वभौमिकता के सिद्धान्त की इसलिए भी आलोचना की जाती है कि इसके सम्बन्ध में यह कहना अत्यन्त कठिन है कि किसी देश में सार्वभौमिक सत्ता कहाँ निवास करती है। इङ्गलैण्ड को ही ले लीजिए, वहाँ एक सम्राट् का राज है जिसके नाम पर प्रत्येक क़ानून की घोषणा होती है, जो वहाँ की फ़ौज समुद्री बेड़े तथा हवाई सेना का सर्वोच्च अधिकारी है, और जो सरकारी कर्मचारियों की नियुक्ति करता है। परन्तु वास्तव में इङ्गलैंड के सम्राट् को सार्वभौमिक सत्ता या अधिकारी ठहराना भारी भूल है,

क्योंकि वह स्वयं अपनी स्वतंत्र इच्छा से कुछ भी नहीं कर सकता। वह तो इङ्गलैंड के प्रधान मंत्री तथा वहाँ की पार्लियामेंट के हाथों में एक क़ैदी के समान है। वह अपने मत्रियों की आज्ञा के बिना न कहीं जा सकता है, न बोल सकता है, न शादी कर सकता है और न किसी से मेल-मुलाकात ही कर सकता है। इङ्गलैण्ड की सरकार की वास्तविक शक्ति तो वहाँ की पार्लियामेंट के हाथों में निवास करती है। पार्लियामेन्ट भी जनता की इच्छा के विरुद्ध कोई काम नहीं कर सकती। पार्लियामेन्ट के सदस्य जनता के चुने हुए प्रतिनिधि होते हैं। वह उसकी मरजी के विपरीत काम नहीं कर सकते। जनता की जो इच्छा होती है, पार्लियामेन्ट के सदस्य उसी पर विचार करते हैं। तो फिर क्या यह कहना उचित होता कि इङ्गलैण्ड में सर्वभौमिक सत्ता जनता के हाथों में है? विचार करने पर मालूम पड़ता है कि यह बात भी गलत है; कारण, सारी जनता राज्य के कार्यों में भाग नहीं लेती। राय देने का अधिकार केवल बालिगों को ही होता है और फिर मतदाता अपनी स्वतंत्र राय से बहुत कम काम करते हैं, उन पर अधिकतर प्रभाव राजनैतिक पार्टियों, अखबारों तथा प्रचार की दूसरी संस्थाओं का पड़ता है। प्रजातन्त्र राज्यों में देश की सरकार की वास्तविक कुंजी राजनैतिक दलों के हाथ में रहती है। तो फिर क्या हम यह कह सकते हैं कि राजनैतिक पार्टी ही सार्वभौमिक सत्ता की अधिकारी है? वास्तव में सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर मालूम पड़ता है कि यह बात भी एकदम गलत है। राजनैतिक पार्टियों का संचालन कुछ थोड़े से मुट्ठीभर लोगों के हाथ में रहता है, पार्टी के दूसरे सदस्य इन नेताओं की इच्छा के विरुद्ध जाने की हिम्मत नहीं कर सकते; ऐसा करने पर उन्हें पार्टी से निकाल दिये जाने का बराबर डर बना रहता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रजातन्त्र राज्यों में यह निश्चय करना कि राजसत्ता किस व्यक्ति या व्यक्तियों के हाथ में रहती है, अत्यन्त कठिन है।

इङ्गलैन्ड से भी अधिक दुश्कर, अमरीका में राज-सत्ता का निर्णय

करना है। वहाँ के प्रधान (President) के अधिकार सीमित हैं, वह विधान के विरुद्ध कार्य नहीं कर सकता, उसे कानून बनाने का भी कोई अधिकार प्राप्त नहीं। अमरीका की कांग्रेस (Congress) को भी सार्वभौमिक शक्ति प्राप्त संस्था नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह भी विधान के अन्दर रहकर ही कार्य करती है।

कुछ लेखकों का मत है कि राज-सत्ता विधान बदलने की शक्ति रखने वाली संस्था में निवास करती है। इस मत के अनुसार इङ्गलैंड में राज-सत्ता पार्लियामेंट के हाथों में और अमरीका में सघीय कांग्रेस के दोनों विभागों के दो तिहाई बहुमत और रियासतों की धाराओं सभाओं की तीन-चौथाई बहुमत को प्राप्त है। इस मत के विरुद्ध कहा जाता है कि विधान बदलनेवाली संस्था तो केवल किन्हीं विशेष परिस्थितियों में ही काम करती है, उसे जनता देख नहीं सकती वह दिन प्रतिदिन काम नही करती, इसलिए ऐसी संस्था को भी राजसत्ता प्राप्त सस्था नहीं कहा जा सकता।

एक और कारण से भी राज सत्ता सिद्धांत की आलोचना की जाती है; और वह यह कि इस सिद्धान्त के प्रचार के कारण राज्य में निरकुश शासनों का प्रचार किया गया है। इन आलोचकों की राय में यह सिद्धांत नागरिकों की स्वतंत्रता और विश्व शांति के लिये घातक है।।इसीके कारण संसार में युद्ध होते हैं। आजकल जब सारा संसार यातायात के साधनों की उन्नति के कारण एक सूत्र में बंध गया है तो राष्ट्रीय स्वतंत्रता और राज्य की पृथकता का प्रश्न ही नहीं उठना चाहिए।

सार्वभौमिकता सिद्धान्त का औचित्य

वास्तव में सार्वभौमिक सिद्धान्त राज्य के एक आवश्यक गुण का विश्लेषण करता है। इसका तात्पर्य केवल इतना बताना है कि कोई भी राज्य एक स्वतत्र देश उस समय तक नहीं कहा जा सकता, जब तक उसे अपने नागरिकों पर पूर्ण रूप से शासन करने का अधिकार प्राप्त न हो; और जब तक वह देश बाहरी हस्तक्षेप से स्वतंत्र न हो। यह दूसरी बात

है कि कोई राज्य जनता की भलाई के विचार से अपने अधिकारों का कहाँ तक प्रयोग करता है। राज्य को हर प्रकार के कार्य करने की शक्ति तो है, परन्तु वह जनता के अधिकारों या उसके हित के विरुद्ध कार्य नहीं करता। अन्तर्राष्ट्रीय मत के सम्बन्ध में भी यही बात है। राज्य इस मत के विरुद्ध कार्य तो कर सकता है, परन्तु जब तक मजबूरी ही न हो, वह इस मत के विरुद्ध जाना उचित नहीं समझता। इसलिए सार्वभौमिकता के सिद्धान्त में विश्वास करने वाले लोगों का मत है कि राज्य सिद्धान्त रूप से सर्वशक्तिमान् अवश्य है व्यवहारिकता के दृष्टिकोण या औचित्य के विचार से वह अपनी शक्ति का प्रयोग करे या न करे। उनकी राय में सार्वभौमिकता का सिद्धान्त नागरिक स्वतंत्रता या विश्व शान्ति के लिए घातक नहीं क्योंकि यह सिद्धान्त यह नहीं कहता कि नागरिकों के अधिकार सुरक्षित नहीं रहने चाहिए या एक देश को दूसरे के साथ मेल-जोल नहीं करना चाहिए। राष्ट्र स्वतन्त्र रहते हुए भी दूसरे देशों के साथ मिलकर काम कर सकते हैं, उनसे व्यापारिक तथा सैन्य सन्धि कर सकते हैं। राज-सत्ता और नागरिकों के अधिकार में भी कोई विरोध नहीं। कोई राष्ट्र नागरिकों के अधिकारों की अधिक से अधिक रक्षा करता हुआ भी, राज-सत्ता प्राप्त राज्य रह सकता है। राज-सत्ता का अर्थ केवल इतना है कि विपत्ति काल में यदि आवश्यकता पड़े, तो राज्य नागरिकों के अधिकारों की परवाह न करते हुए भी उन्हें विशेष प्रकार के कार्य करने पर विवश कर सके लड़ाई तथा गृह युद्ध के समय, प्रायः प्रत्येक देश में जनता के अधिकारों में कमी कर दी जाती है। ऐसा इसलिए किया जाता है कि राष्ट्र की स्वतंत्रता व्यक्तिगत स्वतंत्रता से अधिक महत्वपूर्ण है राज-सत्ता का इसलिए केवल यही अर्थ है कि राज्य संकट काल में, विपत्ति को दूर करने के लिये, जो भी चाहे कर सकता है।

सार्वभौमिकता तथा सरकार में अन्तर

सरकार का अर्थ उन सब कर्मचारियों से है जो राज्य के सचालन में

भाग लेते हैं। यह एक स्थूल चीज़ है जिसे प्रत्येक मनुष्य देख सकता है। सार्वभौमिकता इसके विपरीत राज्य का एक गौण गुण है जिसके कारण वह स्वतंत्र राष्ट्र कहलाता है। यह गुण अनुभव किया जा सकता है परन्तु देखा नहीं जा सकता। इसके अतिरिक्त सरकार सदा बदलती रहती है परन्तु राजसत्ता सदा एक सी ही रहती है। सरकार एक संगठन है, राजसत्ता एक शक्ति। राजसत्ता के समाप्त होने पर देश की स्वतंत्रता नष्ट हो जाती है, परन्तु एक सरकार की समाप्ति से दूसरी सरकार उसका स्थान ग्रहण कर लेती है।

सार्वभौमिकता के विविध स्वरूप

सार्वभौमिकता का अर्थ कई मायनों में किया जाता है। इसलिए यह आवश्यक है कि हम इसके विभिन्न स्वरूपों पर अच्छी प्रकार दृष्टि डालो।

नामधारी राजसत्ता बनाम वास्तविक राजसत्ता (Titular and Actual Sovereign)

सार्वभौमिकता नाम की भी हो सकती है और सच्ची भी। इङ्गलैण्ड का सम्राट् नामधारी राजसत्ता रखता है। वह कहने को तो सम्राट् है परन्तु वास्तव में उसे किसी भी प्रकार के अधिकार प्राप्त नहीं। वहाँ की असली शासक पार्लियामेन्ट है। राजा तो केवल नाम के लिए ही सम्राट् कहा जाता है। इसलिये इंगलैंड में हम वहाँ के सम्राट को नाम का और वहाँ की पार्लियामेन्ट को वास्तविक सार्वभौम कह सकते हैं।

वैध राजसत्ता बनाम राजनैतिक राजसत्ता (Legal and Political Sovereignty)

राजसत्ता का दूसरा स्वरूप राजनैतिक और वैध सार्वभौमिकता है। वैध राजसत्ता वह है जिसे राज्य के लिए क़ानून बनाने का अधिकार प्राप्त है यथा जिसकी सत्ता को अदालतें स्वीकार करती हैं। ऐसी संस्था इङ्गलैण्ड की पार्लियामेन्ट है।

राजनैतिक राजसत्ता इसके विपरीत वह शक्ति है जो वैध राजसत्ता के पीछे निवास करती है तथा जिसकी इच्छा और आज्ञा का पालन वैध राजसत्ता को अवश्य करना पड़ता है। इस प्रकार की राजसत्ता प्रत्येक देश में मतदाताओं के हाथ में रहती है। मतदाता चाहे क़ानून न बना सकें, चाहे न्यायालय उनकी आज्ञाओं का पालन न करे; परन्तु देश की व्यवस्थापिका सभा उनकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकती। राजनैतिक वैध राजसत्ता को उलट सकती है, इसलिए यह उससे कहीं अधिक शक्तिशाली होती है।

लोकप्रिय राजसत्ता (Popular Sovereignty)

लोकप्रिय राजसत्ता का सर्वप्रथम प्रयोग रूसो ने किया था। किसी देश में यदि सारी बालिग जनता राजकाज के काम में भाग लेती है तथा अपने क़ानून स्वयं बनाती है तो ऐसे देश को लोकप्रिय राजसत्ता प्राप्त देश कहा जाता है।

तथ्यतः बनाम विधानतः राजसत्ता (De-factovs Dejure Sovereignty)

कई बार बहुत से राष्ट्रों में क़ानूनी सम्राट् दूसरा होता है और गद्दी पर क़ाबिज़ सम्राट् दूसरा। पिछले दिनों सन् १९३५ में इटली ने अबीसीनिया पर हमला करके वहाँ के राजा को गद्दी से निकाल दिया था। परन्तु दूसरे राष्ट्रों ने इटली की इस जीत को स्वीकार नहीं किया और वह अबीसीनिया के पुराने सम्राट् को ही वहाँ का राजा मानते रहे। ऐसी दशा में राजनैतिक विद्वान् पदच्युत राजा को विधानतः (De-Jure) और गद्दी पर क़ाबिज़ राजा को तथ्यतः (De-facto) राजा मानते हैं। अफ़ग़ानिस्तान में भी अमानुल्ला के समय में एक ऐसी ही घटना हुई थी। अमानुल्ला गद्दी का क़ानूनी मालिक था, परन्तु देश के कुछ लोगों ने विद्रोह करके उसे गद्दी से उतार दिया, फिर कुछ समय तक बच्चा सक्का गद्दी पर बैठा और फिर नादिरशाह अफ़गानिस्तान का असली शासक रहा और अमानुल्ला वहाँ का क़ानूनी सम्राट्। परन्तु बाद में सारी जनता ने नादिरशाह को ही अपना

राजा स्वीकार कर लिया और फिर वह विधानतः तथा तथ्यतः दोनों तरह से वहाँ का राजा बन गया।

तथ्यतः और विधानतः राजसत्ता बहुत समय तक अलग-अलग आदमियों के हाथ में नहीं रह सकती। कुछ समय पश्चात् यह दोनों एक ही आदमी के हाथ में केन्द्रित हो जाती हैं।

योग्यता-प्रश्न

(१) सार्वभौमिकता के स्वभाव को समझाइए और उसके प्रधान गुण बतलाइए।

(२) ऑस्टिन के सार्वभौमिकता सिद्धान्त की आलोचना कीजिए और उसकी अन्य सीमाओं पर प्रकाश डालिए।

(३) सार्वभौमिकता की स्वतंत्र शक्ति की व्यवहारिक सीमाएँ कौन सी हैं?

(४) सार्वभौमिकता के सिद्धान्त का वर्णन कीजिए। इसके आवश्यक गुण क्या हैं? (यू० पी०, १९४२)

(५) निम्नलिखित शब्दों के अर्थ स्पष्ट समझाइए—

(१) नामधारी सार्वभौमिकता

(२) वास्तविक सार्वभौमिकता

(३) विधानतः सार्वभौमिकता

(४) राजनैतिक सार्वभौमिकता

(६) तथ्यतः (De-facto) और विधाननः (De-jure) सार्वभौमिकता की भिन्नता को स्पष्ट समझाइए।

(७) आप सार्वभौमिकता का अर्थ क्या समझते हैं? इसके मुख्य अंगों का वर्णन कीजिये। (यू० पी०, १९४२)

(८) सार्वभौमिकता के गुण क्या हैं? राजनैतिक और वैध सार्वभौमिकता में क्या अंतर है? (यू० पी०, १९४७)

चौदहवाँ अध्याय

क़ानून (Law)

क़ानून शब्द का प्रयोग भिन्न-भिन्न अर्थों में किया जाता है। जब इस शब्द का प्रयोग प्रकृति के साथ किया जाता है तब इससे कार्य और कारण के फल का अथवा उस समानता का बोध होता है जिससे वस्तुओं के व्यवहार की विशेषताओं का पता चलता है। ऐसे प्राकृतिक क़ानूनों के उदाहरण में हम गुरुत्वाकर्षण शक्ति का क़ानून (Gravitation Law), लहरों का क़ानून (Law of Tides) तथा पानी की सतह के क़ानून (The law that water keeps its level) के न म ले सकते हैं। ये क़ानून मौलिक क़ानून कहलाते हैं। ये स्थायी, अटल और निश्चित होते हैं। नागरिकशास्त्र इस प्रकार के क़ानूनों से सम्बन्ध नहीं रखता। इसके विरुद्ध यह उन क़ानूनों से सम्बन्ध रखता है जो मनुष्य के अ च-रण अथवा व्यवहार से सम्बन्ध रखते हैं।

सामाजिक जीवन के क़ानूनों का आशय उन नियमों से होता है जो समाज के अन्दर रहने वाले मानव प्राणियों के पारस्परिक सम्बन्ध को व्य-वस्थित करते हैं। जिस समय इन क़ानूनों का प्रयोग, जन-मत अथवा समाज की नैतिक भावना के द्वारा किया जाता है उस अवस्था में ये सामाजिक क़ानून कहलाते हैं। ऐसे क़ानूनों में हम अतिथि सत्कार, ग़रीबों की सेवा, दान-पुण्य इत्यादि के नाम ले सकते हैं। जिस समय इनका प्रयोग राज्य की शक्ति द्वारा किया जाता है उस अवस्था में ये राजनैतिक या मनुष्यकृत क़ानून (Positive laws) कहलाते हैं। जिस समय ये मानव आच-रण की आंतरिक भावनाओं से सम्बन्ध रखते हैं तब वह नैतिक क़ानून

कहलाता है, जैसे झूठ मत बोलो, किसी को अपशब्द न कहो, कृतघ्न न बनो इत्यादि ।

मनुष्यकृत क़ानूनों का स्वभाव (Nature of Positive Laws)

नागरिकशास्त्र में हम मनुष्यकृत क़ानूनों का अध्ययन करते हैं । हौलैंड (Holland) ऐसे क़ानूनों की व्याख्या इस प्रकार करता है—मनुष्यों के बाहरी आचरण को व्यवस्थित करने के लिये प्रत्येक देश की सार्वभौमिक सत्ता कुछ नियम बनाती है । इन नियमों का पालन प्रत्येक मनुष्य को करना पड़ता है । ऐसे नियमों को मनुष्यकृत कानून कहा जाता है । इनका पालन जनता की स्वेच्छा पर नहीं छोड़ा जाता वरन् राज्य की शक्ति के द्वारा कराया जाता है ।

निरंकुश (Despotic) राज्यों में. शासक ही, सार्वभौमिक सत्ता का अधिकारी होता है । इसलिये ऐसे राज्यों में शासक की इच्छा ही क़ानून बन जाती है । परन्तु क़ानून बनाते समय निरकुश शासक को भी, लोगों के रीति-रिवाज, विश्वास, जनश्रुतियाँ और स्वभाव का विचार करना पड़ता है । यदि ऐसा नहीं किया जाता तो प्रजा विद्रोह कर बैठती है । इसके विपरीत प्रजातन्त्र राज्यों में क़ानून एक मनुष्य द्वारा नहीं वरन् जनता के चुने हुए अथवा लोगों के प्रतिनिधियों के द्वारा निश्चित किया जाता है ।

किसी भी क़ानून का उस समय तक नैतिक मूल्य नहीं होता, जब तक उससे सर्वसाधारण की भलाई नहीं होती और वह लोगों की वास्तविक आवश्यकताओं को पूरा नहीं करता । क़ाननून वही पालन करने योग्य होता है जो जनता की भलाई की दृष्टि से बनाया गया हो । अच्छे और बुरे क़ानूनों की पहिचान हम आगे चलकर इसी अध्याय में देंगे । यहाँ पर यह कहना पर्याप्त है कि यदि कोई क़ानून जनता के सच्चे हित की रक्षा करता है तो वह एक अच्छा क़ानून कहा जा सकता है ।

मनुष्यकृत क़ानूनों के प्रकार (Kinds of Positive Laws)

मनुष्यकृत क़ानून दो प्रकार के होते हैं :—

(१) व्यक्तिगत क़ानून Private Laws)—व्यक्तिगत क़ानून वह क़ानून है जो दो मनुष्यों के आपस के सम्बन्धों को व्यवस्थित करते हैं। इन क़ानूनों का मनुष्य के सामाजिक जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं होता। वह केवल, एक नागरिक का दूसरे नागरिक से क्या सम्बन्ध होना चाहिए, इसका निर्णय करते हैं। इन क़ानूनों के उदाहरण में हम कर्ज़ के क़ानून (Laws of Debts) जायदाद खरीदने-बेचने के क़ानून (Transfer of Property), हक़शुफ़ा का क़ानून (Laws of Pre-emption) इत्यादि के उदाहरण दे सकते हैं।

(२) सार्वजनिक क़ानून (Public Laws)—सार्वजनिक क़ानून वह क़ानून है जो जनता के राज्य के साथ सम्बन्ध का निर्णय करते हैं। इन क़ानूनों के द्वारा मनुष्यों को बताया जाता है कि उन्हें किस प्रकार के कार्य नहीं करने चाहिएँ। इन क़ानूनों को तोड़ने वाले व्यक्ति समाज तथा राज्य के प्रति अपराधी समझे जाते हैं। इन क़ानूनों में चोरी या डकैती, खून, धोखादेई इत्यादि के क़ानून शामिल किये जाते हैं। उपरोक्त क़ानूनों के अतिरिक्त और भी कई प्रकार के क़ानून होते हैं। इनमें निम्न-लिखित मुख्य हैं।

(१ वैधानिक कानून (Constitutional Laws)—वैधानिक क़ानून हम ऐसे क़ानूनों को कहते हैं जो किसी देश की शासन व्यवस्था का निर्णय करते हैं। इन क़ानूनों में राज्य की बनावट, व्यवस्थापिका, कार्य-कारिणी तथा न्याय सभा का स्वरूप, राज्य के अंगों का पारस्परिक सम्बन्ध, और राज्य के प्रति नागरिकों के अधिकारों तथा कर्तव्यों का वर्णन होता है। किसी किसी राज्य में वैधानिक क़ानून का उस प्रकार संशोधन नहीं किया जा सकता जिस प्रकार दूसरे क़ानूनों का किया जाता है। उन्हें बद-लने के लिये एक ख़ास व्यवस्था की आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार वैधानिक क़ानून देश के साधारण क़ानूनों से भिन्न रहते हैं।

(२) संविधि (Statutes)—देश की व्यवस्थापिका सभा द्वारा बनाए गए क़ानूनों को संविधि या स्टैयूट भी कहा जाता है।

(३) अस्थायी क़ानून (Ordinances)—देश की सरकार द्वारा असाधारण और आवश्यक परिस्थितियों का सामना करने के लिये कुछ थोड़े समय के लिये पास किये गए क़ानूनों को अस्थाई क़ानून या औॉर्डिनेन्स कहा जाता है। हमारे देश के लोग इन क़ानूनों से भली भाँति परिचित हैं। अंग्रेज़ी राज्य में यह क़ानून समय-समय पर छै महीने के लिये गवर्नर जनरल द्वारा घोषित किये जाते थे।

(४) नज़ीरें अथवा वादजनित विधान (Case Laws)—वह क़ानून जो अदालतों के फैसलों द्वारा बनाया जाता है। केस ला या वादजनित विधान या नज़ीरें कहलाता है। यह नजीरें वकील लोग अपने मुक़दमों की पैरवी में बहस के समय पेश करते हैं।

(५) साधारण क़ानून (Common Laws)—ये वे क़ानून हैं जो किसी व्यवस्थापिका सभा द्वारा तो नहीं वरन् रीति-रिवाजों के आधार पर अदालतें प्रयोग में लाती हैं। इङ्गलैण्ड में इसी प्रकार के क़ानून अधिक प्रयोग में आते हैं। बहुत पुराने काल से प्रचलित होने के कारण इन क़ानूनों को वही स्वरूप मिल जाता है जो व्यवस्थापिका सभा द्वारा पास क़ानूनों को। भारतवर्ष में इस प्रकार के क़ानून, गोद लेने के क़ानून, स्त्रीधन के क़ानून, शादी-विवाह इत्यादि के क़ानून हैं।

(६) शासन सम्बन्धी क़ानून (Administrative Laws)* —डाइसी (Diecy) शासन सम्बन्धी क़ानूनों की व्याख्या

---

*Administrative Laws are the rules which determine the position and liabilities of all state officials, the civil rights and liabilities of private individuals in their dealings with officials as representatives of the State, and procedure by which these rights and liabilities are enforced".—(Diecy)

इस प्रकार करता है, "ये वे क़ायदे हैं जिनसे सब सरकारी कर्मचारियों के पद और ज़िम्मेदारियों का, आम लोगों के सरकारी कर्मचारियों के साथ व्यवहार करने के अधिकार और कर्तव्यों का, और जिस प्रकार से इन अधिकारों और ज़िम्मेदारियों का प्रयोग किया जाता है उन सब का निर्णय किया जाता है।" ये क़ानून, फ्रान्स में चालू हैं और इङ्गलैण्ड के क़ानून से बिल्कुल भिन्न हैं। फ्रांस में, जब, राज्य के कर्मचारी कोई जुर्म करते हैं तो उनका मुकदमा देश के साधारण क़ानूनों या साधारण अदालतों के द्वारा नहीं किया जाता। उनके लिए ख़ास क़ानूनों का प्रयोग किया जाता है। इन्हीं क़ानूनों को शासन सम्बन्धी क़ानून कहते हैं। उनके मुक़दमे ख़ास अदालतें करती हैं जिन्हें शासन सम्बन्धी अदालतें कहा जाता है।

(७) अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून (International Laws)—अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून वह नियम या रीति-रिवाज है जो विभिन्न राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्ध को व्यवस्थित करते हैं। इन नियमों को साधारण तौर पर क़ानून नहीं कहा जा सकता क्योंकि इन पर पालन कराने के लिए कोई ऐसी शक्ति नहीं होती जो विभिन्न राष्ट्रों को इन्हें मानने के लिए विवश कर सके। न इन नियमों की अवहेलना करने वाले राष्ट्रों को दंड देने के लिए कोई शक्ति होती है। इन नियमों का पालन केवल विभिन्न राष्ट्रों की नैतिक भावना पर अवलम्बित रहता है।

§ २. क़ानून और कुछ दूसरे तत्वों में अन्तर

क़ानून और आचार-शास्त्र का सम्बन्ध (Laws and Ethics)

आचार-शास्त्र मनुष्य के सामाजिक व्यवहार का विज्ञान है। वह नागरिकों के लिए आदर्श सदाचार के नियमों को निर्धारित करता है। राज्यकृत क़ानूनों का आदर्श भी यही है कि नागरिक नैतिक सिद्धान्तों पर चलें। इस प्रकार राज्यकृत क़ानून भी यथासम्भव आचार शास्त्रों में वर्णित सदाचार सम्बन्धी नियमों का ही पालन करते हैं। क़ानून उस

दशा में प्रभावोत्पादक हो सकते हैं जब वे मनुष्यों के नैतिक विचारों के संरक्षक हों। परन्तु इस सम्बन्ध का यह अर्थ कदापि नहीं समझना चाहिये कि क़ानून और आचार-शास्त्र एक ही चीज़ है। वास्तव में अनेक कारणों से वह एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न भी हैं।

क़ानून और आचार-शास्त्र में भिन्नता

(१) सर्वप्रथम राज्यकृत क़ानून और आचार-शास्त्र में यह भिन्नता है कि राज्यकृत क़ानूनों का पालन राज्य की शक्ति पर निर्भर होता है। परन्तु आचार-शास्त्र के नियमों का पालन मनुष्य के अन्तःकरण तथा उसकी नैतिक भावना पर निर्भर रहता है।

(२) दूसरे राज्यकृत क़ानूनों का सम्बन्ध केवल मनुष्यों के बाहरी कर्तव्यों से रहता है। आचार-शास्त्र के नियमों का सम्बन्ध मनुष्य के आन्तरिक और वाह्य दोनों प्रकार के आचरणों से रहता है। राज्यकृत क़ानूनों के सम्बन्ध में राज्य केवल उन्हीं लोगों को सज़ा देता है जो चोरी, खून, डकैती इत्यादिक जुर्म करके देश के साधारण क़ानूनों की अवहेलना करते हैं। यह उन लोगों को सज़ा नहीं देता जो अविश्वासी, झूठे या अकृतज्ञ होते हैं। इसके विपरीत आचार-शास्त्र के नियम न केवल यह कहते हैं कि चोरी, खून या डकैती करना पाप है वरन् वह यह भी कहते हैं कि मनुष्य को अकृतज्ञ, अविश्वासी या झूठा नहीं होना चाहिए।

(३) राज्यकृत क़ानून, बहुत सी बातों को जो नैतिक दृष्टि से अनुचित हैं, जैसे अकृतज्ञता, विश्वासघात और झूठ बोलना इत्यादि बुरा नहीं समझते। बहुत सी अवस्थाओं में तो जैसे विदेश-नीति निर्धारित करने में, इन चीज़ों को अपनाया भी जाता है। दूसरी तरफ़ राज्य बहुत सी बातों को जो नैतिक दृष्टि से पूर्णरूपेण उचित हैं जैसे सड़क के दाईं ओर चलना, तेज़ी से गाड़ी चलाना इत्यादि अनुचित समझता है और ऐसा करने के लिए लोगों को सज़ा देता है। वास्तव में आचार-शास्त्र के

नियम नैतिक कर्तव्यों से सम्बन्ध रखते हैं और राज्यदत्त क़ानून शासन सम्बन्धी कर्तव्यों से।

प्राकृतिक और मनुष्यकृत क़ानूनों का सम्बन्ध (Relationship between Natural Laws and Positive Laws)

प्राकृतिक क़ानून का अर्थ राजनैतिक दार्शनिकों ने कई प्रकार से किया है। ग्रीक और स्टोइक लेखक प्राकृतिक क़ानून को तर्क (Logic) या अन्तःकरण का क़ानून समझते थे। रोमन भी इसी प्रकार प्राकृतिक नियमों को मानव कर्तव्य का सच्चा क़ानून समझते थे। उनके विचारानुसार प्राकृतिक क़ानून मनुष्य के सर्वोत्कृष्ट तर्क का नमूना था। उनका राज्यकृत क़ानून (Jus Gentium). प्राकृतिक क़ानून (Jus Naturale) पर अवलम्बित था। मध्यकाल में भी प्राकृतिक क़ानूनों को ईश्वर के क़ानूनों के समान समझा गया। इसलिए प्राकृतिक क़ानूनों का असली अर्थ यह मालूम होता है कि ये वे आदर्श नियम हैं जो प्रत्येक समाज में उनके नागरिकों की अधिकाधिक उन्नति के लिए आवश्यक हैं। इस अर्थ में राज्य के सभी क़ानून प्राकृतिक नियमों के अनुसार ही होने चाहिएँ। परन्तु कभी-कभी प्राकृतिक क़ानून शब्द का प्रयोग भौतिक क़ानूनों (Physical Laws) के अर्थ में भी किया जाता है, जैसे अग्नि का क़ानून, पानी का क़ानून, इत्यादि। ऐसी दशा में प्राकृतिक और राज्यकृत क़ानूनों में निम्नलिखित भेद होते हैं—

प्राकृतिक और मनुष्यकृत क़ानूनों में भेद (Difference between Physical Laws and Positive Laws)

(१) प्राकृतिक या भौतिक क़ानून प्रकृति की घटनाओं की समानता का वर्णन करते हैं, जैसे गुरुत्वाकर्षण शक्ति क़ानून, या वायु का क़ानून, इत्यादि। परन्तु राज्यकृत क़ानून नागरिकों के आचरण का नियंत्रण करने के लिए बनाए जाते हैं।

(२) प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध कोई घटना हो, तो हम समझते हैं

कि वह क़ानून ग़लत था। परन्तु यदि कोई मनुष्य राज्य के नियम के विरुद्ध काम करे तो हम उस क़ानून को गलत नहीं समझते, बल्कि ऐसे मनुष्य को अपराधी ठहराते हैं और उसे सज़ा देते हैं।

(३) भौतिक क़ानूनों को मनुष्य केवल खोज निकालता है, वह उन्हें बनाता नहीं; परन्तु राज्य के क़ानूनों को मनुष्य स्वयं बनाता है।

(४) भौतिक क़ानून स्थाई और सदा एक से रहते हैं, परन्तु राज्य के नियम अदलते-बदलते रहते हैं, वह तोड़े जा सकते हैं; तथा हर एक देश में अलग होते हैं।

§३. क़ानूनों के स्रोत (Sources of Laws)

आधुनिक संसार में, अधिकतर क़ानून व्यवस्थापिका सभा द्वारा बनाए जाते हैं; परन्तु इसके अतिरिक्त क़ानूनों के दूसरे स्रोत भी हैं—

(१) रीति-रिवाज़ (Customs)—बहुत से रीति-रिवाज़ पुराने पड़ जाने पर क़ानून का रूप धारण कर लेते हैं और राज्यद्वारा स्वीकृत हो जाते हैं। बात यह है कि रीति-रिवाज़ हमारी आवश्यकताओं के अनुसार ही बनते हैं, उनका धीरे धीरे विकास होता है; अतः उनका हमारे पूर्व इतिहास से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। सभ्यता के प्रसव काल में रीति-रिवाज ही जनता के क़ानून थे। आजकल भी बहुत से पुराने रीति-रिवाज़ हमारे क़ानूनों में शामिल हैं। इंगलैंड का कौमन ला (Common Law) प्राचीन रीति-रिवाज़ों पर ही अवलम्बित है।

(२) धार्मिक सिद्धान्त (Religious Practices)—पुराने समय में रीति-रिवाज़ों तथा धर्म में कोई अन्तर नहीं था, रीति धर्म के आधार पर ही बनती थी। आजकल भी बहुत से देशों में जातियों के क़ानून उनके धर्म पर अवलम्बित हैं। भारत में हिन्दू और मुसलमानों के क़ानून (Hindu and Mohammedan Laws) स्मृतियों, क़ुरान व हदीस ही में पाए जाते हैं, जो इन जातियों के धर्म ग्रंथ है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि धर्म जातियों के क़ानूनों के विकास में मुख्य भाग लेता है।

(३) प्राचीन नीति-शास्त्र (**Ancient Codes**)—पुराने समय में लोग, समाज के धार्मिक नेताओं द्वारा बनाए गए नीति शास्त्रों का पालन करते थे, जैसे मोज़ेज़ का क़ानून मनु के क़ानून, कुरान हदीस के क़ानून इत्यादि। इन नीति-शास्त्रों में, धर्म के आधार पर सदाचार के नियम वर्णित हैं। लोग इनका व्यवहारिक रूप में पालन करते थे। इन इन नीति शास्त्रों के आधार पर भी बहुत से देशों के वर्तमान क़ानून बनाए गए हैं।

(४) क़ानूनी फ़ैसले और नज़ीरें (**Interpretation and Adjudication of Legal Decisions and Precedents**)—न्यायाधीश, राज्य के क़ानूनों को, विशेष मुक़दमों की आवश्यकता के अनुसार व्यवहार में लाते हैं। इस प्रकार वह क़ानून की व्याख्या करते हैं और समाज की बदलती हुई परिस्थिति के अनुसार उसमें संशोधन करते हैं। न्यायाधीशों द्वारा बनाये गए ऐसे क़ानून अगले मुक़दमों के फ़ैसले के लिए नज़ीरें माने जाते हैं। इस प्रकार से भी नए क़ानूनों का जन्म होता है।

(५ वैज्ञानिक चर्चा (Scientific Dicussion)—बड़े-बड़े वकील और क़ानूनी पंडित, क़ानूनों के, अपनी समझ के अनुसार अर्थ लगाते हैं; और नए क़ानूनों के बनाने की आवश्यकता का सुझाव पेश करते हैं। इस प्रकार वह क़ानून की सीमा की वृद्धि करते हैं।

(६) नैतिक न्याय (Equity)—जब किसी मुक़द्में का फ़ैसला करने के लिए कोई विशेष क़ानून नहीं मिलता तब न्यायाधीश नैतिक न्याय (Equity) या शुद्ध अन्तःकरण के सिद्धान्त के आधार पर मुक़दमों का फ़ैसला करते हैं, और इस प्रकार एक नए क़ानून का निर्णय करते हैं।

नैतिक न्याय (Equity) इस प्रकार एक तरह का न्यायाधीश द्वारा बनाया गया क़ानून है।

(७) **व्यवस्थापिका सभा** (Legislature)—वर्तमान समाज में सबसे अधिक क़ानून देश की व्यवस्थापिका सभा द्वारा बनाए जाते हैं। इन क़ानूनों को प्रत्येक अदालत को मानना पड़ता है।

अच्छे और ख़राब क़ानूनों की पहचान (Distinction between good and bad Laws)

राज्य की व्यवस्था नागरिकों के सुखद जीवन तथा उन्नति के उद्देश्य से की जाती है। राज्य अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये क़ानून बनाता है। दूसरे शब्दों में क़ानूनों का अस्तित्व स्वयं अपने लिये नहीं वरन् जनता के सुखद जीवन के लिये होता है। क़ानून कोई स्वयं आदर्श नहीं वरन् आदर्श तक पहुँचने के लिए एक साधन है। सब क़ानूनों का एक ही आदर्श होता है और वह यह कि वह जनता की अधिक से अधिक सेवा कर सकें; तथा उनके व्यक्तित्व के विकास में सहायक सिद्ध हो सकें। यदि राज्य का कोई कानून इस परीक्षा में पूरा उतरता है, अर्थात् वह जनता के सुख की वृद्धि करता है तो वह क़ानून अच्छा कहलाता है; इसके विपरीत, यदि कोई क़ानून जनता के अधिकारों का विनाश तथा उसके सुख की हानि करता है, तो वह क़ानून बुरा होता है।

कुछ लेखकों का कहना है कि क़ानूनों के विषय में अच्छाई और बुराई का प्रश्न ही नहीं उठना चाहिये। क़ानून एक राज्य का आदेश है। वह प्रत्येक दशा में माना जाना चाहिये। कोई क़ानून इसलिये क़ानून नहीं होता कि वह जनता की भलाई के लिये बनाया गया है, वरन् इसलिये कि वह सार्वभौम सत्ता का आदेश है। परन्तु हमारी राय में यह मत एकदम निकृष्ट है। क़ानून को उसके उद्देश्य से अलग नहीं किया जा सकता। प्रत्येक क़ानून के बनाते समय राज्य का कोई न कोई उद्देश्य अवश्य होता है। यदि यह उद्देश्य जनता का सांस्कृतिक अथवा आर्थिक अथवा सामाजिक

विकास है तो वह क़ानून अच्छा समझना चाहिये, यदि उस क़ानून से जनता के अधिकारों का हनन होता है तथा उसकी प्राकृतिक उन्नति में बाधा पड़ती है तो उस क़ानून को निकृष्ट समझना चाहिये।

संक्षेप में हम क़ानूनों की अच्छाई के निम्न रूप दे सकते हैं :—

(१) सर्वप्रथम, क़ानूनों की अच्छाई की परख उनकी मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास में सहायता देने की शक्ति है। यदि कोई क़ानून नागरिकों को उनकी नैतिक, सामाजिक अथवा आध्यात्मिक उन्नति करने में मदद करता है तो वह अच्छा क़ानून है, इसके विपरीत यदि कोई क़ानून जनता का दमन करता है अथवा समाज के केवल कुछ मुट्ठी भर मनुष्यों को, उनके व्यक्तित्व के विकास की सुविधा देता है, तो वह क़ानून निकृष्ट है।

(२) दूसरे, अच्छे क़ानून की परख यह है कि जनता उस क़ानून की आज्ञा का पालन स्वेच्छा से करे; और उस पर अमल करते समय इस बात का अनुभव करे कि वह क़ानून उसकी भलाई और उन्नति के लिये है। दूसरे शब्दों में, जनता राज्य के किसी क़ानून का इसलिये पालन न करे कि उसकी अवहेलना से उसे दंड मिलेगा, वरन् इसलिये कि उस क़ानून का पालन उसकी अपनी नैतिक उन्नति के लिये आवश्यक है।

(३) तीसरे, अच्छे क़ानून की पहिचान यह है कि वह जनता को उसके नैतिक और प्राकृतिक अधिकारों से वंचित न करे।

(४) चौथे, अच्छे क़ानूनों का निर्माण जनता की इच्छा के अनुसार होना चाहिये। दूसरे शब्दों में उनकी व्यवस्था केवल ऐसे व्यक्तियों के द्वारा होनी चाहिये जो वास्तव में जनता का सच्चा प्रतिनिधित्व कर सकें।

जब कोई क़ानून ऊपर लिखी हुई चार परीक्षाओं में उत्तीर्ण होता है, तभी वह एक आदर्श क़ानून कहा जा सकता है। परन्तु आजकल हम देखते हैं कि संसार के सभी राष्ट्रों में इस प्रकार के क़ानून देखने में नहीं आते प्रायः प्रत्येक देश में ही, कुछ न कुछ क़ानून ऐसे अवश्य होते हैं, जो जनता

के अधिकारों की रक्षा नहीं वरन् उनकी अवहेलना करते हैं। प्रश्न उठता है कि क्या जनता इस प्रकार के क़ानूनों को भी मानने के लिये बाध्य है? यदि नहीं तो राज्य के ऐसे क़ानूनों का किस प्रकार और किस दशा में अवहेलना की जा सकती है?

वह अवस्थाएँ जिनमें नागरिक राज्य के क़ानूनों की अवहेलना कर सकते हैं (Conditions under which citizens can disobey State Laws)

जब राज्य का कोई विशेष क़ानून इस दृष्टि से ख़राब है कि वह मनुष्य के सदाचार के विकास में बाधक सिद्ध होता है; और ऐसा किसी व्यक्ति विशेष के साथ नहीं, वरन् सारी जनता के साथ होता है, तो उस क़ानून की अवहेलना करना जनता का नैतिक अधिकार हो जाता है। हम इसी अध्याय के पिछले पृष्ठों में बतला चुके हैं कि किसी क़ानून का पालन इसलिये नहीं करना चाहिये कि वह राज्य की आज्ञा का प्रतिपादक है, वरन् इसलिये कि हम यह अनुभव करें कि इस क़ानून के पालन करने से हम अपनी स्वयं की उन्नति करते हैं। अतः यदि कोई क़ानून जनता के हित की रक्षा नहीं करता वरन् उसके मौलिक अधिकारों पर कुठाराघात करता है, तो जनता का धर्म है कि वह ऐसे क़ानून का अपनी पूरी शक्ति के साथ मुक़ाबला करे।

* परन्तु यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि सरकारी क़ानून की अवहेलना करने से पहिले, हमें इस बात का निश्चय कर लेना चाहिये कि जनता, अवज्ञा आंदोलन के कार्य में हमारे साथ है अथवा नहीं। यदि जनता की नैतिक भावना हमारे साथ नहीं है तो अवज्ञा आंदोलन आरभ करने से कोई भी लाभ न होगा। दूसरे, अवज्ञा करने से पहिले यह भी देख लेना चाहिये कि उस क़ानून को रद्द कराने के लिये हमने हर प्रकार के वैधानिक तरीक़ों का प्रयोग किया है अथवा नहीं। अवज्ञा आंदोलन तो एक ख़तरनाक बीमारी की आख़िरी औषधि होनी चाहिये, प्रथम नहीं।

सर्वप्रथम, जनता के सहयोग से, सरकार पर यह बात दर्शाने का प्रयत्न करना चाहिये कि अमुक क़ानून जनता का अहित करता है। इसके पश्चात् यदि सरकार उस क़ानून को रद्द न करे तो व्यवस्थापिका सभा के अगले चुनाव के समय, इस प्रश्न पर जन-मत लेना चाहिये, अर्थात् उस विषय को चुनाव का एक मुख्य प्रश्न (Election issue) बनाना चाहिये। यदि इस आंदोलन के पश्चात् सरकार सार्वजनिक इच्छा के अनुसार काम करे तो ठीक है अन्यथा सरकार को नोटिस देकर उस क़ानून के विरुद्ध सविनय अवज्ञा आंदोलन आरंभ कर देना चाहिये। सविनय अवज्ञा आंदोलन का अर्थ यह होता है कि जनता क़ानून तोड़ने में हिंसा का व्यवहार न करे वरन् अहिंसात्मक तरीक़ों से काम ले। आज हमारे देश के वासी, महात्मा गांधी के नेतृत्व के कारण इस सविनय अवज्ञा आंदोलन के अर्थ को भली भाँति जान गये हैं। गांधीजी के सारे भी आंदोलन अहिंसात्मक थे और उन्होंने कभी भी हिंसा का प्रचार नहीं किया। सविनय अवज्ञा आंदोलन, इस प्रकार, संसार को भारत के राष्ट्रपिता महात्मा गांधी की अनुपम देन है।

क्या मनुष्य किसी दशा में फ़ौज में काम करने से इन्कार कर सकता है? (Can a citizen refuse to serve in the Army when called upon to do so under any circumstances?)

पिछले प्रश्न से ही मिलता-जुलता एक और प्रश्न है जो कभी कभी राजनैतिक विद्वानों से पूछा जाता है; और वह यह कि क्या किसी दशा में कोई नागरिक, सरकार की आज्ञा के विरुद्ध, फौज में काम करने से इन्कार कर सकता है?

इस प्रश्न का उत्तर भी बिल्कुल स्पष्ट है। यदि किसी देश की सरकार अपनी जनता से फ़ौज में भरती होने के लिये इसलिये कहती है कि उस देश को किसी विदेशी आक्रमण से अपनी रक्षा करनी है, अथवा

अपनी स्वतंत्रता की लड़ाई लड़नी है, तो नागरिकों का धर्म है कि वह अपने राष्ट्र की इज्ज़त क़ायम रखने के लिये हर प्रकार की कुरबानी दें, तथा अपने प्राणों की आहुति देने से भी मुँह न मोड़ें। परन्तु यदि किसी देश की सरकार किसी दूसरे मुल्क पर चढ़ाई करने, या उसकी स्वतंत्रता का अपहरण करने के लिये, जनता से फ़ौज में भरती होने के लिए कहती है, तो ऐसी दशा में जनता का धर्म हो जाता है कि वह ऐसे घृणित कार्य में सरकार का हाथ बटाने से इन्कार कर दे। युद्ध में लाखों नागरिकों के अमूल्य जीवन, करोड़ों रुपये की धन-सामग्री, तथा जनता के सुख और ऐश्वर्य की बलि देनी पड़ती है। इसलिये युद्ध केवल ऐसी ही दशा में करना चाहिये जब इसके बिना राष्ट्र की स्वतन्त्रता अथवा मान कायम न रह सके। साम्राज्यवादी उद्देश्यों के लिए किये गये युद्ध में जनता का धर्म है कि वह किसी भी प्रकार का सहयोग न दे।

योग्यता-प्रश्न

(१) क़ानून की व्याख्या कीजिये। उसके विभिन्न प्रकार क्या हैं? नागरिकशास्त्र में कौन से क़ानून का अध्ययन किया जाता है?

(२) क़ानून के विभिन्न स्रोत कौन से हैं?

(३) क़ानून और नीतिशास्त्र के सम्बन्ध पर प्रकाश डालिये।

(४) "क़ानून राज्य की इच्छा का स्वरूप है"। "क़ानून सार्वजनिक मत का स्वरूप है।" क्या इन दोनों कथनों में कोई पारस्परिक भिन्नता है?

(५) प्राकृतिक क़ानून क्या हैं? उनका नागरिक क़ानूनों से कैसा सम्बन्ध है? (यू० पी०, १९३३)

(६) क्या आप अच्छे क़ानून और ख़राब क़ानून को पहिचान सकते हैं? यदि हाँ, तो इस पहिचान का क्या आधार है? आप ख़राब क़ानून को कैसे रद्द करेंगे? (यू० पी०, १९३२, १९३६)

(७) क़ानून की व्याख्या कीजिये। क़ानून के स्रोत और उनके प्रकार कौन कौन से हैं? (यू० पी०, १९३२, १९३६, १९४२)

(८) निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिये—
  (१) वैधानिक क़ानून
  (२) स्टैचूट्स Statutes......
  (३) साधारण क़ानून
  (४) नैतिक न्याय (Equity)

(९) क्या नागरिक को राज्य के द्वारा आदेश दिये जाने पर युद्ध से इन्कार करने का अधिकार है? किन परिस्थितियों में वह राज्य के आदेश का विरोध कर सकता है? (यू० पी०, १९३४)

(१०) क़ानून का उद्देश्य क्या है? क्या आप एक ऐसे राज्य की प्रतिमा खींच सकते हैं जहाँ कोई क़ानून न हो। (यू० पी०, १९४५)

पंद्रहवाँ अध्याय

राज्य का संविधान (Constitution of the State)

§ १. संविधान का अर्थ और आवश्यकता

संविधान का अर्थ

संविधान शब्द की व्याख्या भिन्न-भिन्न लेखकों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से की है। प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ डाइसी (Diecy)* लिखता है "शासन संविधान उन राजकीय नियमों को कहते हैं जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से राज्य पर अपना प्रभाव डालते हैं।" गिलक्राइस्ट (Gilchrist) इसकी व्याख्या इस प्रकार करता है, 'ये वे क़ानून और क़ायदे हैं जो लिखित या अलिखित रूप में शासन की व्यवस्था का निश्चय, उसके विविध अंगों के अधिकारों का वितरण, तथा उन आम सिद्धान्तों का निर्णय करते हैं जिनके अनुसार किसी देश की सरकार चलाई जाती है।" ब्राइस (Bryce) के अनुसार "शासन संविधान उन नियमों को कहते हैं जो सरकार के आकार का निर्णय और उसके प्रति नागरिकों के अधिकार और कर्तव्यों का निश्चय करते हैं।" लीकौक (Leacock) ने इसकी परिभाषा केवल छः शब्दों में की है, उसके कथनानुसार, "किसी राज्य के ढाँचे को उसका शासन विधान कहते हैं।" इस प्रकार हम देखते हैं कि संविधान उन क़ायदों और क़ानूनों का समूह है जो चाहे लिखित हों अथवा अलिखित, जिनके अनुसार किसी देश का शासन चलाया जाता है।

---

*"All rules which directly or indirectly affect distribution or exercise of sovereign power in the state."—(Diecy)

संविधान की आवश्यकता

शासन को जन-मत के अनुसार चलाने के लिए तथा शासकों को जनता के हित के विरुद्ध मनमाने तरीक़ों पर काम करने से रोकने के लिए उसे कुछ खास क़ानूनों और कायदों में आबद्ध करना पड़ता है। सरकार का संगठन सारे देश में नीचे से ऊपर तक फैला रहता है। गाँव के चौकीदार से लेकर सरकार के बड़े से बड़े कर्मचारी सरकार के सङ्गठन के अन्तर्गत काम करते हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि सरकार के इन विभिन्न कर्मचारियों के अधिकार तथा कर्तव्य भली भाँति स्पष्ट रूप से वर्णित हो जिससे वह अपने अधिकारों का दुरुपयोग न कर सकें। इन नियमों के न होने से शासक जालिम बन जाते हैं और जनता के अधिकार सुरक्षित नहीं रहते। इसलिए प्रत्येक राज्य में कुछ ऐसे नियमों की आवश्यकता पड़ती है जो चाहे लिखित हों या अलिखित, परन्तु जो शासन की शक्तियों को सीमित रख सकें तथा उसके विभिन्न अंगों का कार्य भली भाँति बतला सकें। इन्हीं नियमों को शासन-संविधान कहा जाता है।

संविधान की आवश्यकताएँ (Requisites of Constitution)

गैटल (Gettel) अच्छे संविधान के लिये निम्नलिखित गुण अनिवार्य बतलाता है—

(१) स्पष्टता (Clarity or Definiteness)—प्रत्येक शासन संविधान स्पष्ट और सुलझा हुआ होना चाहिये। इसमें किसी प्रकार की संदेहयुक्त बातें नहीं होनी चाहियें। कोई भी उसे पढ़कर समझ ले और उसके मन में दोअमली बात पैदा न हो। शासन संविधान जितना भी स्पष्ट होगा, सरकार को उतनी ही कम कठिनाइयाँ उठानी पड़ेंगी। इसी कारण से आज-कल लिखित संविधान, जिनकी शब्द रचना बहुत सावधानी के साथ की गई हो, अत्यन्त सन्तोषजनक समझे जाते हैं।

(२) व्यापकता (Comprehensiveness)—संविधान

को शासन के सभी क्षेत्रों अर्थात् धारा सभा, कार्यकारिणी और न्याय संस्थाओं का वर्णन करना चाहिये। उसके अध्ययन से सरकार की पूरी जानकारी हो जानी चाहिये। ऐसा न हो कि उसके पढ़ने के पश्चात् भी किसी व्यक्ति को सरकार का पूरा संगठन समझ में न आये। संविधान में विविध अंगों के अधिकारों का विस्तृत वर्णन होना चाहिये, जिससे सरकारी कर्मचारी अपनी मनमानी न कर सकें।

(३) सूक्ष्मता (Brevity)—संविधान यथासम्भव सूक्ष्म होना चाहिये, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उसकी व्यापकता और स्पष्टता ही नष्ट हो जाय। इसका आशय केवल इतना है कि संविधान में फिजूल की बातों का वर्णन नहीं होना चाहिये। उसमें केवल शासन के साधारण सिद्धान्तों का वर्णन किया जाना चाहिये। विस्तृत संविधान में बदलती हुई परिस्थितियों के साथ चलने की क्षमता नहीं होती, उसमें आगे चलकर बहुत से संशोधन और परिवर्तनों की आवश्यकता पड़ती है। इसलिए जहाँ तक बने संविधान सूक्ष्म होना चाहिये।

(४) परिवर्तनशीलता (Flexibility)—किसी भी देश का संविधान मनुष्यों की आवश्यकताओं और समय की परिस्थिति के अनुसार बनना चाहिये। कोई भी संविधान सदा सर्वदा के लिए पूर्ण नहीं माना जा सकता; जो आज उचित होता है वही कल अनुचित हो सकता है। उसे उन्नतिशील युग के साथ चलना चाहिये, अर्थात् समय की आवश्यकता के अनुसार उसमें तब्दीली की गुँजायश होनी चाहिये। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि उसे अपना स्थाईपन त्याग देना चाहिये और प्रतिदिन बदलते रहना चाहिये। विधान में स्थायीपन और परिवर्तनशीलता का एक साथ समन्वय होना चाहिये।

गैटल द्वारा अच्छे संविधान की उपरोक्त वर्णित आवश्यकताओं के अतिरिक्त कुछ लेखक इसके दो अन्य गुण भी बतलाते हैं, (१) अधिकारों की घोषणा और (२) न्याय विभाग की स्वाधीनता।

(५) **अधिकारों की घोषणा** (Declaration of Rights) —अच्छे संविधान में व्यक्तिगत स्वाधीनता की रक्षा के उद्देश्य से नागरिकों के मूल अधिकारों की घोषणा अवश्य होनी चाहिये।

(६) **न्याय विभाग की स्वाधीनता** (Independence of Judiciary)—इसी प्रकार निष्पक्ष न्याय की प्राप्ति के लिये स्वतंत्र न्याय विभाग की व्यवस्था होनी चाहिये।

§२. संविधानों का वर्गीकरण (Classification of Constitutions)

शासन संविधानों का वर्गीकरण कई प्रकार से किया जाता है। कुछ लेखक ऐतिहासिक आधार पर, कुछ स्पष्टीकरण की नीति से और कुछ भौगोलिक दृष्टि से इसका विभाजन करते हैं। एक ही शासन-विधान कई विभाजनों में लाया जा सकता है। यह विभाजन चार प्रकार से किये जाते हैं—

(१) विकसित और निर्मित संविधान (Evolved and enacted Constitution)

विकसित संविधान—विकसित संविधान हम एक ऐसे विधान को कहते हैं जो किसी एक विशेष समय में किसी संविधान परिषद द्वारा नहीं बनाया जाता, वरन् जो इतिहास की उपज है और धीरे-धीरे रीति-रिवाजों तथा जन-श्रुतियों के आधार पर बन जाता है। पुराने युग में जब जनता को शांति और सुव्यवस्था की आवश्यकता प्रतीत हुई तो उसने कुछ रीति-रिवाज और जन-श्रुतियाँ, अपना कार्य चलाने के लिए, अपना लीं। ये रीति-रिवाज और जन-श्रुतियाँ समय की बदलती हुई आवश्यकताओं के अनुसार बदलती गईं और अन्त में यहीं राज्य का संविधान बन गईं। इङ्गलैण्ड का संविधान इसी प्रकार बना और अभी भी वह उसी प्रकार उन्नति करता चला जा रहा है। इस प्रकार के संविधान की सबसे बड़ी खूबी यह होती है कि उसको बदलने के लिए किसी धारा सभा या

संविधान परिषद् का अधिवेशन नहीं बुलाना पड़ता, वह स्वयं जनता की राजनैतिक जागृति के कारण बदलता रहता है।

निर्मित संविधान (Enacted Constitution)—निर्मित संविधान वह विधान है जो किसी संविधान परिषद् द्वारा किसी खास समय में बनाया जाता है। इस संस्था के सदस्य किसी केन्द्रवर्ती स्थान में एकत्रित होकर पारस्परिक विचार विनिमय के बाद एक लिखित संविधान बनाते हैं। अमेरिका का संविधान इसी प्रकार से सन् १७७८ में बनाया गया था। निर्मित संविधान निश्चित रूप से लिखित संविधान होता है। वह अलिखित नहीं हो सकता।

(२) लिखित और अलिखित संविधान (Written and Unwritten Constitution)

लिखित संविधान—(Written Constitution)—लिखित संविधान वह विधान कहे जाते हैं जो रीति-रिवाजों या जन-श्रुतियों के आधार पर नहीं वरन् लिखित क़ानूनों के आधार पर अवलम्बित होते हैं। वह संविधान परिषद् के अकथ परिश्रम के परिणाम होते हैं। परिषद् के लिखित संविधान में, मनुष्यों के मौलिक अधिकार, शासन यंत्र की बनावट, उसके काम करने के तरीके, धारा सभा, कार्यकारिणी तथा न्यायालय के अधिकार तथा कर्तव्य, इत्यादि बातों का स्पष्ट रूप से वर्णन होता है।

अलिखित संविधान (Unwritten Constitution)—गार्नर (Garner) के कथनानुसार अलिखित संविधान वह विधान है, "जिसमें राज्य के संगठन की अधिकांश बातें किसी कागज़ या पुस्तक में संकलित नहीं की जातीं।" इस प्रकार का संविधान देश के रीति-रिवाज और रस्मों के आधार पर अवलम्बित रहता है। वह राष्ट्रीय जीवन के विकास के साथ ही बढ़ता है। इङ्गलैण्ड में इसी प्रकार का अलिखित संविधान है।

आलोचना—लिखित और अलिखित संविधान की भिन्नता वास्तव में केवल मात्रा की भिन्नता है। तत्व की भिन्नता नहीं। संसार में ऐसा कोई भी संविधान नहीं है जो पूर्ण रूप से लिखित या पूर्ण रूप से अलिखित हो। इङ्गलैण्ड का संविधान अलिखित विधान कहलाता है परन्तु उसके भी बहुत से लिखित अङ्ग हैं। जैसे अधिकारों का पत्र (Bill of Rights), मैगना कार्टा (Magna Charta) इत्यादि।

इसी प्रकार अमेरिका का संविधान में, जो लिखित संविधान कहलाता है, रीति-रिवाज और जन-श्रुतियों के रूप में, बहुत से अलिखित अंश हैं। राजनैतिक दलों के अधिकार और सभापति का चुनाव, इसके कुछ उदाहरण हैं।

(३) परिवर्तनशील और अपरिवर्तनशील संविधान (Flexible and Rigid Constitutions)

परिवर्तनशील सविधान (Flexible Constitution)—परिवर्तनशील संविधान वह है जो क़ानून बनाने के साधारण तरीकों के द्वारा बदला जा सकता है। ऐसी दशा में, वैधानिक क़ानून और साधारण क़ानूनों में किसी प्रकार का अन्तर नहीं रहता और इसलिये वैधानिक नियमों को बदलने के लिए किसी खास शासन-व्यवस्था की ज़रूरत नहीं रहती। वे उसी सत्ता द्वारा बनाए तथा बदले जा सकते हैं जिस पर साधारण क़ानून बनाने की ज़िम्मेदारी रहती है। इङ्गलैण्ड में इसी प्रकार का विधान है। इस देश में वैधानिक क़ानून उसी प्रकार बदले जा सकते हैं, जिस प्रकार कोई साधारण क़ानून। उदाहरणार्थ ब्रिटिश पार्लियामेन्ट, हाउस औफ कौमन्स की अवधि बढ़ाने का क़ानून पास कर सकती है, वह राज्य प्रथा को रद्द कर सकती है, वह मतदाताओं की योग्यता में परिवर्तन कर सकती है इत्यादि।

अपरिवर्तनशील संविधान (Rigid Constitution)—यह वह संविधान है जो आसानी से न बदला जा सके अर्थात् जिसको

बदलने के लिये असाधारण तरीकों का व्यवहार करना पड़े। इस प्रकार के संविधान में साधारण तथा वैधानिक कानूनों में अन्तर होता है। साधारण कानून देश की व्यवस्थापिका सभा द्वारा बदले जा सकते हैं। वे देश के साधारण कानूनों की अपेक्षा बहुत पवित्र समझे जाते हैं। उन्हें बदलने के लिये विशेष व्यवस्था की आवश्यकता पड़ती है। अमेरिका, फ्रांस और हिन्दुस्तान के विधान अपरिवर्तनशील हैं। लिखित संविधान बहुधा अपरिवर्तनशील और अलिखित संविधान परिवर्तनशील होते हैं।

दोनों प्रकार के संविधानों के गुण और दोष (Merits and Demerits) **परिवर्तनशील संविधान के गुण (Merits of Flexible Constitution** — परिवर्तनशील संविधान में गुण और अवगुण दोनों होते हैं। पहिले हम इसके गुणों पर विचार करेंगे। (१) सर्वप्रथम, परिवर्तनशील संविधान के बदलने में किसी प्रकार की दिक़्क़त नहीं होती। वह समाज की नई और परिवर्तित दशा के अनुसार बदला जा सकता है। उसको बदलने के लिये किसी विशेष आडम्बर की आवश्यकता नहीं पड़ती। (२) दूसरे ऐसे संविधान के अन्तर्गत, क्रान्ति का बीजारोपण, देश में नहीं होने पाता। जनता जब चाहे विधान को बदल सकती है। (३) तीसरे, वह समय के अनुसार चलता है और सभ्यता की उन्नति के साथ साथ आगे बढ़ता है। परिवर्तनशील संविधान विशेष परिस्थितियों, जैसे युद्ध या राष्ट्रीय संकट का मुक़ाबला करने के लिये, सुगमता से मोड़ा और मरोड़ा जा सकता है। इसके विपरीत अपरिवर्तनशील संविधान उस कपड़े के समान है जो मनुष्य के शरीर के नाप का बनाया जाता है; और जिसके बनाते समय मनुष्य के शरीर के विकास और वृद्धि का तनिक भी ध्यान नहीं रखा जाता।

परिवर्तनशील संविधान के दोष (Demerits of Flexi-

ble Constitution)— जहाँ परिवर्तनशील संविधान में इतने गुण हैं वहाँ इसमें कुछ दोष भी पाए जाते हैं :—

(१) सर्वप्रथम यह व्यवस्थापिका सभा के सदस्यों के हाथ में बहुत अधिक अधिकार दे देता है, जो स्वेच्छाचारी बनकर मनुष्यों के अधिकारों का अपहरण कर सकते हैं।

(२) दूसरे, संविधान में हर समय परिवर्तन किया जाना उचित नहीं क्योंकि इससे दलबन्दियाँ और द्वेष की भावनाएँ बढ़ जाती हैं और सार्वजनिक कार्य में बहुत अस्तव्यस्तता उत्पन्न हो जाती है। जनता आवेश में आकर बिना सोचे समझे संविधान को बदल डालता है। वैधानिक क़ानूनों में आये दिन परिवर्तन होने से देश का शासन ठीक प्रकार से नहीं चल सकता।

(३) तीसरे, परिवर्तनशील संविधान केवल वही समाज स्वीकार कर सकता है जिसकी राजनैतिक शिक्षा उच्चतम शिखर तक पहुँच चुकी हो। पिछड़े हुए देश इस प्रकार के विधान पर अमल नहीं कर सकते।

अपरिवर्तनशील संविधान के गुण (Advantages of Flexible Constitution)—परिवर्तनशील संविधान के समान अपरिवर्तनशील संविधान में भी गुण और अवगुण दोनों का समावेश होता है।

(१) सर्वप्रथम, अपरिवर्तनशील संविधान, निश्चित, स्थाई और दृढ़ होता है। उसे एक साधारण आदमी भी आसानी से समझ सकता है; और उसे पढ़कर अपने अधिकारों को जान सकता है। वह अलिखित संविधान के सब सन्देहों से परे रहता है।

(२) अपरिवर्तनशील सविधान मनुष्य की व्यक्तिगत स्वाधीनता की अधिक रक्षा करता है, क्योंकि इसके अंतर्गत कार्यकारिणी सभा के अधिकार सीमित रहते हैं। इसके अतिरिक्त इस प्रकार के विधान में बहुधा नागरिकों के मौलिक अधिकारों का भी वर्णन होता है।

(३) तीसरे, यह अल्पसंख्यक जातियों के अधिकारों की रक्षा करता है; और इस प्रकार उनकी बहुमूल्य सेवा करता है।

दोष (Disadvantages)—परन्तु इस प्रकार के संविधान में कुछ कमज़ोरियाँ भी होती हैं, जैसे (१) यह आसानी से नहीं बदला जा सकता और कभी-कभी इसमें बहुत आवश्यक परिवर्तन भी नहीं किये जा सकते।

(२) यह समय की बदलती हुई आवश्यकताओं के अनुसार अपने आप को नहीं बदल सकता, और, इस प्रकार, ऐसा विधान, राष्ट्र की स्वास्थ्य-पूर्ण उन्नति और विकास में बाधक सिद्ध होता है। लार्ड मैकाले ने बहुत ठीक ही कहा था कि "क्रांति का मूल कारण शासन संविधान की अपरिवर्तनशीलता है।"

(३) यह क़ानूनी बारीकियों से भरा हुआ और क़ानूनी भाषा में लिखा हुआ होने के कारण, साधारण जनता द्वारा नहीं समझा जा सकता। इसका अर्थ केवल बड़े-बड़े वैधानिक पंडित ही समझ सकते हैं और उनकी राय में भी किसी एक धारा के आशय के सम्बन्ध में मतभेद हो सकता है।

परिणाम—इस प्रकार हम देखते हैं कि परिवर्तनशील तथा अपरिवर्तनशील दोनों ही प्रकार के संविधानों के गुण और दोष दोनों होते हैं। वास्तव में एक संविधान के गुण दूसरे के दोष, और दूसरे के दोष उसके गुण कहलाते हैं। उदाहरणार्थ परिवर्तनशील संविधान का समय के अनुसार बदलना अपरिवर्तनशील संविधान का दोष है, और अनिश्चितता, जो परिवर्तनशील संविधान का दोष है, वही अपरिवर्तनशील संविधान का गुण है।

हमारी राय में जिन समाजों की राजनैतिक शिक्षा उच्च दर्जे की पूर्णता प्राप्त कर चुकी हो अर्थात् जहाँ के लोग शिक्षित और उन्नतिशील हों, और अपने अधिकारों और कर्तव्यों को बहुत अच्छी प्रकार से समझते हों वहीं अलिखित संविधान सफल हो सकता है।

परन्तु, जिस समाज की शिक्षा अपूर्ण है, और जहाँ की जनसंख्या समान धर्मानुयायी नहीं है, अर्थात् जहाँ अल्पसंख्यक जातियाँ भी रहती हैं, उन स्थानों के लिये लिखित अथवा अपरिवर्तनशील संविधान अधिक उचित और न्यायसंगत जान पड़ता है।

वर्तमान समय में राज्यों की मनोवृत्ति निम्नलिखित कारणों से लिखित और अपरिवर्तनशील संविधान बनाने की ओर ही दिखलाई पड़ती है —

(१) कार्यकारिणी शासन के अधिकारों को सीमित रखने के लिए

(२) मनुष्यों के मौलिक अधिकारों की घोषणा करने के लिए

(३) परस्पर विरोधी रीति-रिवाज और जनश्रुतियों के मतभेद का मिटाने के लिए (४) संघीय विधान का निर्माण करने के लिए और अन्त में (५) पुराने विधान का पुनः निर्माण करने के लिए।

एकात्मक और संघात्मक शासन संविधान (Unitary and Federal Constitution)

एकात्मक शासन संविधान (Unitary Constitution)—यह वह संविधान है, जिसमें सरकार अपना सब काम एक केन्द्रीय स्थान से करती है। सुविधा की ग ज से, केन्द्रीय शासन, प्रान्तों अथवा लोकल बोर्डों को स्थापना कर सकता है तथा उन्हें थोड़े-बहुत अधिकार प्रदान कर सकता है, परन्तु वास्तव में सम्पूर्ण अधिकार केन्द्रीय सरकार में ही निहित रहते हैं; और इन अधिकारों को वह अपनी इच्छानुसार छीन अथवा बढ़ा सकता है। इङ्गलैण्ड, फ्रांस और इटली में इसी प्रकार के एकात्मक शासन विधान हैं एकात्मक संविधान में केन्द्रीय धारा सभा, केन्द्रीय न्यायालय तथा केन्द्रीय कार्यकारिणी को प्रमुख शक्ति प्राप्त होती है। इन्हीं की अध्यक्षता में बाकी शक्तियाँ अपना काम करती हैं। ऐसा संविधान उन राज्यों में अधिक सफल हो सकता है जिनका क्षेत्रफल छोटा

हो तथा जिनकी जनता की भाषा तथा रस्म रिवाज़ में अधिक विषमता न हो।

संघात्मक संविधान (Federal Constitution)—यह वह विधान है जिसमें बहुत से स्वतंत्र राज्य मिलकर, समान उद्देश्य की प्राप्ति के लिए एक संघ शासन क़ायम करते हैं। इस संघ में, प्रत्येक संघीय राज्य, विशेष क्षेत्रों के अन्तर्गत अपनी स्वाधीनता क़ायम रखता है, परन्तु कुछ ऐसे विषयों का जिसमें संघ के दूसरे राज्यों के समान ही उसका हित होता है, वह एक केन्द्रीय सत्ता को सुपुर्द कर देता है। जैसे विषयों में हम देश की वाह्य आक्रमणों से रक्षा, रेल, तार, डाक, इत्यादि का प्रबन्ध, शामिल कर सकते हैं। बाक़ी मामलों में प्रान्त स्वतन्त्र रहते हैं, वह इच्छानुसार उनका प्रबन्ध कर सकते हैं। इस प्रकार का शासन संविधान अमरीका, रूस, आस्ट्रेलिया, कैनाडा, अफ्रीका आदि देशों में है।

संघात्मक शासन संविधान के अन्दर शासन की सभी मशीनें दोहरी होती हैं—एक केन्द्रीय शासन की और दूसरी राज्यों या प्रान्तों की। दोनों को ही अपनी अलग-अलग मशीनें रखनी पड़ती हैं। दो धारा सभाएँ, दो कार्यकारिणी, दो न्यायालय, दोहरी राजसत्ता, दो प्रकार के क़ानून इत्यादि दोहरी चीज़ें, संघात्मक शासन विधान में पाई जाती हैं। नागरिकों को दो जगह के नागरिक अधिकार प्राप्त होते हैं—एक संघीय शासन के, दूसरे प्रान्त या राज्य की सरकार के। इसलिए उन्हें दोनों ही सरकारों के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन करना पड़ता है।

एकात्मक और संघीय शासन में अन्तर (Distinction between Unitary and Federal Governments)

(१) संघीय शासन में अधिकार बटे हुए रहते हैं, एकात्मक विधान में वह केन्द्रीभूत होते हैं।

(२) संघीय शासन में शासन के अंग, संविधान से अधिकार-प्राप्त

करते हैं। एकात्मक राज्य में, प्रान्त, केन्द्रीय शासन से अधिकार प्राप्त करते हैं।

(३) संघीय विधान लिखित और अपरिवर्तनशील रहता है। एकात्मक राज्य के लिए ऐसा संविधान ज़रूरी नहीं है।

(४) संघीय शासन में, एक स्वतंत्र न्यायालय (supreme court) का होना अनिवार्य है, एकात्मक संविधान में नहीं।

संघशासन के उद्देश्य (Purposes of Federation)

संघ शासन की स्थापना मुख्यतया निम्नलिखित उद्देश्यों से की जाती है :—

(१) छोटे-छोटे राज्यों के एक साथ मिलकर संघ बनाने से उनकी शक्ति बढ़ जाती है और वह बाहरी आक्रमण का आसानी से मुक़ाबला कर सकते हैं।

(२) छोटे राज्य, आमदनी के साधनों की कमी के कारण, अपनी आर्थिक उन्नति ठीक प्रकार से नहीं कर सकते। बहुत से राज्यों के एक साथ मिलकर काम करने से यह असुविधा जाती रहती है।

(३) बहुत से राज्य जिनकी सांस्कृतिक तथा राष्ट्रीय परम्परा समान होती है, परन्तु जो अलग-अलग राज्यों में बँटे हुए रहते हैं अपनी राष्ट्रीय एकता प्राप्त करने के लिए एक संघ बना लेते हैं।

(४) संघ शासन विधान से देश की अंतर्राष्ट्रीय मर्यादा बढ़ जाती है। उसकी राजनैतिक शक्ति बढ़ने से विदेशी शक्तियाँ उसका आदर-सत्कार करने लगती हैं।

(५) संघात्मक शासन विधान में बहुत से राज्यों के एक साथ मिलकर काम करने से, उनका खर्चा कम हो जाता है। बची हुई रकम से देश की औद्योगिक तथा आर्थिक उन्नति आसानी से की जा सकती है।

(६) इस प्रकार के शासन में एकात्मक शासन तथा स्वतंत्र शासन

दोनों के गुणों का सम्मिश्रण हो जाता है और उनकी बुराइयाँ दूर हो जाती हैं।

संघ शासन की स्थापना के लिए आवश्यक शर्तें (Requisite Conditions for the formation of a Federation)

संघ शासन विधान के लिए कुछ शर्तों की पूर्ति आवश्यक है, इनके बिना संघ की स्थापना नहीं हो सकती। डाइसी (Diecy) के कथनानुसार यह शर्तें निम्नलिखित हैं :—

(१) संघ की स्थापना के लिए बहुत से छोटे-छोटे राज्य—कम से कम दो—होने चाहिएँ।

(२) संघ में शामिल होने की इच्छा रखने वाले राज्य भौगोलिक दृष्टि से एक ,दूसरे से मिले-जुले होने चाहिएँ—दूर-दूर नहीं। उनका क्षेत्रफल भी जहां तक हो समान ही होना चाहिये जिससे कोई बड़ा अंग छोटे अंग को दबाकर न रख सके।

(३) संघ में मिलने वाले राज्यों की संस्कृति, इतिहास, भाषा, रीति-रिवाज़, धर्म, जाति इत्यादि एक से ही होने चाहिएँ जिससे उनमें राष्ट्रीय भावना की जाग्रति उत्पन्न होने में दिक्कत न हो।

(४) संघ में शामिल होने वाले राज्यों में मिलकर काम करने की उत्कंठा होनी चाहिए परन्तु एक रूप होकर नहीं। एक रूप होकर काम करने की भावना से संघ का नहीं एकात्मक (Unitary) राज्य का जन्म होता है। उपरोक्त शर्तों के पूरा होने पर ही एक अच्छे और स्थाई संघ की स्थापना हो सकती है।

संघीय संविधान के प्रमुख अंग (Salient Features of a Federal Constitution)

संघीय शासन का संविधान बनाते समय तीन बातों का ध्यान अवश्य रखना चाहिये—

(१) संविधान अपरिवर्तनशील और लिखित हो—बहुत से

राज्यों के बीच, कुछ समान उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए एक समझौते या मुहायदे का नाम ही संघ है। इसलिए यह आवश्यक है कि इस समझौते या मुहायदे की शर्तें विधान के रूप में लिख ली जायँ और बाद में उनको आसानी से न बदला जा सके। संविधान के अलिखित होने से केन्द्रीय और प्रान्तीय राज्य की सरकारों में मतभेद हो सकता है।

(२) **अधिकारों का बटवारा**—केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों के अधिकार भली भाँति स्पष्ट होने चाहिए। उनका विभाजन साफ़ और स्पष्ट होना चाहिए। जिस उद्देश्य से संघीय राज्य की स्थापना की जाती है उसमें राष्ट्रीय शासन और पृथक् राज्यों के अधिकारों का बटवारा सन्निहित होता है, और इसीलिए, उनके पृथक् कार्य क्षेत्रों को विशेष रूप से निश्चित कर देना चाहिए। बटवारे का सिद्धान्त यह होता है कि जो अधिकार सब अंगो के समान हित के लिए होते हैं अर्थात् जिन विषयों में समान नियम तथा नियंत्रण की आवश्यकता पड़ती है वे केन्द्रीय शासन के अधिकार में रखे जाते हैं, बाकी विषय स्थानीय अंगों के अधिकार में।

उदाहरणार्थ, इस प्रकार के अधिकार जैसे विदेशी नीति (Foreign Policy) रक्षा (Defence), करैन्सी (Currency), सिक्का (Coinage), डाक और तार (Post and Telegraph), आयात और निर्यात (Customs), मुद्रण और प्रकाशन अधिकार (Patents and Copyrights) इत्यादि सभी जगह केन्द्रीय शासन के सुपुर्द किये जाते हैं। दूसरे अधिकार जैसे शान्ति और व्यवस्था (Law and orber) जेल, न्याय, शिक्षा, स्वास्थ्य, उद्योग इत्यादि प्रान्तों के अधिकार में रखे जाते हैं। संविधान के बचे हुये अधिकार (Residuary powers) कुछ देशों जैसे अमरीका और स्विटजरलैंड में केन्द्रीय शासन को दिये जाते हैं। परन्तु कुछ दूसरे संविधानों जैसे कैनेडा में संघीय शासन को दिये जाते हैं, प्रान्तों को नहीं।

(३) **संविधान के संरक्षण के लिए एक स्वतंत्र न्यायालय**

की स्थापना (The establishment of a court to act as interpreter or guardian of the Constitution)—संघ शासन में विषयों का विभाजन कितना ही पूर्ण क्यों न हो प्रान्तीय तथा केन्द्रीय सरकारों में संघर्ष अनिवार्य ही रहता है। लिखित शब्दों की व्याख्या कई प्रकार से की जा सकती है। इसलिए संघ तथा राज्यों की सरकारों के झगड़ों का फैसला करने के लिए प्रत्येक संघीय राज्य में एक स्वतन्त्र न्यायालय का होना अनिवार्य है। यह न्यायालय संघ शासन का रक्षक कहा जाता है।

उपसंहार—शासन विधानों के उपरोक्त वर्णन के पश्चात् यह जानने की अभिलाषा होती है कि किस प्रकार का संविधान सबसे अच्छा माना जाता है। इस सम्बन्ध में यहाँ हम यह कह देना आवश्यक समझते हैं कि कोई एक प्रकार का संविधान प्रत्येक देश के लिए उपयुक्त सिद्ध नहीं हो सकता। संविधान की उपयोगिता देश की भौगोलिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक अवस्था पर निर्भर होती हैं। एक देश के लिए एकात्मक और दूसरे के लिए संघीय शासन उपयुक्त हो सकता है। इसी प्रकार की बात लिखित और अलिखित संविधान के बारे में भी है। अच्छे संविधान की पहिचान यही है कि वह कहाँ तक जनता की सच्ची इच्छा का प्रतिनिधित्व करता है।

शासन संविधान के विकास के साधन (Methods of the Growth of Constitutions)

प्रत्येक देश के शासन संविधान में समय की क्रान्ति के साथ-साथ कुछ न कुछ विकास की आवश्यकता पड़ती है, इस तरह के विकास के तीन मुख्य साधन हैं—

(१) संशोधन द्वारा (By Amendment)—शासन संविधान में लिखित परिवर्तन करने के भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न तरीकें हैं। अमरीका में यह परिवर्तन वहाँ की कॉंग्रेस के तीन-चौथाई

तथा राज्यों की धारा सभाओं के दो-तिहाई बहुमत से किया जाता है, इङ्गलैण्ड में यह, पार्लियामेंट द्वारा किसी दूसरे साधारण कानून की भाँति किया जा सकता है। फ्रान्स में यह परिवर्तन वहाँ की नैशनल ऐसेम्बली ही कर सकती है। वर्तमान् समय में अधिकतर वैधानिक परिवर्तन लिखित रूप में ही किये जाते हैं।

(२) **न्यायालयों के फैसले द्वारा**—बहुत से संविधानों में न्यायालयों के फैसलों के द्वारा परिवर्तन किए जाते हैं। जब किसी विषय पर संविधान में कोई निश्चित बात नहीं होती या उसकी किसी धारा के आशय के सम्बन्ध में राजनैतिक पंडितों में मतभेद होता है तो अदालतें ही ठीक बात का निश्चय करती हैं। यही अदालतों के फैसले आगे चलकर शासन संविधान के नियम बन जाते हैं।

(३) **रीति-रिवाज** (Customs and Conventions)—प्रत्येक शासन विधान में कुछ रीति-रिवाज़ भी जन्म ले लेते हैं। जनता की अनुमति के कारण यह शासन विधान के आवश्यक अंग बन जाते हैं। इनके तोड़े जाने पर कोई वैधानिक आपत्ति तो नहीं होती परन्तु जनमत, इनके तोड़ने वालों के विरुद्ध हो जाता है। इङ्गलैण्ड में इन्हीं रीति-रिवाज़ों के आधार पर वहाँ का संविधान आश्रित है।

योग्यता-प्रश्न

(१) आप राज्य के संविधान से क्या अर्थ समझते हैं? परिवतनशील और अपरिवर्तनशील संविधानों के अन्तर को स्पष्ट रूप से समझाइए।

(यू० पी०, १९३७)

(२) ऐसा कहा जाता है कि लिखित और अलिखित, परिवतनशील और अपरिवतनशील संविधान का अन्तर केवल मात्रा (Degree) का है, प्रकार (Kind) का नहीं। इस पर प्रकाश डालिये।

(३) आप संविधान शब्द से क्या समझते हैं? किस सिद्धान्त पर वर्तमान संविधानों का वर्गीकरण अवलम्बित है? (यू० पी०, १९३६)

(४) अच्छे संविधान की क्या क्या आवश्यकताएँ हैं ?

(५) विभिन्न प्रकार के संविधान के तरीक़ों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए और उनका वर्गीकरण किस आधार पर किया गया है उसे समझाइए।

(यू० पी०, १९३२)

(६) एकात्मक और संघीय विधान के भेद को स्पष्ट रूप से समझाइए ।

(यू० पी०, १९३६)

सोलहवाँ अध्याय

राज्य और शासन का वर्गीकरण

§ १. राज्यों का वर्गीकरण

वर्गीकरण का आधार

राजनैतिक दार्शनिकों में राज्य के वर्गीकरण के आधार के संबन्ध में मतभेद हैं। कुछ लेखकों का कहना है कि राज्यों का वर्गीकरण शासन के आधार पर होना चाहिये, क्योंकि शासन ही राज्य का बाहरी स्वरूप है, राज्य के दूसरे गुण गूढ़ हैं। उन गुणों के आधार पर राज्य का वर्गीकरण करना न उपयोगी ही है और न वैज्ञानिक ही। उदाहरणार्थ, राज्य के चार तत्वों में, भूमि, जनसंख्या, शासन और सार्वभौमिकता हैं। यह चार गुण सभी राज्यों में पाये जाते हैं। यह बात ठीक है कि कुछ राज्यों में भूमि कम होती है, कुछ में अधिक, कुछ राज्यों की जन-संख्या अधिक होती है और कुछ की कम। परन्तु इतना कहने से राज्यों का वर्गीकरण नहीं हो जाता। वास्तव में राज्य का वाह्य स्वरूप जिसे जनता देखती है तथा जिसे आसानी से जाना जा सकता है, शासन ही है। इसीके आधार पर राज्यों का वर्गीकरण होना चाहिये। लीकाक (Leacock) गिलक्राइस्ट (Gilchiist), और कुछ अन्य लेखक भी इसी मत के अनुयायी हैं।

शासन का वर्गीकरण

शासन के आधार पर, भिन्न-भिन्न लेखकों ने राज्यों का अलग-अलग प्रकार से वर्गीकरण किया है। इन वर्गीकरणों में प्राचीन क़ानूनी राजनैतिज्ञ अरस्तू (Aristotle) का वर्गीकरण सबसे प्रसिद्ध है। इस

वर्गीकरण का आधार सरकार के सर्वोच्च अधिकारियों की संख्या तथा उनका शासन सिद्धान्त है। अरस्तू के कथनानुसार, शासकों का शासन या तो जनता के हित के लिए होता है या अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिये। जिन राज्यों का लक्षण जनता की सेवा है उन्हें उचित (Normal form) तथा जिनका लक्ष्य स्वार्थ सिद्धि है उन्हें विकृत (Perverted form) राज्य कहा जाता है। इस सिद्धान्त को शासकों की संख्या वाले सिद्धान्त से मिलाकर अरस्तू ने राज्यों की निम्नलिखित क़िस्में बतलाई हैं :—

शासन विधान का स्वरूप	उचित दशा, जिसमें शासक प्रजा के हित का ध्यान रखता है	विकृत दशा जिसमें शासक अपनी स्वार्थ सिद्धि का ध्यान रखता है
एक व्यक्ति का शासन	राजतन्त्र (Monarchy)	अत्याचार तन्त्र (Tyranny)
कुछ व्यक्तियों का शासन	कुलीन तन्त्र (Aristocracy)	वर्गतन्त्र Oligarchy
बहुसंख्यक व्यक्तियों का शासन	प्रजातन्त्र (Democracy)	भीड़तन्त्र Mobocracy

अरस्तू ने बहुसंख्यक, उचित शासन के लिए प्रजातंत्र (Democracy) शब्द के स्थान पर बहुतन्त्र (Polity) शब्द का प्रयोग किया था, और भीड़तन्त्र (Mobocracy) के स्थान पर प्रजातन्त्र (Democracy) शब्द का प्रयोग किया था। परन्तु आजकल प्रजातन्त्र शब्द का प्रयोग बहुधा शुद्ध और साधारण तरीके के शासन के लिए किया जाता है। इसलिए उपरोक्त तालिका में प्रजातंत्र के कलुषित रूप के लिए भीड़तन्त्र (Mobocracy) शब्द का प्रयोग किया गया है।

अरस्तू के शासन के वर्गीकरण की इस कारण से आलोचना की जाती है कि वह संसार की वर्तमान दशा के लिये उपयुक्त नहीं है। आजकल शासन और भी कितने प्रकार के होते हैं जैसे संघीय (Federal); एकात्मक (Unitary) उत्तरदायित्वात्मक (Parliamentary) और अध्यक्षात्मक (Presidential) इत्यादि, जो इस वर्गीकरण में शामिल नहीं हैं। इसलिए वर्तमान शासनों के आधार पर राज्यों का अधिक वैज्ञानिक वर्गीकरण आगे के पृष्ठों में किया जायगा।

§ २. शासन का प्राचीन वर्गीकरण

प्राचीन काल में मुख्य रूप से शासनों के तीन भेद किये जाते थे :— (१) राजतंत्र (Monarchy), (२) कुलीनतंत्र (Aristocracy) और (३) प्रजातंत्र (Democracy)।

(१) **राजतंत्र** – यह शासन की वह व्यवस्था है जिसमें राज्य का अन्तिम अधिकार एक ही मनुष्य के हाथ में रहता है। संसार के प्रायः प्रत्येक देश में प्राचीन काल में, राज्य की यही प्रणाली थी। राजा दो प्रकार के हुआ करते थे—(१) निर्वाचित अर्थात् जनता द्वारा चुने हुए और दूसरे (२) वंश परम्परागत। अधिकतर राजा वंश परम्परागत से ही होते थे। वर्तमान काल में निर्वाचित (elected) राजाओं की प्रणाली नहीं है। वे या तो निरंकुश राजा (Absolute Monarch) होते हैं या वैधानिक राजा (Constitutional Monarch)

(अ) **निरंकुश राजतंत्र** (Absolute Monarchy)—यह शासन की वह व्यवस्था है जहाँ अकेला मनुष्य राज्य के शासन यंत्र का संचालन करता है। वह राज्य कार्य चलाने में अपनी प्रजा की राय नहीं लेता। उसकी शक्ति असीमित होती है, वह अपनी इच्छानुसार शासन करता है। कोई भी क़ानून या वैधानिक अवरोध उसके कार्य में बाधा नहीं डाल सकते।

निरंकुश राजतंत्र की प्रथा से लाभ

निरंकुश राजतंत्र की प्रथा संसार में सबसे पुरानी, सबसे अधिक विस्तृत तथा सबसे अधिक स्वाभाविक प्रथा है। सारा संसार इसी शासन के तरीके से आरम्भ हुआ और आज भी यह प्रथा कितने ही देशों में पाई जाती है। इस प्रथा के अनेक लाभ हैं :—

(१) सर्वप्रथम, यह शासन की एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें अन्यान्य शासनों की अपेक्षा अधिक शक्ति, संगठन की सादगी, शीघ्र काम करने की क्षमता, उद्देश्य तथा नीति की समानता और दीर्घकालीनता के गुण वर्तमान रहते हैं।

(२) दूसरे, इस प्रकार के शासन में क़ानून पर आसानी से अमल किया जा सकता है। क्योंकि राजा को शिक्षित उच्च पदाधिकारियों को चुनने का पूर्णाधिकार रहता है और यह कर्मचारी एक ही मनुष्य के प्रति जवाबदेह होते हैं।

(३) तीसरे, सभ्यता की प्रारम्भिक अवस्थाओं में यही शासन-प्रणाली, समाज में नियंत्रण तथा व्यवस्था क़ायम रखने के लिये उपयुक्त सिद्ध हो सकती थी। यह शासन-प्रणाली देश के विभिन्न अंगों को एक मज़बूत संगठन में आबद्ध करके वैधानिक शासन का मार्ग तैय्यार करती है।

(४ चौथे इस प्रकार का शासन कम ख़र्चीला होता है—व्यवस्थापिका सभाओं को क़ायम करने और चुनाव संचालन के लिये जो अत्यधिक धन व्यय होता है उसकी इस शासन में बचत हो जाती है।

(५) पाँचवे, राजा राज्य का बुद्धिमान मुखिया होता है और इसलिये युद्ध या राष्ट्रीय संकट के समय वे लोग उसकी छत्रछाया में इकट्ठे होकर अपनी राज तथा देश-भक्ति का प्रदर्शन कर सकते हैं।

निरंकुश राजतंत्र से हानि

निरंकुश राजतंत्र को प्रथा वर्तमान परिस्थिति के लिये उपयुक्त नहीं है। कोई भी सभ्य समाज इस प्रकार के शासन को पसन्द नहीं करता।

इसके अनेक कारण हैं। (१) सर्वप्रथम, निरंकुश राजा अपने अधिकारों का दुरुपयोग कर सकता है तथा उन्हें अपने स्वार्थ साधन के काम में ला सकता है। ऐसा करने से उसे कोई शक्ति नहीं रोक सकती। निरंकुश राज्य में इसलिये प्रजा अधिकतर दुखी रहती है। इस प्रकार का राज्य अच्छा हो सकता है यदि राजा अच्छा हो। परन्तु ऐसा सदा सम्भव नहीं होता। (२) दूसरे, अच्छे शासन की परीक्षा केवल उसके शासन की कुशलता से ही नहीं की जाती, वरन् उसके जनता में आत्म-सम्मान, विश्वास, तथा शिक्षा प्रदान करने की शक्ति से की जाती है। निरंकुश राजतंत्र में यह सब बातें नहीं पाई जातीं। (३) तीसरे, इस प्रकार के शासन से जनता में राजनैतिक जागृति पैदा नहीं होती और वह सुस्त, अकर्मण्य और आलसी बनी रहती है। (४) चौथे, राजा चुनने की वंश परम्परागत प्रथा किसी भी प्रकार न्याय संगत नहीं कही जा सकती। एक विशेष राजा अच्छा हो सकता है परन्तु यह कैसे कहा जा सकता है कि उसकी सन्तान भी योग्य ही होगी।

यह प्रथा, वर्तमान् काल में योरोप के प्राय: सभी देशों से उठ गई है और पूर्वीय देशों से भी धीरे धीरे उठती चली जा रही है। भारतवर्ष में भी स्वतंत्रता दिवस के पश्चात् से, क़रीब ६० रियासतों में से इस प्रथा का अंत हो गया है।

(१) **वैधानिक या सीमित राजतन्त्र** (Constitutional or Limited Monarch)—यह शासन की वह व्यवस्था है जिसमें राजा के अधिकार वैधानिक क़ानून के द्वारा सीमित कर दिये जाते हैं। राजा विधान को रद्द नहीं कर सकता। वह इस प्रकार के विधान में सिंहासनारूढ़ अवश्य रहता है परन्तु प्रजा पर शासन नहीं करता। वह केवल राज्य का एक आदरणीय मुखिया समझा जाता है। देश का असली शासन जनता के निर्वाचित्त प्रतिनिधियों द्वारा किया जाता है। इङ्गलैण्ड, बेलजियम, हौलैण्ड इत्यादि देशों में इसी प्रकार का शासन विधान है।

वैधानिक राजतन्त्र से लाभ—वैधानिक राजतंत्र के अनेक गुण होते हैं। [१] इस प्रकार के शासन में स्वेच्छाचारी राजा के दोष निकल कर सुयोग्य राजा के न्यायपूर्ण शासन के गुण आ जाते हैं। [२] राजा राज्य का प्रत्यक्ष मुखिया होता है और इसलिए उसके प्रति लोगों की राज भक्ति अधिक जाग्रत होती है। [३] निर्वाचन के फल-स्वरूप, राज्य की कार्यकारिणी के नये नेता के चुने जाने के समय जो राजनैतिक अशान्ति और उथल-पुथल कभी-कभी हो जाती है, उसे इस प्रकार का शासन मिटा देता है। [४] यह राज्य संचालन में कार्य-कारिणी की नीति की दीर्घकालीनता को प्रोत्साहित करता है। [५] शासन की कार्यकारिणी सभा को एक ऐसे सुयोग्य व्यक्ति के उचित परामर्श का लाभ प्राप्त हो जाता है जिसे शासन कार्य का काफी अनुभव प्राप्त रहता है।

हानि (Defects)—इस प्रथा में कुछ दोष भी हैं। [१] सर्व-प्रथम यह कि वंश परम्परागत राज्यारोहण से इस बात का कभी भी विश्वास नहीं होता कि राज्य के एक विशेष राजा का उत्तराधिकारी भी हमेशा योग्य शासक ही सिद्ध होगा। [२] दूसरे, इस प्रकार के शासन में इस बात का संदेह भी बना रहता है कि कहीं राजा अपने अधिकारों का दुरुपयोग न करने लगे। [३] तीसरे, आजकल के प्रजातंत्रवादी युग में, जहाँ सर्वत्र समानता और भाई चारे का प्रचार है; यह प्रथा समयानुकूल नहीं जान पड़ती।

कुलीनतन्त्र (Aristocracy)

कुलीनतन्त्र शासन उस प्रकार की शासन व्यवस्था को कहते हैं जिसमें कुछ थोड़े से बड़े व्यक्ति शासन का संचालन करते हैं; यह बड़े व्यक्ति कई प्रकार के हो सकते हैं—सबसे धनवान, सबसे कुलीन, सबसे बुद्धिमान, आचारवान, सबसे बलवान इत्यादि। कुलीनतन्त्र शासन के भी इसी करण यह सब भेद हो सकते हैं।

कुलीनतन्त्र कोई बुरी सरकार नहीं है। यदि थोड़े से योग्य और बुद्धिमान व्यक्ति सम्पूर्ण प्रजा के हित का ध्यान रखते हुए शासन करें तो वह बुरी सरकार न होगी। परन्तु ऐसा प्रायः सम्भव नहीं होता। कुलीन तन्त्र शासन में सरकार की बागडोर बुद्धिमानों के हाथ से निकल कर पूँजीपतियों के हाथ में चली जाती है क्योंकि वही अपने धन की शक्ति से दूसरों पर छा सकते हैं। धनियों का शासन सदा अच्छा नहीं होता। एक तो इस कारण से कि धनी लोग अक्सर चरित्र-हीन होते हैं. उनका रुपया अधिकतर बेईमानी और छल कपट से कमाया हुआ होता है, और दूसरे इसलिये कि धनी अपने स्वार्थ का अधिक ध्यान रखते हैं, जनता की भलाई का बहुत कम।

कुलीनतंत्र शासन वर्तमान काल में अच्छी दृष्टि से नहीं देखा जाता क्योंकि प्रजातंत्रवाद का युग है, परन्तु फिर भी प्रायः सभी देशों में किसी न किसी रूप में कुलीनतन्त्र शासन की प्रथा क़ायम रक्खी गई है। बड़ी धारा-सभाओं (Upper Houses) में प्रायः प्रत्येक देश में धनी, शिक्षक जमींदारों, पूँजीपतियों तथा बड़े कुल वालों को प्रतिनिधित्व दिया जाता है।

कुलीनतन्त्र शासन के गुण—कुलीनतन्त्र शासन में अपनी कुछ विशेषताएँ होती हैं। (१) सर्वप्रथम यह, कि इस प्रकार के शासन में भीड़ का शासन नहीं होता बस कुछ थोड़े से बुद्धिमान तथा चुने हुए बड़े व्यक्तियों का शासन होता है. (२) दूसरे, इस प्रकार के शासन में अनुभव और शिक्षा पर अधिक जोर दिया जाता है, केवल उन्हीं लोगों के हाथ में राजसत्ता सौंपी जाती है जिन्हें शासन कला की विशेष शिक्षा मिली हो। (३) तीसरे, इस प्रकार के शासन में प्राचीन रीति-रिवाजों, जन-श्रुतियों, तथा संस्कृति और साहित्य की अधिक इज्जत की जाती है, ऐसे शासन में राज्य और सामाजिक क्रान्तियाँ कम होती हैं, (४) चौथे, यह शासन अधिक स्थाई होता है और इसमें सरकार की नीति में आए दिन परि-

र्तन नहीं होते, (५) पाँचवें, इस प्रकार की शासन-प्रणाली में राज-तन्त्र और प्रजातन्त्र दोनों प्रकार के शासनों के दोषों का अभाव रहता है और (६) अन्त में यह शासन उन लोगों द्वारा संचालित होता है जिनका समाज में अपने धन, चरित्र या कुल की महानता के कारण अधिक मान होता है।

दोष – परन्तु इस प्रकार के शासन में कुछ दोष भी होते हैं, और इनमें सबसे बड़ा यह है कि जब किसी विशेष वर्ग के लोगों के हाथ में शासन की बागडोर आ जाती है तो वह सरकार की मशीन का उपयोग जनता की भलाई के लिये नहीं, वरन् अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिये करने लगते हैं। ऐसे कुलीन लोग किसी समाज में, बहुत कम मिलते हैं जो जनता की ही भलाई का ध्यान रक्खें, अपनी भलाई का नहीं। (२) दूसरे, कुलीनतन्त्र शासन में अक्सर धनी लोगों का ही राज्य होता है और धन सदा बुद्धि का परिचायक नहीं। (३) तीसरे, इस प्रकार का शासन वंश-परंपरागत की प्रथा अख्त्यार कर लेता है, और शासक वर्ग के कुल में ही राजसत्ता तबदील होती रहती है, (४) अंत में यह शासन व्यवस्था उन्नति-शील नहीं होती, इसमें अपरिवर्तनशीलता का अधिक अंश रहता है।

प्रजातन्त्र सरकार (Democracy)

प्रजातंत्र सरकार का अर्थ प्रजा का शासन है। जिस देश में जनता अपनी स्वेच्छा से राजकीय कामों में भाग लेती है तथा राज्य के कार्य का स्वयं संचालन करती है, उस देश में प्रजातंत्र राज्य की व्यवस्था मानी जाती है। प्रजातन्त्र राज्य की व्याख्या भिन्न-भिन्न लेखकों ने अपने ढंग से अलग-अलग प्रकार की है। प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ ब्राइस (Bryce)* का

*"That form of Government in which the ruling power of a State is legally vested, not in any particular classes, but in the members of the community as a whole." (Bryce)

कथन है कि "प्रजातन्त्र राज्य, शासन का वह प्रबंध है जिसमें राज्याधिकार किसी विशेष श्रेणी के लोगों को नहीं वरन् समूचे समाज के लोगों को प्रदान किये जाते हैं। अब्राहम लिंकौन (Abraham Lincoln)† का कहना है 'प्रजातंत्र वह सरकार है जिसमें सम्पूर्ण जनता, अपनी भलाई के लिये अपने तरीक़े पर शासन करती है।' संक्षेप में प्रजातंत्र सरकार वह सरकार है जहाँ चुनाव के अधिकार के द्वारा जनता के प्रत्येक बालिग पुरुष या स्त्री को, अपने शासक चुनने का अधिकार होता है तथा जहाँ जनता अपनी राय के द्वारा शासन की नीति का निर्णय कर सकती है।

प्रजातन्त्र का व्यापक अर्थ (Wider meaning of democracy)

परन्तु यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि प्रजातंत्र केवल सरकार की व्यवस्था का ही एक प्रकार नहीं है, वह समाज और उसकी आर्थिक व्वयस्था का भी एक विशेष रूप है। वास्तव में, किसी देश में, वहाँ की जनता को मताधिकार देने से ही प्रजातंत्र राज्य की स्थापना नहीं हो जाती, असली प्रजातन्त्र राज्य स्थापित करने के लिये अन्य कई बातों की आवश्यकता पड़ती है। प्रजातन्त्र एक विशेष प्रकार के राजनैतिक संगठन, सामाजिक संगठन, आर्थिक व्यवस्था तथा एक नैतिक भावना का नाम है। (Democracy is not only a form of government, it is a form of Society, a form State and a form of economic and moral order.)

प्रजातन्त्रात्मक शासन में केवल यही पर्याप्त नहीं है कि राज-शक्ति जनता के हाथ में हो, वरन् यह भी आवश्यक है कि जनता ही राज काज का काम चलाती हो, अपने लिये स्वयं क़ानून बनाती हो, अपने शासकों

---

†"Democracy is a Government of the people, for the people, and by the people" (Abraham Lincoln)

का स्वयं चुनाव करती हो, तथा उन्हें जब चाहे बदल सकती हो, इसके अतिरिक्त एक प्रजातन्त्रात्मक समाज में जाति-पाँति, ऊँच-नीच, छूत-अछूत और छोटे-बड़े का भेद-भाव नहीं होना चाहिये। सब मनुष्य बराबर समझे जाने चाहियें, जन्म अथवा धन अथवा खून अथवा जाति की महानता के कारण कोई मनुष्य दूसरों से बड़ा नहीं माना जाना चाहिये। मानवता के आधार पर सब मनुष्य बराबर हैं, उसमें अपने व्यक्तित्व के विकास के लिये एक सी ही शक्तियाँ विद्यमान हैं, उन्हें समाज में उन्नति करने के एक से ही अवसर प्रदान होने चाहिए। आर्थिक क्षेत्र में प्रजातन्त्र का अर्थ है कि प्रत्येक मनुष्य अपनी जीविका के सम्बन्ध में स्वावलम्बी तथा स्वतन्त्र हो; और देश के सारे भी मनुष्यों की आर्थिक स्थिति लगभग समान हो। एक ओर घोर ग़रीबी और दूसरी ओर अत्यन्त धन सम्पन्नता के वातावरण में प्रजातंत्रात्मक राष्ट्र का निर्माण नहीं हो सकता। जिस देश में ग़रीब किसान और मज़दूरों का शोषण होता हो, तथा जहाँ कुछ थोड़े से पूँजीपतियों के हाथ में राष्ट्र की सम्पत्ति और उत्पादन-शक्ति केन्द्रित हो, वहाँ प्रजातंत्र राज्य क़ायम नहीं रह सकता। ऐसे देश में राजनैतिक शक्ति भी धन संपन्न लोगों के हाथ में ही रहती है, वह अपने धन के बल पर राय खरीद सकते हैं और इस प्रकार शासन की मशीन को अपने क़ब्जे में कर सकते हैं।

वास्तव में प्रजातंत्र एक नैतिक सिद्धांत है जिसके अंतर्गत किसी देश की समाज और उसकी सरकार का संगठन मानवता के आधार पर होता है। इस प्रकार के संगठन में जनता में राजनैतिक जागृति तथा अपने व्यक्तित्व के विकास के प्रति उत्कठा का भाव होना अत्यत आवश्यक है। जिस देश की जनता पिछड़ी हुई है, जहाँ उसमें किसी प्रकार की राजनैतिक जागृति (Political consciousness) नहीं है, तथा जहाँ कुछ थोड़े से मुट्ठी भर लोगों के पास ही धन सामग्री जुटी हुई है, वहाँ किसी भी प्रकार का प्रजाराज क़ायम नहीं हो सकता।

प्रजातन्त्र का मूल आधार

प्रजातन्त्र का सिद्धान्त राजनीति के दो मूल सिद्धांतों पर अवलम्बित है—(१) स्वतन्त्रता (Liberty) और (२) समानता (Equality)। इन सिद्धांतों का विस्तृत विवेचन हम पिछले अध्यायों में कर आये हैं, यहाँ केवल यह बतलाना है कि इनका प्रजातन्त्र से क्या सम्बन्ध है? स्वतंत्रता का अर्थ है कि प्रत्येक मनुष्य को अपनी शक्तियों के विकास के लिये पूर्ण अवसर मिलें। यह तभी हो सकता है जब देश के शासन में सभी का हाथ हो। इसी प्रकार समानता का अर्थ है कि अपने व्यक्तित्व के विकास के लिये प्रत्येक मनुष्य को समान अवसर प्राप्त हों। यह बात भी एक पूर्ण प्रजातन्त्र शासन में ही पूरी हो सकती है। प्रजातंत्र राज्य में प्रत्येक मनुष्य को राजकीय कार्यों में भाग लेने का समान अवसर प्रदान किया जाता है तथा उसे शिक्षा, सरकारी नौकरी, तथा धनोपार्जन के समान अवसर प्रदान किये जाते हैं।

प्रजातन्त्र के गुण (Merits of democracy)—प्रजातन्त्र जैसे गहन विषय के सम्बन्ध में एक विशाल राजनैतिक साहित्य तैयार हो गया है। सम्भवतः शासन के किसी भी दूसरे तरीके का इसके समान विशेष वर्णन नहीं किया गया है। कुछ लोगों ने इस राजनैतिक सिद्धांत का समर्थन किया है और कुछ ने इसका विरोध। परन्तु अधिकांश लेखक इसके समर्थक ही दिखलाई पड़ते हैं। जार्ज बानक्राफ्ट (George B ancraft) के समान कुछ प्रजातन्त्रवादी लेखक तो इस सिद्धांत को एक ईश्वरीय तथा दैवी सिद्धांत मानते हैं और उसे शासन का एक अत्यन्त पावन आदर्श तथा सर्वोत्कृष्ट साधन कहते हैं। परन्तु कुछ दूसरे प्रजातंत्रवादी, इस शासन के समर्थक होने के साथ-साथ इसके दोषों को भी भली भाँति समझते हैं। उनका कहना है कि इन दोषों के रहते हुए भी प्रजातंत्रवादी शासन राज्य का सर्वोत्तम विधान है। दोष और गुण सभी प्रकार के शासनों में पाये जाते हैं। प्रजातंत्रवादी सिद्धांत में गुण अधिक हैं और

दोष कम। वह दोष भी प्रजातंत्र के सिद्धांत में इतने नहीं जितने उसके व्यवहार में हैं और इसलिए इन दोषों को जनता को उचित प्रकार की शिक्षा देकर दूर किया जा सकता है।

प्रजातन्त्र से दो लाभ हैं। पहला यह कि, इससे शासन का कार्य बहुत अच्छे ढग से किया जा सकता है और दूसरा यह कि यह मनुष्यों के नैतिक और बौद्धिक आचरण पर अच्छा प्रभाव डालता है। हम प्रजातंत्र के लाभों का संक्षेप से इस प्रकार वर्णन कर सकते हैं :—

(१) यह शासन का वह तरीक़ा है जो जनमत पर अवलम्बित रहता है। यह जनता के प्रतिनिधियों के द्वारा सचालित किया जाता है जो सदा सार्वजनिक नियत्रण के आधीन तथा मतदाताओं के प्रति उत्तरदायी रहते हैं—

(२) यह इस बात का विश्वास दिलाता है कि राज्य की नीति निर्धारित करते समय सबके हितों का समान रूप से विचार किया जावेगा। इस प्रकार इस शासन में अल्पसंख्यक जातियों को अपने मत को प्रकट करने तथा अपने अधिकारों की रक्षा करने के लिये पूर्ण अवसर प्राप्त होते हैं। प्रजातंत्र शासन में इस बात का भय नहीं रहता कि शासक किसी जाति या समुदाय विशेष के हित के लिए ही क़ानून बनायेंगे और सब लोगों के हित का ध्यान न रखेंगे।

(३) इसमें निरंकुश तथा कुलीन वर्ग शासन के दोषों का डर नहीं रहता, यह जनता का अपना शासन होता है

(४) इसमें शासन के विरुद्ध सामाजिक विद्रोह का भय कम हो जाता है। क्योंकि जनता इस शासन को अपना ही शासन मानती है। इस प्रकार, तुलनात्मक दृष्टि से यह शासन का सबसे स्थायी तरीक़ा है।

(५) यह सब मनुष्यों की समानता के मौलिक सिद्धांत पर अवलम्बित है। यह सभी मनुष्यों को समाज के विस्तृत जीवन में भाग लेने के योग्य समझता है और इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य को अपनी अध्यात्मिक तथा

नैतिक उन्नति करने का अवसर प्रदान करता है। इस शासन प्रबन्ध में ग़रीब से ग़रीब व्यक्ति भी अपनी योग्यता के आधार पर, राज्य में अधिक से अधिक गौरव तथा मान प्राप्त कर, अपनी उन्नति कर सकता है।

(६) यह मनुष्य को नैतिक और राजनैतिक शिक्षा प्रदान करता है। यह राज्य के नागरिकों में, सहन शीलता, मेलजोल, मित्रता, सहानुभूति, प्रेम सहयोग, सेवा और स्वार्थ त्याग की भावनाओं को विकसित करता है। इस प्रकार, यह क्रियाशील, सुस्वस्थ, और विचारशील नागरिकों को शिक्षा के निर्माण में सहायता देता है।

[७]क्या नागरिकों को एक उच्च ध्येय की प्राप्ति के लिये छोटे स्वार्थों के बलिदान करने की शिक्षा देता है। उदाहरण के लिए, यह छोटे समुदाय जैसे परिवार, जाति या धार्मिक समाज के हितों को राष्ट्रीय भलाई के लिए बलिदान करने का पाठ पढ़ाता है।

(८) यह सर्वसाधारण में राजनैतिक जागृति उत्पन्न करता है तथा उन्हें स्वाभिमानी और स्वावलम्बी बनना सिखाता है।

(९) यह साधारण मनुष्य को राज्य की समस्याओं को समझने तथा उसे अपने देश के शासन में भाग लेने के योग्य बनाता है।

प्रजातंत्र के दोष (Defects of Democracy)—परन्तु इन सब गुणों के साथ साथ प्रजातंत्र राज्य में सिद्धान्तिक तथा व्यवहारिक दृष्टिकोण से कुछ दोष भी होते हैं। लेकी (Lecky), मेन (Maine), बारकर (Barker) इत्यादि अनेक लेखकों ने इन्हीं कारणों से प्रजातंत्र के सिद्धांत की कड़ी आलोचना भी की है। यह सब लेखक प्रजातत्र में निम्नलिखित दोष बतलाते है:—

(१) प्रजातंत्रात्मक शासन में गुण (Quality) की अपेक्षा संख्या (Quantity) पर अधिक जोर दिया जाता है, इसी कारण यह योग्य तथा आचारवान पुरूषों का शासन न रह कर मूर्खों, अशिक्षितों तथा अज्ञानियों का शासन बन जाता है।

(२) यह सब मनुष्यों के मत को एक सा ही मूल्य प्रदान करता है। राज्य के एक बड़े से बड़े व्यक्ति के मत को इस शासन व्यवस्था में वही क़ीमत होती है जो बड़े से बड़े मूर्ख को। किसी समाज में अधिकतर मूर्खों की ही संख्या होती है, इसलिए प्रजातन्त्र शासन योग्य पुरुषों का शासन न रहकर 'मूर्खों का शासन' बन जाता है।

(३) इस प्रकार के शासन में राज्य के क़ानून बहुमत के आधार पर बनते हैं; चाहे वह बहुमत कितना ही कम क्यों न हो, और कितनी ही अव्यवहारिक तथा बुद्धिहीन बात क्यों न कहता हो।

(४) यह वक्तृत्व कला (Demagogy) को उत्साहित करता है। चुनाव के समय सर्वसाधारण उन लोगों की वक्तृता से अधिक प्रभावित होते हैं जो उनकी भावनाओं को उत्तेजित कर सकते हैं। अतः मत प्राप्त करने के प्रभावोत्पादक वाक्य, समूह और दलबन्दी के चित्ताकर्षक संकेत-शब्द लोगों पर विद्वतापूर्ण भाषणों की अपेक्षा अधिक प्रभाव डालते हैं।

(५) "प्रजातंत्रात्मक समानता एक भयंकर प्रपंच है" (Burke), एक अत्यन्त अविश्वसनीय और व्यर्थ विचार है। शासन एक कला है जिसके लिए विशेष बुद्धि और ज्ञान की आवश्यकता पड़ती है। इसलिए इसकी नीति के निर्माण में केवल उन्ही लोगों को भाग लेना चाहिए जिन्हें इस कार्य के करने के लिए विशेष प्रकार की शिक्षा दी गई हो।

(६) लेकी का कथन है कि "प्रजातंत्र का अर्थ अज्ञानियों का राज्य और स्वाधीनता का नाश है।"

"यह व्यक्तिगत स्वाधीनता को कम करता है क्योंकि इसकी मनोवृत्ति बहुत अधिक क़ायदे क़ानून बनाने की ओर रहती है।" सर हेनरी मेन की धारणा है कि "प्रजातंत्र बौद्धिक उन्नति के लिए, साहित्य, विज्ञान और कला के विकास के लिए अनुपयुक्त है।"

(७) यह ग़रीबों के फायदे के लिए अमीरों का शोषण करता है। यह बौद्धिक विकास का प्रतिशोधक है। यह जन-समूह का शासन है।

इसमें निरंकुश भावुकता और राष्ट्रीय सदाचार के ह्रास के चिह्न पाये जाते हैं।

(८) प्रजातंत्र के विरुद्ध सबसे बड़ा अभियोग यह है कि इसमें धन का बहुत अधिक खेल खेला जाता है। महत्वाकांक्षी उम्मीदवार, जो अधिक धनवान होते हैं, चुनाव में ग़रीब लोगों के मत खरीद कर व्यवस्थापिका सभा के सदस्य बन जाते हैं। इस प्रकार का शासन किसी भी प्रकार सर्वोत्तम शासन नहीं कहा जा सकता।

(९) प्रजातंत्र शासन के आधीन ऐसे देश की सरकार सदा बदलती रहती है, जहाँ दो से अधिक राजनैतिक दल होते हैं। सरकार के हर समय बदलते रहने से सार्वजनिक कार्यों की देख-भाल नहीं हो पाती।

(१०) शासन के इस तरीके में दलबन्दी प्रथा की सभी बुराइयाँ विद्यमान रहती हैं। इस शासन में केवल वही लोग राजसत्ता प्राप्त कर सकते हैं जो किसी दल के नेता हों तथा जो चुनाव के समय जनता से झूठी-झूठी प्रतिज्ञाएँ करके उनकी राय हासिल कर सकें। चुनाव के समाप्त होते ही ऐसे लोग अपनी प्रतिज्ञाओं को भूलकर अपनी स्वार्थ सिद्धि में लग जाते हैं। वर्तमान् प्रजातंत्र सरकारों में दलबन्दी का इतना अधिक ज़ोर रहता है कि निष्पक्ष और स्वाभिमानी व्यक्ति कभी भी चुनाव में भाग नहीं ले सकते और इस प्रकार देश की सरकार झूठे, पद लोलुप तथा आचारहीन व्यक्तियों के हाथ में चली जाती है। राजनैतिक दलों के अंदर भी एक ऐसा गुट्ट रहता है जो अपनी इच्छानुसार मनमाने प्रतिनिधि चुनाव में खड़ा करता है तथा जीत होने पर अपने ही लोगों की सरकार बनाकर, अपनी स्वार्थ सिद्धि करता है।

प्रजातन्त्र सिद्धांत के विरुद्ध व्यवहारिक आलोचनायें—लार्ड ब्राइस (Lord Bryce) ने उपरोक्त दोषों के अतिरिक्त प्रजातंत्रवादी राष्ट्रों में निम्नलिखित दोष बतलाए हैं :—

(१) धन और धनी लोगों का प्रजातंत्रात्मक राज्य में बहुत अधिक प्रभाव रहता है। रिश्वत या चन्दा देकर धनी लोग राजनैतिक नेताओं और दलों को अपने हक़ में कर लेते हैं और फिर चुनाव में खड़े होकर स्वयं ही राजसत्ता का भोग करते हैं।

(२) प्रजातंत्र में लोग राजनीति या सार्वजनिक जीवन को अपना पेशा या व्यवसाय बना लेते हैं, वह राजनीति में देश सेवा के विचार से भाग नहीं लेते वरन् अपनी रोटी कमाने के लिए लेते हैं।

(३) प्रजातन्त्र शासन में फिज़ूल ख़र्ची बहुत होती है, बहुत सा धन व्यवस्थापिका सभा के सदस्यों की तनख़्वाहों, भत्ते, सफर खर्च, इत्यादि में खर्च हो जाता है।

(४) समानता के सिद्धांत का यह परिणाम हुआ है कि लोग बिना किसी विशेष शिक्षा के ही, अपने आप को प्रत्येक राजनैतिक पद के लिए उपयुक्त समझने लगे हैं। वह यह नहीं समझते कि शासन चलाना विशेषज्ञों का काम है।

(५) प्रजातंत्र शासन में राजनैतिक दलों के हाथ में बहु शक्ति आ जाती है और उसका अक्सर दुरुपयोग होता है।

६) धारा सभा के सदस्य देश के वास्तविक हित की दृष्टि से काम नहीं करते वरन् ऐसे काम करते हैं जिनके कारण अगले चुनाव में उन्हें अधिक वोट मिल सकें।

(७) कुछ देशों में जहाँ राजनैतिक दलों की अधिकता होती है, टिकाऊ और दीर्घजीवी सरकारें नहीं बन पातीं, जिससे देश का शासन अस्तव्यस्त दशा में हो जाता है।

(८) अधिकांश देशों में मतदाता अपने वोट बेपरवाही से देते हैं, वह अच्छे बुरे का विचार नहीं करते, इससे अयोग्य पुरुष धारा सभाओं में पहुँच जाते हैं। कहीं-कहीं लोग बहुत थोड़ी संख्या में ही चुनाव में भाग लेते हैं।

(६) इनके अतिरिक्त ब्राइस के मतानुसार आजकल राज्य का काम इतना अधिक और जटिल हो गया है कि धारा सभा के अधिकतर सदस्य उसे समझने की क्षमता नहीं रखते, इस कारण शासन का स्टैंडर्ड गिर जाता है। ब्राइस के अतिरिक्त कुछ अन्य राजनीति का लेखकों ने भी, प्रजातन्त्रवाद के असफल होने के अपने कारण बतलाए हैं।

उदाहरणार्थ एडवर्ड मेकैसनी (Edward Mechesny) का मत है कि प्रजातन्त्र की असफलता का प्रधान कारण लोगों की बौद्धिक क्षमता का घटा देना है। जो शासन अशिक्षित जन समुदाय के द्वारा शासकों के चुने जाने के सिद्धान्त पर अवलम्बित है वह कभी सफल नहीं हो सकता। जब तक प्रजातन्त्र उचित शिक्षा द्वारा सर्वसाधारण को शिक्षित बनाने में सफल नहीं होता; तब तक उसकी असफलता बिल्कुल निश्चित है।

प्रजातन्त्र उस दशा में सफल हो सकता था जब वह सर्वसाधारण का, सर्वसाधारण के लिए और सर्वसाधारण द्वारा शासन होता। परन्तु आधुनिक प्रजातंत्रवादियों ने मनुष्यों को मताधिकार तो प्रदान कर दिया परन्तु शेष दो आदर्शों की ओर कोई भी ध्यान नहीं दिया।

प्रजातन्त्र का सिद्धान्त, दमन और अत्याचार, पराधीनता और ग़ुलामी के वातावरण में कभी भी सफल नहीं हो सकता। आज अधिक उन्नति और सभ्य कहलाने वाले देश प्रजातन्त्रात्मक उसूलों की दुहाई देते हुए भी साम्राज्यवाद (Imperialism) के हामी हैं। यह दोनों सिद्धान्त किसी दशा में भी साथ-साथ नहीं चल सकते।

आधुनिक प्रजातन्त्रवादी इस बात को भूल जाते हैं कि जब तक आर्थिक न्यूनतम के अधिकार और धन के समान विभाजन के सिद्धांतों का समाज में प्रयोग नहीं किया जाता तब तक प्रजातन्त्रवाद कभी भी सफल नहीं हो सकता। एक ओर दुर्दमनीय ग़रीबी और दूसरी ओर अपार धन, प्रजातन्त्र में साथ-साथ नहीं चल सकते।

प्रजातन्त्र शासन में प्रचलित प्रतिनिधि प्रथा अत्यन्त दूषित है। इस

प्रथा के अन्तर्गत शासक वर्ग निर्वाचन क्षेत्रों को अपनी सुविधा के अनुसार इस तरह बनाते हैं कि जिससे चुनाव में सदा उनके ही उम्मीदवार कामयाब होते हैं। अंग्रेजी में इस तरीके को Gerrymandering कहते हैं। इस प्रथा के अन्तर्गत प्रजातन्त्रात्मक शासन सर्वसाधारण का शासन नहीं रहता। वह एक सूक्ष्म अल्पमत और कभी-कभी एक दल विशेष का शासन बन जाता है।

प्रजातन्त्र का भविष्य—उपरोक्त कारणों से प्रजातन्त्र शासन असफल हुआ है। प्रजातन्त्रात्मक संसार का भविष्य उस वक्त तक ख़तरे में है, जब तक लोग इन दोषों को दूर नहीं करते। पिछले दिनों इन्हीं कारणों से प्रजातंत्रवाद के स्थान पर तानाशाही शासन की लहर संसार के एक विस्तृत क्षेत्र में व्यापक हो गई थी। यदि हमें प्रजातन्त्र के आदर्श को क़ायम रखना है तो यह ज़रूरी है कि हम इन दोषों को समाज के वर्तमान संगठन से दूर कर दें। संसार में प्रजातन्त्रवाद का सिद्धांत असफल नहीं हुआ है, उसकी व्यवहारिकता असफल हुई है। दोषों के रहते हुए भी प्रजातन्त्र राज्य ही संसार में सबसे हितकर शासन है। यदि हम प्रजातन्त्र राज्य की अन्य प्रकार के राज्यों के साथ तुलना करें तो हमें ज्ञात होगा कि शान्ति रक्षा, न्याय शासन, शत्रुओं से रक्षा इत्यादि के कार्य में प्रजातन्त्र राज्य ही अन्य राज्यों की अपेक्षा अधिक सफल हुआ है। दोष सभी शासनों में होते हैं, प्रजातंत्र शासन में भी हैं परन्तु इतने नहीं जितने दूसरे प्रकार के शासनों में; और यह दोष भी सिद्धान्त में नहीं, शासन की व्यवहारिकता में है। इन दोषों को जनता में ठीक प्रकार की शिक्षा का प्रचार करके, तथा कुछ अन्य अवस्थाओं को पूरा करके, जिनका वृत्तान्त हम अगले पृष्ठों में करेंगे, हम दूर कर सकते हैं। प्रजातन्त्र शासन सर्वसाधारण और विशेष कर ग़रीबों की दशा सुधारने में, उनकी शिक्षा और दीक्षा की व्यवस्था करने में, अत्यन्त सफल हुआ है। इसका भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल है। केवल आवश्यकता

इस बात की है कि जनता प्रजातन्त्र की सफलता की अवस्थाओं को न भूलें।

प्रजातन्त्रात्मक शासन को सफलतापूर्वक चलाने के लिए कुछ आवश्यक बातें

प्रजातंत्रात्मक शासन का तरीक़ा संसार के सब देशों में सफल नहीं हो सकता। इसकी सफलता के लिए कुछ विशेष वातावरण और मनुष्यों के आचरण में कुछ विशेष गुणों की आवश्यकता रहती है। इन सब अवस्थाओं का वर्णन हम नीचे करते हैं।

(१) प्रजातन्त्र की सफलता के लिए सबसे प्रथम और आवश्यक शर्त यह है कि जन-मत-शिक्षित, समुन्नत और समझदार हो। जनता में पूर्ण राजनैतिक जागृति हो, तथा वह सरकार की नीति को समझने की क्षमता रखता हो। जनमत को बनाने और व्यक्त करने के लिये समाचार-पत्र (Press) और मंच (Platform) अत्यन्त आवश्यक अंग हैं। जिस देश में समाचार पत्रों पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाता है और मत के स्वतंत्रतापूर्वक व्यक्त करने के अधिकार का अपहरण कर लिया जाता है वहाँ प्रजातन्त्र नहीं पनत सकता। जो शासन जन-मत की अवहेलना करता है अथवा उसकी आवश्यकताओं के अनुसार काम नहीं करता वह लोगों के शासक बनने का अधिकार खो बैठता है। समाचार-पत्रों का भी राज्य के प्रति एक कर्तव्य है और वह यह कि, वह सच्ची, निष्पक्ष और ईमानदारी की खबरें दें। यदि अखबारों का नियंत्रण उन हाथों में चला जाता है जो पूँजीपति हैं या जिनका शासन से कुछ सम्बन्ध है, तो अखबारों में छपे हुए समाचार निष्पक्ष अथवा सच्चे नहीं हो सकते। ऐसे समाचार-पत्र प्रजातन्त्र के रस में जहर का काम करते हैं। इसलिए प्रजातन्त्र की सफलता की सबसे प्रथम शर्त यह है कि जनता राजनैतिक दृष्टि से चैतन्य हो और देश में समाचार-पत्र तथा सभा आदि करने पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध न हो।

(२) प्रजातंत्र की सफलता के लिए दूसरी आवश्यक शर्त यह है कि समाज में उच्च श्रेणी की शिक्षा प्रदान की जावे, जिससे लोग राज्य की समस्याओं को समझ सकें। स्वतंत्र रूप से राजनैतिक विषयों पर विचार करने की भावना उत्पन्न करने के लिए सर्वमान्य शिक्षा अनिवार्य है। सार्वजनिक प्रश्नों के प्रति उचित भाव व्यक्त करने के लिये इसकी बहुत जरूरत है। उचित शिक्षा के अभाव से मतदाता धन के प्रलोभन से अपना मत बेच देते हैं। कभी-कभी जातीयता के भाव से प्रभावित होकर अपने मत का दुरुपयोग कर बैठते हैं।

(३) जो लोग विधान का संचालन करते हैं उनमें ईमानदारी और दयानतदारी होनी चाहिये। उनमें उच्च कोटि की राजनैतिक जाग्रति, सार्वजनिक कार्यों के प्रति सच्ची लगन, सार्वजनिक जिम्मेदारी की विशुद्ध भावना, और बहुमत के निर्णय को स्वीकार करने और उसके अनुसार काम करने की तत्परता होनी चाहिये।

(४) जनता में सहयोग सहन-शीलता, कर्तव्य परायणता, ईमानदारी सेवा और त्याग के भाव विद्यमान होने चाहिये।

(५) उनमें अपने छोटे-छोटे भेदों को भुलाकर बड़े-बड़े प्रश्नों पर निष्पक्ष भाव से विचार करने की क्षमता होनी चाहिये।

(६) लोगों को आपस में मेल क़ायम करना चाहिये। पारस्परिक भेदभाव इत्यादि की भावनाओं से लोगों के प्रजातन्त्रात्मक संगठनों की उन्नति में बहुत ज़बर्दस्त बाधा पहुँचती है।

(७) देश के बहुसंख्यक वर्ग को इस बात का विचार रखना चाहिये कि अल्पसंख्यक जातियों के भी अपने अधिकार हैं और उनकी रक्षा की जानी चाहिए। अल्पसंख्यक जातियों को भी चाहिये कि समाज में साम्प्रदायिकता की आग न फूँके और सारी जनता की भलाई के लिए ही काम करना सीखें।

(८) प्रजातन्त्र में सब के साथ समान व्यवहार होना चाहिये। सब

को समान आदर की दृष्टि से देखना चाहिये। विशेषाधिकार प्राप्त तथा दलित जातियों के भेदभाव को मिटा देना चाहिये।

(९) प्रजातन्त्र में एक ओर बहुत अधिक अमीरी और दूसरी ओर बहुत अधिक गरीबी, साथ-साथ नहीं चल सकती। ऐसे वातावरण में प्रजातन्त्र शासन एक ढकोसला मात्र रह जाता है। इसलिए जनता में आमदनी के अन्तर को, धन के समान वितरण की किसी योजना के द्वारा, कम से कम कर देना चाहिये। पूँजीपति देशों में धन, प्रजातन्त्र के समस्त क्षेत्र को दूषित और कलंकित बना देता है।

(१०) डाक्टर बेनीप्रसाद का कथन है कि प्रजातन्त्रात्मक विधान की सफलता की एक और आवश्यक शर्त यह है कि देश में शांति और सुव्यवस्था वर्तमान रहनी चाहिये। अशान्त और विप्लवपूर्ण अवस्थाएँ इसके लिये घातक हैं।

परन्तु यह शान्ति शस्त्रों के बल पर स्थापित नहीं होनी चाहिये। सैनिक शक्ति के द्वारा स्थापित और रक्षित शान्ति एक जड़हीन वृक्ष के समान है जिसे आँधी का कोई भी झटका उखाड़ कर फेंक सकता है। इस शान्ति का आधार लोगों की शांतिपूर्ण आदतें और पारस्परिक सहानुभूति होनी चाहिये। प्रजातन्त्र का आधार स्तम्भ जनता का, स्वेच्छा से, अपने राज्य के क़ानूनों का पालन करना है। सेना, हथियार और बम बरसाने वाले हवाई जहाजों की अधिकता से जनता में बेचैनी पैदा होती है और लोग प्रजातन्त्र राज्य का स्वप्न छोड़कर एक बलवान् डिक्टेटर की खोज में लग जाते हैं।

(११) प्रजातन्त्र देश में सुव्यवस्थित राजनैतिक पार्टियां होनी चाहिये, जिनकी व्यवस्था राजनैतिक और आर्थिक कार्यक्रम के आधार पर होनी चाहिये, धार्मिक या जातीय आधार पर नहीं।

(१२) प्रजातन्त्रात्मक शासन के सफल होने के लिए स्वायत्त शासन की संस्थाओं की भी भारी ज़रूरत है। एक साधारण नागरिक को राष्ट्रीय-

प्रश्नों में इतनी दिलचस्पी नहीं होती जितनी कि स्थानीय मामलों में। इन संस्थाओं में काम करने से उसे प्रजातन्त्र की कला-शिक्षा मिल जाती है और इस प्रकार उसमें राज्य के बड़े काम ज़िम्मेदारियों के प्रति दिलचस्पी पैदा होती है। इसी कारण से ऐसा कहा जाता है कि, **स्वायत्त-शासन राष्ट्रीय स्वाधीनता की जड़ है।**

निष्कर्ष—परन्तु इन सब बातों का आशय यह नहीं समझना चाहिये कि किसी भी देश में प्रजातन्त्रात्मक शासन की व्यवस्था उस समय तक स्थगित कर दी जानी चाहिये, जब तक कि ये शर्तें पूरी नहीं हो जातीं। प्रजातन्त्रात्मक क्रिया से स्वयं ये सब अवस्था पैदा हो जाती हैं। प्रजातंत्र शासन के आरम्भ होते ही जनता में राजनैतिक जाग्रति, सार्वजनिक उमंग, उत्तरदायित्व की प्रबल भावना और सार्वजनिक सहयोग की इच्छा का जन्म हो जाता है। आरम्भ में कुछ दिनों तक मनुष्य शासन चलाने में त्रुटि कर सकते हैं। परन्तु बाद में वह शासन की बारीकियों से भली प्रकार परिचित हो जाते हैं। दूसरे, एक अच्छे शासन की पहिचान केवल उसकी कार्य-कुशलता ही नहीं वरन् उसकी जनता में राजनैतिक जाग्रति तथा नैतिक भावना उत्पन्न करने की क्षमता है। प्रजातन्त्र राज्य, इन भावनाओं के निर्माण करने में सबसे महत्वपूर्ण भाग लेता है।

इन अवस्थाओं को प्राप्त करने का सबसे अच्छा प्रबन्ध यह है कि शासन प्रजातन्त्रात्मक बना दिया जावे और इसके पश्चात् सर्वसाधारण की आर्थिक और शिक्षा सम्बन्धी उन्नति करने का प्रयत्न किया जावे। प्रजातन्त्र की औषधि उसे घटाना नहीं वरन् उसको अधिकाधिक बढ़ाना है।

§ ३. शासन का आधुनिक वर्गीकरण

ऊपर दिया हुआ शासन का वर्गीकरण आधुनिक युग के लिए उपयुक्त नहीं है। पुराने ज़माने में जिस प्रकार के राजतंत्र क़ायम थे वैसे आजकल नहीं हैं। आजकल जो भी राजतंत्र हैं वे सब वैधानिक राजतंत्र हैं और

इसलिए वे प्रजातंत्र कहे जा सकते हैं। इसी प्रकार आजकल के कुलीनतंत्र (Aristocracies) और प्रजातंत्र (Democracies) में कोई विशेष अन्तर नहीं रह गया है। यह अन्तर केवल मात्रा का है। आधुनिक युग की उच्च व्यवस्थापिका सभायें (Upper Chambers) कुछ हद तक कुलीनतंत्र संस्थायें कही जा सकती हैं।

इसलिए, आधुनिक शासनों का दूसरे प्रकार से वर्गीकरण किया जाता है। हमने राज्य के वर्गीकरण के लिए तीन सिद्धांतों को ग्रहण किया है।

(१) **प्रथम, कार्यकारिणी का व्यवस्थापिका सभाओं से संबंध**—इस सिद्धांत के आधार पर हम शासन को (अ) निरंकुश (Despotic), (ब) मंत्री मंडलात्मक (Parliamentary) तथा (स) अध्यक्षात्मक (Presidential) कह सकते हैं।

(२) **दूसरे, शासन के अधिकारों का विभाजन**—इस आधार पर हम शासन को एकात्मक (Unitary) या संघात्मक (Federal) कह सकते हैं।

(३) **तीसरे, विधान की परिवर्तन या अपरिवर्तनशीलता**—इस सिद्धांत के आधार पर शासन का वर्गीकरण अपरिवर्तनशील या परिवर्तनशील विधानों में किया जा सकता है।

आगे की तालिका से वर्तमान शासनों का विभाजन आसानी से समझ में आ जायगा :—

शासन का आधुनिक वर्गीकरण

- राज्य
  - लौकिक शासन (Secular State)
    - राजतन्त्र = तानाशाही = नौकरशाही (Monarchy) (Dictatorship) (Bureaucracy)
      - सीमित राजतंत्र (Limited Monarchy) या वैधानिक राजतंत्र (Constitutional Monarchy)
        - मंत्री मंडलात्मक शासन
          - एकात्मक
          - संघीय
        - अध्यक्षात्मक शासन
          - एकात्मक
          - संघीय
      - असीमित राजतंत्र (Absolute Monarchy) या निरंकुश राजतंत्र (Despotic Monarchy)
    - प्रजातन्त्र (Democracy)
      - अप्रत्यक्ष (Indirect)
        - मंत्रिमंडलात्मक शासन (Parliamentary form of Govt.)
          - एकात्मक (Unitary)
          - संघीय (Federal)
        - अध्यक्षात्मक शासन (Presidential form of Govt.)
          - एकात्मक (Unitary)
          - संघीय (Federal)
      - प्रत्यक्ष (Direct)
        - (१) प्रस्तावाधिकार (Initiative)
        - (२) जनमत संग्रह (Referendum)
        - (३) प्रत्यावतन (Recall)
        - (४) लोकमत संग्रह (Plebicite)
  - धर्मतंत्र शासन (Theocratic State)

- विधान (Constitution)
  - अपरिवतनशील (Rigid)
  - परिवतनशील (Flexible)

धर्मतंत्र शासन (Theocratic Government)—यह शासन का वह तरीक़ा है जिस पर पुरोहितों का आधिपत्य रहता है। दूसरे शब्दों में जिस देश का शासन लोगों के किसी धार्मिक मुखिया के द्वारा किया जाता है, वह धर्मतंत्र शासन कहलाता है। शासन के इस तरीक़े में धर्म और राजनीति का सम्मिश्रण रहता है। यह शासन आजकल केवल तिब्बत में वर्तमान् है। तिब्बत के अतिरिक्त इस शासन का अस्तित्व संसार में और कहीं नहीं है। सरकार का यह तरीक़ा लोकप्रिय नहीं है।

लौकिक शासन (Secular Government)—यह वह शासन है जिसमें राज्य में धर्माचार्यों का किसी प्रकार का प्रभाव नहीं रहता। इस शासन के तरीक़े में धर्म और राजनीति बिल्कुल पृथक् रक्खी जाती हैं। इस प्रकार का शासन प्रबन्ध आजकल अत्यन्त लोकप्रिय है। लौकिक शासन का यह अर्थ नहीं समझना चाहिये कि ऐसे देश में धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार नहीं दिया जाता, या शासक अधर्मी होते हैं; इसका आशय केवल इतना है कि राजनीति से धर्म को अलग रक्खा जाता है।

राजतंत्र (Monarchy)—यह शासन का वह तरीक़ा है जिसका वर्णन पहले किया जा चुका है। इसमें एक वंश परम्परागत मनुष्य शासन का क़ानूनी सार्वभौम होता है।

निरंकुश राजतन्त्र (Absolute Monarchy)—आजकल शासन की यह व्यवस्था लोकप्रिय नहीं है। यह केवल कुछ पूर्वीय देशों, जैसे अफ़गानिस्तान, श्याम, नैपाल इत्यादि में पाई जाती है। इन देशों में भी जनता अपने अधिकार प्राप्ति के लिए सरकार के विरुद्ध बराबर आंदोलन कर रही है। वर्तमान् युग में निरंकुश राजतन्त्र की प्रथा अधिक समय तक जीवित नहीं रह सकती।

सीमित राजतन्त्र (Limited Monarchy)—इस प्रथा

और प्रजातन्त्र में अधिक भेद नहीं है, कारण दोनों में ही वास्तविक शक्ति जनता के ही हाथों में रहती है राजा के नहीं। राजा राज्य का केवल एक नाम मात्र का मुखिया रहता है। वास्तविक शक्ति जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों के हाथ में रहती है। शासन का यह तरीक़ा इङ्गलैण्ड, बेलजियम, हालैण्ड, नारवे, इत्यादि देशों में प्रचलित है।

तानाशाही (Dictatorship)—यह एक ऐसे मनुष्य का शासन होता है जो वंश परंपरागत के अधिकार से तो राज सिंहासन पर नहीं बैठता, परन्तु जिसे अपनी सैनिक शक्ति अथवा पार्टी की ताकत के बल पर राज्य के सारे भी अधिकार प्राप्त होते हैं। राज्य के अन्तर्गत रहने वाले सारे भी मनुष्य और सङ्घ उसकी शक्ति का लोहा मानते हैं, तथा उसके आदेशों के विरुद्ध कार्य करने की हिम्मत नहीं कर सकते। ऐसा मनुष्य एक अत्याचारी भी हो सकता है, जिसने अपनी पाशविक शक्ति के आधार पर अपने अधिकारों को प्राप्त किया हो, अथवा एक सर्वमान्य नेता भी हो सकता है, जिसे लोगों ने किसी राष्ट्रीय संकट के समय में, हर प्रकार के अधिकार प्रदान कर दिये हों। तानाशाही और राजतंत्र में यह भेद है कि तानाशाह किसी सार्वजनिक क्रान्ति के समय अपने अधिकारों को प्राप्त करते हैं, और अपने इस पद को बिना किसी राजचिन्ह अथवा राजसी ठाठबाट के कायम रखते हैं। इस प्रकार की शासन-प्रणाली, पिछले महायुद्ध से पहले जरमनी और इटली में थी। आज भी यह प्रणाली स्पेन में पाई जाती है। तानाशाही में स्वतंत्र राजतंत्र के सभी दोष पाये जाते हैं। इस शासन के तरीके में भाषण अथवा समाचार-पत्र अथवा सङ्गठन किसी भी प्रकार की स्वतंत्रता प्राप्त नहीं होती। हर प्रकार के विरोध का निर्दयतापूर्वक दमन कर दिया जाता है, और एक ही मनुष्य अपनी इच्छा के अनुसार लाखों मनुष्यों के भाग्य का निर्णय करता है। तानाशाही शासन में अत्यन्त शिक्षित और योग्य सेना रक्खी जाती है। तानाशाहों की इच्छा ही लोगों के लिए क़ानून समझी जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में तानाशाह किसी भी

प्रकार के नैतिक क़ायदे या क़ानून को नहीं मानते। इन लोगों की अन्तर्राष्ट्रीय महत्वाकांक्षाओं ने ही पिछले दिनों संसार को एक महाभयंकर युद्ध के दलदल में फसा दिया था।

इस शासन-प्रणाली का श्री गणेश १६१४ की बड़ी लड़ाई के बाद हुआ था और १६३६ की बड़ी लड़ाई के बाद इसका प्रायः अंत सा हो गया।

इस शासन-व्यवस्था का कोई वैज्ञानिक सिद्धान्त नहीं है। यह प्रणाली मनुष्य स्वभाव की कमजोरियों पर अवलम्बित है। यह जनता को एक भावुक, बुद्धिमान तथा विवेकहीन मनुष्यों का समूह मानती है। मुसोलिनी का कहना था—'Masses are a lot of inspired idiots!' अर्थात् जनता एक भावुक मूर्खों के दल का नाम है।" ऐसे लोगों को, फासिस्टों के कथनानुसार किसी भी प्रकार के राजनैतिक अधिकार प्रदान नहीं किये जा सकते। उनको अपना जीवन राष्ट्र की भलाई के निमित्त मात्र समझना चाहिए। और राष्ट्र की भलाई किस काम में है, इसका निर्णय करना जनता का काम नहीं, वरन् उन थोड़े से लोगों का काम है, जिनके हाथ में, उनकी बुद्धि की प्रखरता तथा नेतृत्व के गुणों (Faculty for leadership) के कारण, राज्य की बागडोर सौंपी जाती है।

फासिस्ट समझते हैं कि राष्ट्रीय महानता तथा राष्ट्रीय उत्थान के लिए काम करना ही मनुष्य का सबसे बड़ा धर्म है, मनुष्य राष्ट्र के उत्थान के साथ उठता और उसके पतन के साथ गिरता है, राष्ट्रीय गौरव के लिए अपने प्राणों की आहुति देना, मनुष्य का सबसे बड़ा धर्म है। फासिस्ट सिद्धान्त में, राष्ट्र को एक दैवी रूप देकर, उसकी पूजा करनी सिखाई जाती है। इस सिद्धान्त के अनुसार एक देश का दूसरे देश पर आधिपत्य क़ायम करना, तथा उसको अपने आधीन रखना एक गौरव की बात समझी जाती है, इसी कारण फासिस्टवाद, साम्राज्यवाद का समर्थक है।

फासिस्ट सिद्धान्त के अन्तर्गत तानाशाही शासन के अपने गुण और दोष होते हैं, इस प्रणाली के गुण तो यह हैं कि इसमें शासन की कुशलता अधिक होती है, जनता में भेदभाव नहीं रहते, सभी व्यक्ति एक नेता की आज्ञा का पालन करते हैं, तथा उसे अपना संरक्षक समझते हैं, देश की शक्ति बढ़ जाती है तथा उसकी ताक़त का लोहा दूसरे मुल्क मानने लगते हैं। परन्तु इसके दोष यह हैं कि इसमें जनता को किसी प्रकार की नैतिक उन्नति या अपने व्यक्तित्व का विकास करने का अवसर प्राप्त नहीं होता। उसे किसी प्रकार के राजनैतिक या नागरिक अधिकार भी प्राप्त नहीं होते। उसके भाग्य का निर्णय एक मनुष्य के हाथ में हो जाता है। सैनिक शक्ति के जुटाने में राष्ट्र की अधिकतर आय व्यय हो जाती है तथा दूसरे देशों पर हमला करने की नीति से, संसार की शान्ति और व्यवस्था ख़तरे में पड़ जाती है।

इस प्रकार की सरकार अधिक समय तक सफल नहीं हो सकती। वह केवल तभी तक क़ायम रह सकती है जब तक जनता में राजनैतिक जाग्रति न हो या देश पर कोई महान् संकट का समय हो। पिछड़े हुए देशों में ही इस प्रकार की सरकार पसन्द की जाती है। आधुनिक प्रजातन्त्र के युग में इस प्रकार की शासन व्यवस्था के लिए किसी भी प्रकार का स्थान नहीं मिल सकता।

नौकरशाही शासन (Bureaucracy)—नौकरशाही शासन का अर्थ उस प्रकार की सरकार से है जहाँ जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों के द्वारा देश का शासन नहीं किया जाता वरन् जहाँ कुछ एक विशेष प्रकार के वातावरण में पले हुए तथा शिक्षा पाए हुए, सरकारी कर्मचारी ही देश का प्रबन्ध करते हैं। अंग्रेजी में ब्यूरोक्रैसी शब्द ब्यूरो से बना है जिसका अर्थ डैस्क है। इसलिए नौकरशाही का अर्थ दफ्तरी या विभागीय सरकार से समझना चाहिए। इस सरकार में दफ्तरी हुकूमत होती है, अर्थात् जनता के प्रतिनिधि सरकार को नहीं चलाते वरन् दफ्तर

के क्लर्क और सरकार के बड़े अफसर जनता पर शासन करते हैं। इस प्रकार के शासन में सरकारी कर्मचारी उन लोगों के प्रति ज़िम्मेदार नहीं रहते जिन पर वे शासन करते हैं वरन् अपने ऊपर के कर्मचारियों के प्रति ज़िम्मेदार रहते हैं। इस शासन में नीचे से ऊपर तक क्रमागत ज़िम्मेदारी चलती है। उदाहरणार्थ गाँव का एक पटवारी क़ानूनगो के प्रति, क़ानूनगो तहसीलदार के प्रति, तहसीलदार डिप्टी कलेक्टर के प्रति, डिप्टी कलेक्टर कलेक्टर के प्रति तथा कलेक्टर कमिश्नर के प्रति, कमिश्नर गवर्नर के प्रति, गवर्नर गवर्नर जनरल के प्रति, और गवर्नर जनरल किसी और के प्रति ज़िम्मेदार रहते हैं। वैसे तो प्रत्येक देश में ही सरकारी इन्तज़ाम इसी प्रकार किया जाता है, परन्तु उनमें भेद केवल इतना होता है कि प्रजातंत्र शासन में सरकारी नौकर आखिर में जनता के प्रति जिम्मेदार होते हैं परन्तु नौकरशाही शासन में वह जनता के प्रति उत्तरदायी नहीं होते। इस शासन व्यवस्था के अपने दोष और गुण दोनों होते हैं। इसमें गुण तो यह है कि यह अधिक कार्यकुशल होती है, आसानी से हर प्रकार की मुसीबतों का सामना कर सकती है, एक उद्देश्य से काम करती है, तथा तेजी से काम कर सकती है। परन्तु इन गुणों की अपेक्षा इसमें दोष अधिक होते हैं।

(१) सर्वप्रथम, यह अनुन्नतशील और अपरिवर्तनशील है। यह लकीर की फ़कीर बनी रहती है और अपने पुराने काम करने के तरीकों को नहीं बदलती। हिन्दुस्तान में आज़ादी के बाद भी, आज हमारी सरकार इसी बीमारी से पीड़ित है।

(२) दूसरे, इस प्रकार की सरकार एक प्राण और भावशून्य संस्था की तरह काम करती है। इसमें मानवता के लक्षण नहीं होते और इसलिए यह एक यंत्र के समान काम करती है।

(३) तीसरे, यह बहुत सुस्ती से काम करती है; इसमें दफ़्तरी कार्यवाही (Red tape) अधिक होती है और काम की वास्तविक प्रगति कम।

(४) चौथे, इस प्रकार के शासन में अक्सर शासक घमंडी और लालची हो जाते हैं, वह जनता से सीधे मुँह बात करना भी पसन्द नहीं करते, वह अपने आप को जनता का सेवक नहीं वरन् उसका मालिक समझने लगते हैं।

(५) पाँचवाँ, यह एक फौलादी ढाँचे की तरह सख्त होती है, इसमें वास्तविक लोकसेवा की भावना नहीं होती जिसपर शासन की सफलता और सार्वजनिक हित अवलम्बित रहता है।

प्रजातंत्र

प्रजातंत्र शासन का विस्तृत वर्णन हम इसी अध्याय के पिछले पृष्ठों में कर चुके हैं। यहाँ यह बतलाना पर्याप्त होगा कि प्रजातन्त्र की दो क़िस्में हैं—(१) प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र (Direct democracy) और (२) अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र (Indirect democracy)। प्रत्यक्ष प्रजातंत्र में सारी जनता मिलकर स्वयं राज्य का संचालन करती है, वह स्वयं क़ानून बनाती है, स्वयं टैक्स लगाती है, तथा स्वयं राज्य कर्मचारियों की नियुक्ति करती है। ऐसा शासन विधान आजकल के विस्तृत राज्यों में, जिनकी जनसंख्या तथा क्षेत्रफल बहुत अधिक होता है, सम्भव नहीं। प्राचीन काल के रोम और यूनान के नगरों में इस प्रकार की शासन व्यवस्था थी, परन्तु उन देशों में भी, नगरों में रहने वाले गुलामों को, शासन कार्य में भाग लेने का अधिकार न था। आजकल केवल स्वीटज़रलैण्ड के कुछ कैन्टन्स (देश के छोटे-छोटे प्रान्त) में इस नियम के अनुसार शासन होता है। प्रत्यक्ष प्रजातंत्र की कुछ आधुनिक क़िस्में हमें प्रस्वाधिकार (Initiative), जनमत संग्रह (Referendum), प्रत्यावर्तन (Recall) तथा लोकमत संग्रह (Plebiscite) की शक्ल में, दुनिया के कुछ प्रगतिशील प्रजातन्त्रवादी देशों में देखने को मिलती हैं।

प्रस्वाधिकार (Initiative)—प्रस्वाधिकार उस अधिकार को कहते हैं जिसके द्वारा किसी देश में वोटरों की एक निश्चित संख्या को

(स्विटज़रलैण्ड में ५०,००० वोटरों को) आवेदन-पत्र द्वारा, किसी भी क़ानून को, धारा सभा के सामने पेश करने का अधिकार होता है। यदि धारा सभा उसे पास कर दे तो ठीक है, अन्यथा उस पर जन समुदाय के वोट लिए जाते हैं, और यदि बहुमत उसके हक़ में हो तो उसे क़ानून बना दिया जाता है।

इस प्रकार के अधिकार का लाभ यह है कि यदि जनता के चुने हुए प्रतिनिधि धारा सभा में किसी कानून को पेश न करें तो जनता ऐसा कर सकती है, परन्तु इसमें दोष यह है कि कानून बनाने का कार्य अत्यन्त कठिन कार्य है, उसके लिखने और तय्यार करने में गंभीर क़ानूनी ज्ञान की आवश्यकता पड़ती है। इसलिये यह काम विशेषज्ञ ही ठीक प्रकार से कर सकते हैं, साधारण आदमी नहीं।

जनमत संग्रह (Referendum)—इस अधिकार का अर्थ यह है कि यदि वोटरों की एक निश्चित संख्या धारा सभा द्वारा पास, किसी क़ानून को पसन्द नहीं करती, तो वह आवेदन-पत्र द्वारा, यह माँग कर सकती है कि जब तक उस क़ानून पर लोकमत न ले लिया जाय, उस पर अमल नहीं किया जाय। इस आवेदन-पत्र के पहुँचने के पश्चात्, एक निश्चित दिन पर, उस क़ानून के विषय में सारी जनता की राय ले ली जाती है और यदि वोटरों का बहुमत उसे पसन्द न करे तो उसे रद्द कर दिया जाता है।

इस प्रकार के अधिकार से जनता की अपने प्रतिनिधियों के धोखे से तो रक्षा हो जाती है, परन्तु इससे व्यवस्थापिका सभा के सदस्यों की जिम्मेदारी की भावना कम हो जाती है। क़ानून बनाने का कार्य विशेषज्ञों का है, अपढ़ जनता का नहीं। जनता क़ानून की बारीकियों को नहीं समझ सकती, इस प्रकार के अधिकार से राजनैतिक आंदोलनों को प्रोत्साहन मिलता है और सरकार के काम-काज में अस्तव्यस्तता फैलती है। यह अधिकार

केवल ऐसे ही देशों में दिया जाना चाहिये जहाँ जनता की राजनैतिक शिक्षा उच्च श्रेणी की हो, तथा जहाँ की आबादी कम हो।

प्रत्यावर्तन (Recall)—इस अधिकार का अर्थ यह होता है कि यदि जनता चाहे तो वह अपने चुने हुए प्रतिनिधियों को, धारा सभा से, उनकी अवधि समाप्त होने के पहिले ही, वापिस बुला सकती है, इस अधिकार को भी अमल में लाने के लिए वोटरों की एक निश्चित संख्या को, आवेदन-पत्र द्वारा, यह प्रार्थना करनी पड़ती है कि अमुक प्रतिनिधि पर उसका विश्वास नहीं है। इसके पश्चात् यह प्रश्न जनमत के लिये भेज दिया जाता है और यदि निर्वाचकों की अधिक संख्या प्रतिनिधि को हटाने के पक्ष में हो तो उसे उसके पद से अलग कर दिया जाता है।

इस प्रथा का बहुधा दुरुपयोग किया जाता है, प्रतिनिधि, चुनाव के आन्दोलकों के हाथ में. कठपुतली बनकर रह जाता है और वह अपनी स्वतंत्र इच्छानुसार कार्य नहीं कर सकता।

लोकमत संग्रह (Plebiscite)—इस अधिकार के द्वारा कुछ महत्वपूर्ण राजनैतिक प्रश्नों पर जनता की राय ली जाती है। जनता का निर्णय शासकों पर बाध्य नहीं होता परन्तु फिर भी उसकी क़द्र की जाती है और उससे राजनैतिक प्रश्नों के विचार में, सरकार को भारी सहायता मिलती है। पिछले दिनों भारत में, जूनागढ़ रियासत के हिन्दुस्तान या पाकिस्तान से मिलने के प्रश्न पर, इसी प्रकार की राय ली गई थी। योरोप में भी यह प्रथा बहुत लोकप्रिय है।

ऊपर दिये गये चारों उपाय प्रजातंत्र शासन को जनता की अपनी चीज बनाने में बहुत सहायता देते हैं। परन्तु इन साधनों का उपयोग केवल उन्हीं देशों में ,किया जाना चाहिये जहाँ जनता में राजनैतिक जाग्रति उच्चकोटि की हो, तथा जहाँ वह अपना भला-बुरा आसानी से समझ सकती हो।

अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र (Indirect Democracy)—वर्तमान

राज्यों में उसकी सीमा तथा जनता के विस्तार के कारण प्रत्यक्ष प्रजातंत्र का होना सम्भव नहीं। इसीलिए निर्वाचन-पद्धति द्वारा, अप्रत्यक्ष प्रजातंत्र की स्थापना की गई है। इस प्रथा के आधीन जनता, अपने प्रतिनिधियों के द्वारा, शासन का संचालन करती है।

अप्रत्यक्ष प्रजातंत्र प्रथा के आधीन सरकार का संगठन मुख्यत: दो प्रकार से किया जाता है—(१) मंत्रिमंडलात्मक सरकार द्वारा (By means of Cabinet or Parliamentary form of Government) और (२) दूसरा अध्यक्षात्मक सरकार द्वारा (By means of presidential form of Government).

मंत्रिमंडलात्मक सरकार—यह सरकार की वह व्यवस्था है जिसमें देश की कार्यकारिणी (Executive) धारा सभा के सदस्यों में से चुनी जाती है तथा वह उसके प्रति उत्तरदायी रहती है। धारा सभा के चुनाव के समय, देश के विभिन्न राजनैतिक दल, अपने कार्य-क्रम के बल पर, जनता से अपने प्रतिनिधियों के हक़ में राय देने की प्रेरणा करते हैं। इस चुनाव में जिस राजनैतिक दल का बहुमत धारा सभा में पहुँच जाता है, उसी दल का नेता, प्रधान मंत्री बनकर, अपनी कार्यकारिणी (Cabinet) का चुनाव करता है। कार्यकारिणी में २ से लेकर १५-२० तक मंत्री रखे जाते हैं। प्रत्येक मंत्री को अलग-अलग महकमों का इन्तजाम सौंप दिया जाता है। वैसे सरकार की नीति का निश्चय सारे ही मंत्री मिलकर करते हैं और वह सब संयुक्त रूप से ही धारा सभा के प्रति जिम्मेदार होते हैं। प्रधान मंत्री, कार्यकारिणी का नेता होता है, तथा वह जब चाहे किसी मंत्री को अपने पद से इस्तीफा दे देने के लिए कह सकता है। इस प्रकार की सरकार की मुख्य रूप से चार विशेषताएँ होती हैं :—

(१) व्यवस्थापिका सभा और कार्यकारिणी का संयोग (Fusion of Legislature and Executive)—जैसे ऊपर

बतलाया गया है, इस प्रकार की सरकार में मंत्रिमंडल का चुनाव व्यवस्थापिका सभा के सदस्यों में से किया जाता है। व्यवस्थापिका सभा के बहुमत दल के नेता मंत्रीपद ग्रहण कर लेते हैं, तथा उसके पश्चात् वह स्वयं ही शासन कार्य को सुचारु रूप से चलाने के लिए, व्यवस्थापिका सभा के सामने क़ानूनों का मसविदा पेश करते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि कैबिनेट सरकार में व्यवस्थापिका सभा और मंत्रीमंडल अलग-अलग नहीं रहते।

(२) **कार्यकारिणी की एकता** (Unity of Organisation)—कार्यकारिणी सामूहिक रूप से प्रधान मंत्री के नेतृत्व में काम करती है, जो धारा सभा के बहुमत दल का नेता होता है। इस प्रकार प्रधान मंत्री, शासन और उसकी नीति की एकता क़ायम रखता है।

(३) **मंत्रियों की संयुक्त ज़िम्मेदारी** (Joint Responsibility)—मंत्रीमंडल सामूहिक रूप से व्यवस्थापिका सभा के प्रति ज़िम्मेदार होता है। यदि धारा सभा किसी एक मंत्री के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास करती है, तो केवल उसी मंत्री को इस्तीफ़ा देना नहीं पड़ता, बल्कि सारी कार्यकारिणी को ही इस्तीफा देना पड़ता है।

(४) **अवधि की अनिश्चितता** (No fixity of tenure—कैबिनेट सरकार को कोई निश्चित अवधि नहीं होती। वह केवल उतने ही समय तक अपने पद पर क़ायम रहती है जितने समय तक उसे व्यवस्थापिका सभा का विश्वास प्राप्त होता है। यदि व्यवस्थापिका सभा किसी मंत्रीमंडल बनने से अगले ही दिन उस पर अविश्वास का प्रस्ताव पास कर दे तो उसे तुरन्त ही अपने पद से इस्तीफा देना पड़ता है।

अध्यक्षात्मक शासन (Presidential Form of Government)

अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था में, व्यवस्थापिका सभा और कार्यकारिणी एक दूसरे से बिलकुल पृथक् रहती हैं। कार्यकारिणी का अध्यक्ष एक सभापति होता है। जनता उसे स्वयं चुनती है। वह धारा

सभा का सदस्य नहीं होता, न वह इसकी सभाओं में ही भाग लेता है। वह अपनी कार्यकारिणी स्वयं बनाता है। कार्यकारिणी के यह सदस्य व्यवस्थापिका सभा के सदस्य नहीं होते। वह केवल सभापति के प्रति ही उत्तरदायी होते हैं, धारा सभा के प्रति नहीं। इस प्रकार की शासन व्यवस्था में निम्नलिखित विशेषताएं होती हैं :—

(१) व्यवस्थापिका सभा तथा कार्यकारिणी की भिन्नता (Separation of Executive from Legislature)—इस प्रकार के शासन विधान में कार्यकारिणी धारा सभा से बिलकुल अलग रहती है। मंत्री धारा सभा में नहीं बैठते, न वह उसके सामने किसी प्रकार का क़ानून इत्यादि ही पेश करते हैं। धारा सभा स्वयं क़ानूनों को बनाती है। कार्यकारिणी का काम केवल क़ानूनों पर अमल करना होता है।

(२) उत्तरदायित्व का अभाव (No Responsibility)—कार्यकारिणी धारा सभा के सामने अपने कार्यों के लिए उत्तरदायी नहीं होती। धारा सभा में उसके कार्यों के सम्बन्ध में कोई प्रश्न नहीं पूछा जा सकता। वह व्यवस्थापिका सभा द्वारा अपने अधिकार पद से नहीं हटाई जा सकती।

(३) निश्चित अवधि (Fixed Term)—राज्य की कार्यकारिणी का अध्यक्ष निश्चित समय के लिए (अमेरिका में चार साल के लिए) चुना जाता है। इतने समय में उसे अपने कार्य-क्षेत्र में पूर्ण अधिकार प्राप्त होते हैं और उसे कोई भी अपने पद से हटा नहीं सकता।

मंत्रीमंडल शासन के गुण (Merits of Cabinet Govt)

(१) कैबिनेट सरकार में, कार्यकारिणी और व्यवस्थापिका सभा में घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है, इसलिए वह दोनों एक ही उद्देश्य से काम करते हैं। इसके विपरीत अध्यक्षात्मक शासन में मंत्री धारा सभा में जाकर किसी क़ानून को पेश नहीं कर सकते। इस प्रकार इस शासन में

कार्यकारिणी और व्यवस्थापिका सभा में मतभेद होने की सदा आशंका बनी रहती है।

(२) कैबिनेट सरकार में शासन सम्बन्धी कार्य अधिक योग्यता और तत्परता के साथ किए जा सकते हैं, क्योंकि उस व्यवस्था के अंतर्गत मंत्री धारा सभा के बहुमत दल के नेता होते हैं और देश के शासन को चलाने के लिए वे जिन क़ानूनों को सही समझते हैं उन्हें वे व्यवस्थापिका सभा में आसानी से स्वीकृत करा सकते हैं। अध्यक्षात्मक शासन में ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि वहाँ कार्यकारिणी तथा व्यवस्थापिका सभा दोनों स्वतंत्र रहती हैं।

(३) मंत्रिमंडलात्मक शासन जनता और व्यवस्थापिका सभा के प्रति उत्तरदायी हैं। इससे देश में जनता की सत्ता क़ायम रहती है। जो शासन जनमत के विरुद्ध जाता है वह आसानी से हटाया जा सकता है और उसके स्थान पर नया शासन स्थापित किया जा सकता है। अध्यक्षात्मक शासन में कार्यकारिणी की अवधि निश्चित रहती है और लोग चाहे कितना भी चाहें इस बीच में उसे उसके पद से नहीं हटा सकते। इस प्रकार कार्यकारिणी अपने कार्य काल में स्वेच्छाचार और निरंकुशतापूर्वक शासन कर सकती है।

(४) मंत्रिमंडलात्मक शासन का प्रधान गुण उसका लचीलापन और परिवर्तनशीलता है। इस प्रकार के शासन विधान में आवश्यकता पड़ने पर अथवा राष्ट्रीय संकट के समय मंत्रिमंडल आसानी से बदला जा सकता है। अध्यक्षात्मक प्रथा में कार्यकारिणी का काल निश्चित रहता है। इसलिए वह किसी भी दशा में नहीं बदली जा सकती।

दोष (Defects

कैबिनेट सरकार में जहाँ इतने गुण हैं वहाँ उसमें दोष भी हैं।

(१) सर्वप्रथम यह स्थायी ढंग की सरकार नहीं है। जिस देश में अधिक राजनैतिक दल होते हैं उसमें सरकार बराबर बदलती रहती है।

शासन के परिवर्तन के साथ-साथ कभी कभी नीति में भी क्रान्तिपूर्ण परिवर्तन हो जाता है और इससे बहुत असंतोष और सार्वजनिक विद्रोह उत्पन्न हो जाते हैं।

(२) इस व्यवस्था में अधिकार विभाजन के कार्य को अमल में नहीं लाया जाता। व्यवस्थापिका और कार्यकारिणी के काम एक ही संस्था में शामिल कर दिए जाते हैं, इससे नागरिक स्वतन्त्रता के अपहरण का खतरा बना रहता है।

(३ कैबिनेट सरकार में मन्त्रिमंडल एक राजनैतिक दल द्वारा बनाया जाता है। अल्पमत दल के बहुत से योग्य पुरुष इस मंत्रिमंडल में शामिल नहीं किए जाते। इसका अर्थ देश में एक दल की सरकार की स्थापना होता है, और यह दल हर प्रकार से अपने विरोधी दल को दबाने का प्रयत्न करता है।

अध्यक्षात्मक शासन के गुण (Merits of Presidential Form of Government)

(१) इस शासन व्यवस्था में देश के दैनिक शासन के संचालन के लिए कार्यकारिणी को पूर्ण अधिकार प्राप्त होते हैं। इसमें व्यवस्थापिका सभा कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकती।

(२) इस प्रकार की सरकार में योग्य शासक के अन्तर्गत अधिक तत्परता और क्षमता के साथ काम किया जा सकता है। मंत्रिमंडलात्मक सरकार में मंत्रियों में मतभेद होने के कारण इतनी कुशलता और क्षमता के साथ काम नहीं किया जा सकता।

(३) यह व्यवस्था उन देशों के लिए अच्छी है जहाँ विभिन्न जातियों और दलों का प्राधान्य रहता है।

दोष (Defects)

(१) इस शासन विधान में व्यवस्थापिका सभा और कार्यकारिणी में मतभेद का सदा भय बना रहता है। जब सभापति एक दल का नेता

होता है और व्यवस्थापिका सभा में दूसरे दल के लोगों का बहुमत, तो शासन की व्यवस्था ठीक प्रकार से नहीं चलती।

(२) व्यवस्थापिका सभा के सदस्य कार्यकारिणी शासन की उन कठिनाइयों को अच्छी तरह नहीं समझते जो उसे देश के दिन प्रतिदिन के शासन कार्य के संचालन करने में उठानी पड़ती हैं, और इसलिए वह उन क़ानूनों को उस तत्परता के साथ स्वीकार नहीं करते, जैसे कि कार्यकारिणी, देश में शान्ति स्थिर रखने की भावना से, चाहती है।

(३) अध्यक्षात्मक सरकार में कार्यकारिणी जनमत का आदर नहीं करती। कार्यकारिणी के अध्यक्ष के एक बार चुन लिए जाने के बाद उसके हटाने के लिए कोई भी वैधानिक साधन नहीं है चाहे उसकी नीति और कार्यों को व्यवस्थापिका सभा और निर्वाचक दोनों क्यों न नापसन्द करते हों।

अध्यक्षात्मक शासन केवल अमेरिका और उसके कुछ देशों में प्रचलित है। संसार के दूसरे सभी देशों में मंत्रिमंडलात्मक शासन व्यवस्था ही चालू है। यह इस प्रकार के शासन की लोकप्रियता का पूरा प्रमाण है।

एकात्मक और सङ्घीय शासन विधान

इन दोनों शासनों का वर्णन विधान के अध्याय में किया जा चुका है। यहाँ हम संघीय शासन के लाभ और हानियों का ही वर्णन करेंगे।

सङ्घीय शासन के गुण (Merits of the Federal Govt.)

(१) यह राष्ट्रीय एकता और स्थानीय स्वाधीनता के समन्वय का आश्चर्यजनक राजनीतिक उपाय है। यह छोटे-छोटे राज्यों को आपस में मिलाकर, स्वाधीनता के कम से कम बलिदान द्वारा, अधिक शक्तिशाली पड़ोसियों के आक्रमण से रक्षा के योग्य बनाता है। संघीय शासन में केवल समान हित के विषय केन्द्रीय शासन के नियंत्रण में सौंपे जाते हैं, बाक़ी विषय प्रान्तीय सरकारों के ही अधिकार में रहते हैं। इस प्रकार

संघीय शासन में राष्ट्रीय एकता के साथ-साथ स्वाधीनता भी मिल जाती है।

(२) यह राष्ट्रीय और स्थानीय शासनों के बीच कार्य का इस प्रकार विभाजन करता है कि इससे शासन यंत्र में अधिक कुशलता आ जाती है।

३) इस विधान के अंतर्गत स्थानीय ज्ञान का स्थानीय शासन सम्बन्धी कार्यों में उपयोग किया जा सकता है। केन्द्रीय शासन के उच्च कर्मचारी राजधानी में रहकर, विभिन्न स्थानीय लोगों की आवश्यकताओं को नहीं जान सकते। इन आवश्यकताओं को वहीं के स्थानीय लोग ही समझ सकते हैं और वह इन कार्यों में क्रियात्मक और बुद्धिमत्तापूर्ण दिलचस्पी लेकर प्रजातंत्र की कुछ व्यवहारिक शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं।

(४) प्रजातंत्रात्मक शासन के काम को सफलतापूर्वक चलाने के लिए संघीय शासन एक आदर्श उपाय है क्योंकि यह अधिक विस्तृत क्षेत्र में प्रजातंत्रात्मक संस्थाओं को स्थापित करने की सुविधाएँ प्रदान करता है। संघीय शासन अधिकारों के व्यापक विकेन्द्रीयकरण के सिद्धांत पर अवलम्बित है। इसलिये इस शासन व्यवस्था के अन्तर्गत एक साधारण नागरिक को जो देश के एक दूर छोर में रहता हो, स्थानीय संस्थाओं के कार्यों में भाग लेकर अपनी नैतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति करने का अवसर मिलता है।

(५) यह हिन्दुस्तान, रूस या अमेरिका जैसे बड़े देशों के लिये विशेष रूस से उपयुक्त है। इन देशों में विभिन्न स्थानीय परिस्थितियों और प्रश्नों के कारण विभिन्न व्यवहार की आवश्यकता पड़ती है। सङ्घ शासन, समान हित के विषयों में नीति और शासन की समानता का आयोजन करता हुआ भी स्थानीय मामलों के विभिन्न क़ानूनों का आयोजन करता है।

(६) यह सङ्घीय राज्यों को अपने आर्थिक साधनों की अधिक उन्नति करने के योग्य बनाता है।

(७) यह संघीय राज्यों को अधिकाधिक अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा और सम्मान प्रदान करता है। आज संसार में अमेरिका सबसे अधिक शक्तिशाली राष्ट्र माना जाता है, क्योंकि वह ४८ राज्यों का एक सम्मिलित राज्य है।

(८) यह संसार के स्वतंत्र राष्ट्रों के स्वतंत्र सङ्घ की स्थापना की ओर प्रथम क़दम है जिसे सभी प्रजातन्त्रवादी अपना लक्ष्य मानते हैं। इस प्रकार इसका भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल है।

दोष (Defects)

जहाँ संघीय शासन में इतने गुण हैं वहाँ इसमें कुछ दोष भी हैं। लार्ड ब्राइस इसके दोषों का संक्षेप में इस प्रकार वर्णन करता है।

(१) विदेशी प्रश्नों के हल करने में सङ्घीय शासन एकात्मक शासन के मुक़ाबले में कमज़ोर रहता है क्योंकि इसके अन्तर्गत सङ्घ में सम्मिलित राज्यों की अलग इकाई होती है।

(२) गृह शासन में भी यह शासन-व्यवस्था एकात्मक शासन के मुक़ाबले में कमज़ोर सिद्ध होती हैं क्योंकि इसमें प्रत्येक नागरिक को दो सरकारों का हुक्म मानना पड़ता है—(१) सङ्घीय और (२) प्रान्तीय।

(३) इस शासन में राज्यों के विद्रोह द्वारा शासन के भंग होने की सम्भावना रहती है।

(४) सङ्घीय राज्यों द्वारा अलग-अलग गुट बनाए जाने तथा इस प्रकार सङ्घीय सरकार की शक्ति कम होने का डर रहता है।

(५) सङ्घीय शासन में दो सरकारों तथा दो प्रकार के क़ानून होते हैं। सारा देश एक ही प्रकार के शासन के आधीन नहीं रहता।

(६) क़ानून और शासन की द्वैध प्रणाली की उलझनों के कारण सरकार का खर्चा बढ़ जाता है और शासन की कुशलता घट जाती है।

इस प्रकार हमें पता चलता है कि सङ्घीय शासन के सबसे बड़े दोष अधिकारों के बटवारे के कारण पैदा होते हैं। एकात्मक शासन में जो एकता, शक्ति, तत्परता और योग्यता मौजूद रहती है वह सङ्घीय राज में नहीं पाई जाती। सङ्घीय शासन में द्वैध राजभक्ति रहती है। शासन यंत्र भी दोहरा होता है। इसका मतलब यह होता है कि सङ्घीय शासन एकात्मक शासन की अपेक्षा अधिक खर्चीला होता है। इसके अतिरिक्त सङ्घ में क़ानून और नीतियों की विभिन्नता रहती है और इससे एक साधारण नागरिक के मन में दुविधा पैदा हो जाती है। केन्द्रीय और स्थानीय अंगों के बीच अधिकारों के बटवारे के सम्बन्ध में भी अक्सर झगड़े हुआ करते हैं जिससे इन मामलों को सङ्घ-अदालत के सामने भेजने की ज़रूरत पड़ती है।

सघवाद का भविष्य (Future of Federalism)

सङ्घीय शासन के तरीक़े में इन दोषों के रहने पर भी वर्तमान् प्रजातन्त्रात्मक संसार में सङ्घ का आदर्श अधिकाधिक लोकप्रिय हो रहा है। केवल इसी सिद्धांत के आधार पर प्रजातन्त्रवादी संसार में मनुष्य समाज की विशाल सभा (Parliament of man) और संसार के सङ्घ (World government) की स्थापना करने का प्रयत्न कर रहे हैं। इसी सिद्धांत के कार्य रूप में परिणत होने पर संसार के अन्तर्राष्ट्रीय झगड़े, प्रतिस्पर्धा, युद्ध, साम्राज्यवाद आदि सभी सङ्कट समाप्त हो जायेंगे।

एकात्मक शासन के गुण (Merits of Unitary Government)

(१) एकात्मक शासन विधान में क़ानून और न्याय के सम्बन्ध में पूरी-समता स्थापित की जाती है। राष्ट्र के सभी नागरिक एक ही प्रकार के क़ानून और क़ायदों का पालन करते हैं। इससे जनता में एकता बढ़ती है और एक शक्तिशाली राष्ट्र का निर्माण होता है।

(२) एकात्मक शासन विधान में सब अधिकार केन्द्रीय सरकार को ही प्राप्त होते हैं, इससे राज्य के अंगों के अधिकार और सीमा क्षेत्र के सम्बन्ध में वैसा कोई भी संघर्ष उत्पन्न नहीं होता, जैसा कि प्रायः संघ के विभिन्न राज्यों के बीच अधिकार विभाजन के प्रश्न पर हो जाया करता है।

(३) एकात्मक विधान में शासन के सब अधिकार एक ही जगह केन्द्रीभूत रहते हैं, इससे देश के विदेशी मामलों और युद्ध सञ्चालन के क म में अधिक सुविधा रहती है।

(४) इसकी व्यवस्था बहुत सरल होती है, और इस कारण यह अत्यधिक तेज़ी से कार्य कर सकती है।

(५) इसमें संघीय शासन की अपेक्षा कम खर्च होता है क्योंकि इसमें केन्द्रीय और नौकरियों की द्वैध प्रणाली नहीं रहती।

दोष (Defects)

(१) यह केन्द्रीय शासन पर उन कार्यों का भार लाद देती है जिसका सम्बन्ध स्थानीय शासन से रहता है। यह काम इन स्थानों में रहने वाले लोग बहुत आसानी से कर सकते हैं।

(२) डाक्टर गारनर के मतानुसार एकात्मक शासन से स्थानीय कार्य-क्षमता का ह्रास होता है, सार्वजनिक कार्यों के प्रति दिलचस्पी कम हो जाती है, तथा स्थानीय शासनों की उपयोगिता कम हो जाती है।

(३) प्रजातन्त्र शासन में अधिकारों का अधिकाधिक विकेन्द्रीकरण होना चाहिए, जिससे जनता पंचायती राज्य की शिक्षा प्राप्त कर सके। परन्तु एकात्मक शासन में. अधिकारों का केन्द्रीयकरण होता है।

(४) एकात्मक विधान में अपरिवर्तनशील नौकरशाही प्रथा का प्रधानत्व रहता है। इससे राज्य एक पुराने ढङ्ग पर चलता है और उसमें स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार नए प्रयोग की क्षमता नहीं रहती।

अच्छे शासन की परख (Test of a Good Government)

इस अध्याय के पिछले पृष्ठों में हमने संसार के विभिन्न देशों में प्रचलित भिन्न-भिन्न शासन के तरीक़ों पर विचार किया है। इन तरीक़ों में कुछ दोष पाए जाते हैं इसलिए यह कहना बहुत कठिन है कि किस देश के लिए कौन से शासन का सबसे ज्यादा उपयोग है। शासन की उपयोगिता उस देश की विशेष परिस्थितियों और वातावरण पर निर्भर करती है। ऐसा कोई एक शासन का तरीक़ा नहीं जो सभी सामाजिक अवस्थाओं तथा हालतों में ठीक साबित हो सके।

शासन के विभिन्न तरीक़े विभिन्न आवश्यकताओं और उद्देश्यों की पूर्ति करते है। राजतंत्रात्मक शासन पिछड़े हुए देशों के लिए ठीक रहता है, जहाँ लोगों में नैतिक जागृति का पूर्ण विकास नहीं हुआ है। प्रजातन्त्र शासन उस देश के लिए उपयुक्त हो सकता है जहाँ साधारण शिक्षा का काफी प्रचार हो तथा जहाँ लोग अपने अधिकार और कर्तव्यों को भली प्रकार समझते हों। मंत्रिमण्डलात्मक शासन का तरीक़ा उस देश के लिए ठीक होता है जहाँ दो राजनीतिक दल हों तथा जहाँ जनता में राजनैतिक मतभेद न हो। अध्यक्षात्मक शासन का तरीका उस देश के लिए ठीक हो सकता है जहाँ विभिन्न जातियों और मतों का प्राधान्य हो। तानाशाही किसी भी देश में राष्ट्रीय सङ्कट को दूर करने या युद्ध का सञ्चालन करने के लिए ठीक मानी जा सकती है। सङ्घीय शासन उन देशों के लिए ठीक है जिन्हें राष्ट्रीय एकता और स्थानीय स्वराज्य के क़ायम रखने की इच्छा हो। एकात्मक शासन इससे दूसरी परिस्थितियों में ठीक माना जा सकता है।

इसलिए हम शासन की अच्छाई का निश्चय करने के लिए किसी भी विशेष माप को निर्धारित नहीं कर सकते। 'पोप' के समान कुछ लेखकों का कहना है कि "वह शासन सर्वोत्तम है जहाँ सर्वोत्तम तरीके से शासन किया जाता है।" हमारे मत से शासन की कुशलता ही अच्छेश सन की कसौटी तथा परख नहीं है। यह बात सही है कि किसी भी शासन को अच्छा बनने के लिए समाज में ठीक प्रकार से शांति और न्याय क़ायम रखना चाहिये;

परन्तु अच्छे शासन की वास्तविक पहचान यह है कि वह कहाँ तक नागरिकों में उन बौद्धिक और नैतिक गुणों का संचार करता है जिन पर मानव समाज की उन्नति और सामाजिक सहयोग की भावना अवलम्बित है।

योग्यता-प्रश्न

(१) राज्य के वर्गीकरण के अरिस्टाटल के तरीक़े पर प्रकाश डालिए और उसके दोष बतलाइये।

(२) राजतंत्रात्मक शासन से लाभ और हानि क्या है?

(३) कुलीनतन्त्र (Aristocracy) से आप क्या समझते हैं? इसके विभिन्न तरीक़े कौन से हैं? कुलीनतंत्रात्मक शासन के तरीक़े मौजूदा संसार में कहाँ तक पाए जाते हैं?

(४) प्रजातन्त्र का क्या अथ है? इसके गुण और दोष पर प्रकाश डालिए। (यू० पी०, १९३१, १९३७, १९३९, १९४२, १९४४)

(५) प्रजातन्त्रात्मक विधान के सफलतापूर्वक काम करने के लिये कौन सी शर्तें ज़रूरी हैं? यह शर्तें हिन्दुस्तान में कहाँ तक पाई जाती हैं। (यू० पी०, १९३०, १९३३, १९३४, १९३८)।

(६) सङ्घीय (Federal) और एकात्मक (Unitary) विधानों की तुलना कीजिये। हिन्दुस्तान के लिए आप कौन सा तरीक़ा पसन्द करेंगे और क्यों? (यू० पी०, १९४८)

(७) मंत्रिमंडलात्मक (Cabinet) और अध्यक्षात्मक शासन के विशेष गुण क्या हैं? इनके गुण और दोषों पर तुलनात्मक प्रकाश डालिए। (यू० पी०, १९४७)

(८) मौजूदा ज़माने में पाए जाने वाले शासन के तरीक़ों का वणन कीजिए और उनके गुण और दोषों पर प्रकाश डालिए।

(९) वतमान संसार में पाए जाने वाली सरकारों का वणन कीजिए। (यू० पी०, १९३८, १९४८)

(१०) आप प्रस्वाधिकार, जनमत संग्रह, प्रत्यावतन तथा लोकसंग्रह से क्या समझते हैं। स्पष्ट रूप में समझाइए।

(११) शासन के प्रधान तरीक़े क्या हैं और बहुधा प्रजातंत्रात्मक शासन क्यों पसन्द किया जाता है? (यू० पी०, १९३०)

(१२) प्रजातंत्र की व्याख्या कीजिए और प्रजातंत्र में भाषण और समाचार-पत्र की स्वाधीनता का क्या महत्त्व है ? इस पर प्रकाश डालिए। (यू० पी०, १६४२)

(१३) संघीय (Federal) और एकात्मक (Unitary) शासन के कार्यकारिणी के विभिन्न तरीक़ों का वर्णन कीजिए। (यू० पी०, १९३४)

(१४) मंत्रिमंडलात्मक (Parliamentary) शासन के गुणों का वर्णन कीजिए। इसकी सफलता के लिये विभिन्न राजनैतिक दलों की क्यों आवश्यकता पड़ती है। (यू० पी०, १९४०)

(१५) प्रजातंत्रीय शासन का अर्थ है कि राज्य के प्रत्येक नागरिक को अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए समान अवसर मिलने चाहिएँ—समझाइये। (यू० पी०, १६४३)

(१६) प्रजातन्त्रीय और तानाशाही शासनों के गुणों का मुक़ाबला कीजिये। (यू० पी०, १९४४)

(१७) वह सरकार सबसे अच्छी होती है जो सबसे कम शासन करे। क्या आप इस राय से सहमत हैं ? (यू० पी०, १९४८)

(१८) संघीय शासन के मुख्य अंग क्या हैं ? इस शासन के गुण तथा दोषों का वर्णन कीजिये। (यू० पी०, १९४९)

———

सतरहवाँ अध्याय

राज्य का स्वभाव, उद्देश्य और कार्य

(Nature, End And Functions of the State)

§ १. राज्य का स्वभाव (Nature of the State)

राज्य कृत्रिम और स्वाभाविक दोनों हैं (State both Artificial and Natural)

कभी-कभी यह प्रश्न उठता है कि राज्य कृत्रिम है अथवा स्वाभाविक, अर्थात् वह ईश्वर का बनाया हुआ है या मनुष्य का। इस विषय पर गम्भीरता से विचार किया जाय तो मालूम पड़ता है कि राज्य न ईश्वरकृत ही है और न मनुष्यकृत ही। इसका जन्म प्राकृतिक विकास की क्रिया के फलस्वरूप अनायास ही हुआ है।

परन्तु यह दूसरे कारणों से स्वाभाविक और कृत्रिम दोनों कहा जा सकता है। मनुष्य स्वभाव से ही शान्ति और व्यवस्था पसन्द करता है। उसे अराजकता और झगड़ों से घृणा है। उसके व्यक्तित्व के विकास के लिए शान्तिपूर्ण वातावरण की आवश्यकता पड़ती है। इसलिए राज्य का संगठन मानव स्वभाव में व्याप्त है। राज्य स्वाधीनता का पोषक, अधिकारों का पालक तथा कर्तव्यों का संरक्षक है। संस्कृति और सभ्यता के विकास के लिए वह आवश्यक है। मनुष्य राज्य के बाहर नहीं रह सकता। जिस प्रकार मछलियों के जीवित रहने के लिए पानी की आवश्यकता पड़ती है, ठीक उसी प्रकार मनुष्य को शान्तिपूर्ण जीवन के लिए राज्य की जरूरत पड़ती है। राज्य का जन्म मनुष्य के साथ हुआ। प्राथमिक अवस्थाओं में जब मनुष्य असभ्य और बर्बर था तो राज्य का सङ्गठन

भी अपूर्ण और बेढंगा था। परन्तु कुछ समय के बाद जब सभ्यता का विकास हुआ तो राज्य की व्यवस्था भी अधिक दृढ़ बन गई। परन्तु अभी तक उसने अपने आदर्श को प्राप्त नहीं किया है; और इस समय भी उसका विकास हो रहा है। इस मायने में यह कहा जा सकता है कि राज्य स्वाभाविक है।

हम राज्य को दूसरे कारणों से कृत्रिम कह सकते हैं। राज्य की मशीनरी अर्थात् सरकार का संगठन मनुष्य करता है। राज्य में रहने वाले सभी नागरिक सामूहिक रूप से मिलकर इस बात का फैसला करते हैं कि उन्हें अपने देश के लिए किस प्रकार के शासन की व्यवस्था करनी चाहिए—मन्त्रिमंडलात्मक या अध्यक्षात्मक, एकात्मक या सङ्घीय, तानाशाही या प्रजातांत्रिक इत्यादि।

उपरोक्त भाव में हम यह कह सकते हैं कि राज्य स्वाभाविक और कृत्रिम दोनों हैं।

§ २. राज्य का उद्देश्य (The End of the State)

राज्य के उद्देश्य के सम्बन्ध में दो प्रधान मत हैं—एक मत राज्य को किसी अन्य उद्देश्य का साधन नहीं मानता। वह राज्य को अपना उद्देश्य स्वयं मानता है (The State is an end in itself)। दूसरे मत के अनुसार राज्य मनुष्य की भलाई का केवल एक साधन मात्र है (The State is merely a means to individual good)।

राज्य के उद्देश्य के पहिले मत का समर्थन जर्मन दार्शनिकों (Hegel Trietske) वग़ैरह और फासिस्ट सिद्धांतवादियों ने किया है। उनका कहना है कि राज्य का अपने नागरिकों से अलग एक व्यक्तित्व है, राज्य का मुख्य उद्देश्य अपने को गौरवांकित करना है। मनुष्यों के राज्य के विरुद्ध किसी प्रकार के अधिकार नहीं, उनके उसके प्रति केवल कर्तव्य हैं। नागरिकों का अस्तित्व राज्य के कारण है, उन्हें जो भी शिक्षा-दीक्षा तथा जीवन में उन्नति करने के अवसर मिलते हैं, वह सब राज्य की देन

है। मनुष्य का इसलिए धर्म है कि वह अपने राज्य के प्रति अपना सर्वस्व न्योछावर करने के लिए सदा तत्पर रहे। राज्य के गौरव में मनुष्य का गौरव है और राज्य के पतन में मनुष्य का पतन; राज्य एक आध्यात्मिक संस्था है, वह कोई बुरा काम नहीं कर सकती। वह जो काम करती है, जनता की भलाई के लिये ही करती है।

यह मत कभी भी सर्वमान्य तथा लोकप्रिय नही हो सका है, कारण यह मनुष्य को राजा की प्रतिष्ठा का केवल एक साधन मात्र बना देता है। वास्तव में मनुष्य की अपनी एकाई है, अपना अस्तित्व है, मनुष्यों के सङ्गठन से ही राज्य का जन्म होता है, राज्य मनुष्यों से अलग कोई वस्तु नहीं है। इसलिए दूसरे कुछ दार्शनिकों का कहना है कि राज्य का उद्देश्य अपना गौरव प्राप्त करना नहीं; वरन् अपने नागरिकों के व्यक्तित्व के विकास के लिये प्रयत्न करना है। मनुष्य अपना स्वयं उद्देश्य है, राज्य उसकी उद्देश्यपूर्णता का केवल एक साधन है।

परन्तु यहाँ प्रश्न उठता है कि राज्य किस मनुष्य के उद्देश्य की पूर्ति का साधन है। इसका उत्तर यह है कि राज्य का धर्म किसी व्यक्ति विशेष का हित साधन करना नहीं, वरन् राज्य के अन्तर्गत रहने वाले सभी व्यक्तियों का हित साधन करना है। राज्य का धर्म समान हित (Common good) के लिए काम करना है, व्यक्तिगत हित के लिए नहीं। राज्य इसी मायने में व्यक्तियों से ऊपर एक सङ्गठन है कि वह सारी जनता का हित साधन करता है, किसी एक व्यक्ति का नही।

§ ३. राज्य के कार्य सम्बन्धी भिन्न-भिन्न सिद्धान्त
(Theories of State functions)

राज्यों के कार्यों का निश्चित गुण, समय-समय पर समाज के विचार और आवश्यकताओं और परिस्थितियों के प्रभाव के अनुसार बदलता रहता है। पुराने जमाने में राज्य के कार्य वर्तमान काल की अपेक्षा बिल्कुल भिन्न थे। उस समय लोगों के धार्मिक विश्वास और सांस्कृतिक अधिकारों

की व्यवस्था, राज्य के मुख्य कर्तव्यों में समझे जाते थे। इसके अतिरिक्त राज्य के अन्य कार्य बहुत कम थे। वह केवल वही कार्य थे जिन्हें आजकल हम आवश्यक कार्य कहते हैं। इसलिये राज्य के वास्तविक कार्य समय, गुण और लोगों के विचार के अनुसार बदलते रहते हैं। राज्य के कार्यों के तीन प्रधान सिद्धांत हैं—(१) व्यक्तिवाद, (२) समाजवाद और (३) आदर्शवाद।

व्यक्तिवाद सिद्धांत (Individualistic Theory of State Functions)

व्यक्तिवाद सिद्धांत के अनुसार हमारी स्वतंत्रता हमारे जीवन की सबसे प्रिय वस्तु है। राज्यों के कार्यों और क़ानूनों द्वारा हमारी स्वतंत्रता में हस्तक्षेप होता है, अतः राज्य का कार्यक्षेत्र यथासम्भव बहुत ही छोटा होना चाहिये। फ्रीमैन (Freeman) ने कहा है "सबसे अच्छी सरकार वह है जो सबसे कम शासन करती है" (That Government is the best which governs the least.) हम राज्य को एकदम तो हटा नहीं सकते, क्योंकि समाज में ऐसा करने से अस्तव्यस्तता फैलने का डर रहता है और समाज के दुश्मन उभरने लगते हैं परन्तु हम इतना अवश्य कर सकते हैं कि राज्य की संस्था को अधिक अधिकार न सौंपें—उसका कार्यक्षेत्र अत्यन्त सीमित रक्खें। व्यक्तिवादी दार्शनिकों की राय में राज्य एक आवश्यक दोष है (State is a necessary evil)। यह एक ऐसी बुराई है जिसे विवश होकर व्यक्ति को स्वीकार करना पड़ता है। इसलिए राज्य को कोई ऐसा अधिकार नहीं मिलना चाहिये जिससे वह व्यक्तियों को दबा सके। राज्य का काम केवल "मनुष्य की प्राकृतिक उन्नति के रास्ते में से रोड़े हटाना है," उसकी भलाई करना या उसकी उन्नति के लिए प्रबन्ध करना नहीं। राज्य को केवल एक पुलिस स्टेट (Police State) का काम करना चाहिये अर्थात् समाज में शान्ति और व्यवस्था, देश की बाहरी आक्रमणों से रक्षा, तथा व्यक्तियों के जान और माल की

हिफ़ाज़त करनी चाहिये। उसका काम स्कूल और कौलिज, वाचनालय और अजायबघर, अस्पताल और आमोद-प्रमोद के स्थान खोलना नहीं। ऐसा करने से व्यक्ति की प्राकृतिक उन्नति में बाधा पड़ती है।

इस सिद्धांत का प्रतिपादन यूरुप में अठारहवीं सदी के अन्तिम काल में हुआ था। इसके मुख्य समर्थक मिल (Mill), ऐडम स्मिथ (Adam Smith), स्पैन्सर (Spencer), रिकार्डो (Ricardo) तथा मालथस (Malthus) थे। यह सिद्धांत मुख्यतः तीन धारणाओं पर अवलम्बित हैं।

(१) **नैतिक**—इस धारणा के अनुसार मनुष्य समाज में केवल उसी समय उन्नति कर सकता है जब उसे बिल्कुल स्वाधीन छोड़ दिया जाय। बाहरी मदद से मनुष्य में स्वयं उन्नति करने की शक्ति नहीं रहती, उसका विकास रुक जाता है और वह दूसरों पर निर्भर रहने लगता है। इस प्रकार, बाहरी मदद से, न केवल एक व्यक्ति के जीवन का ही विकास रुकता है बल्कि समाज की उन्नति में भी बाधा पड़ती है।

(२) **आर्थिक**—समाज की आर्थिक उन्नति भी स्वतंत्रता के वातावरण में ही सम्भव होती है। व्यापारिक और व्यवसाय स्वतंत्र प्रतिस्पर्धा (Open Competition) के क्षेत्र में ही बढ़कर उन्नति करते हैं। खुले बाज़ार में चीजें सबसे सस्ती रहती हैं, और माँग और पूर्ति की शक्तियाँ, चीजों को देश के विभिन्न हिस्सों में बराबर-बराबर भेजने पर मजबूर करती हैं। मनुष्य अपना आर्थिक स्वार्थ खूब समझता है, वह जानता है कि उसका फायदा किस काम को करने में है। इसलिए यदि सरकार सब मनुष्यों को स्वतंत्र छोड़ दे तो वह अपनी और फलतः समाज की अधिक से अधिक आर्थिक उन्नति कर सकते हैं।

(३) **वैज्ञानिक**—वैज्ञानिक आधार पर भी व्यक्तिवादी अपने सिद्धांत का समर्थन करते हैं, उनका कहना है कि प्रकृति के क्षेत्र में एक निरंतर जीवन संग्राम (Struggle for Existence) चलता रहता है

जिसका उद्देश्य यह होता है कि अनुपयुक्त जीव नष्ट हो जायँ और केवल उपयुक्त जीव ही बचे रहें (Survival of the fittest)। यदि सरकार आर्थिक या सामाजिक बातों में हस्तक्षेप करती है और निर्धनों या दुर्बलों की सहायता करती है तो इससे जीवन सग्राम में विघ्न पड़ता है। अतः व्यक्तिवाद, अर्थात् न हस्तक्षेप (Laissez Faire) की नीति ही प्रकृति के नियमों के अनुकूल है। इसी नियम से अयोग्य और बेकार मनुष्यों के समाज से नष्ट होकर एक बलवान, उन्नतशील और शक्तिशाली राष्ट्र की स्थापना संभव हो सकती है।

व्यक्तिवादी सिद्धान्त की आलोचना (Criticism of the Theory of Individualism)

व्यक्तिवादी सिद्धांत की अनेक लोगों ने आलोचना की है। उनका कहना है कि इस सिद्धान्त ने मनुष्य का मनुष्य द्वारा शोषण सिखाया, पूँजीपतियों द्वारा ग़रीब किसान और मज़दूरों पर किये गये अत्याचार का समर्थन किया, तथा संसार में एक दमन और अनाचार के वातावरण को जन्म दिया। इस सिद्धान्त में अनेक दोष हैं—

(१) सर्वप्रथम यह, कि यह सिद्धान्त इस धारणा पर अवलम्बित है कि प्रत्येक मनुष्य का अपना एक अलग अस्तित्व है, उसका दूसरे प्राणियों से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। उसके हित समाज के दूसरे लोगों के हित से भिन्न हैं। यह सिद्धान्त एकदम ग़लत है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है. उसका हित समाज और राज्य के हित के साथ आबद्ध है। मनुष्य में सामाजिक सेवा की प्राकृतिक भावना है; परन्तु व्यक्तिवादी, मनुष्य को एक स्वार्थी जीव ही मानते हैं।

(२) दूसरे, व्यक्तिवादी यह भूल जाते हैं कि स्वतन्त्रता का वास्तविक अर्थ हस्तक्षेप का अभाव नहीं, वरन् उन अवस्थाओं का होना है जिनमें मनुष्य अपने व्यक्तित्व का अधिक से अधिक विकास कर सकता है। यदि किसी मनुष्य को एक निर्जन टापू में छोड़ दिया जाय तो वहाँ उससे

हस्तक्षेप करने वाला तो कोई न होगा और व्यक्तिवादियों के मतानुसार उसे पूर्ण स्वतन्त्रता रहेगी. परन्तु ऐसी स्वतन्त्रता कोई भी मनुष्य पसन्द न करेगा। अतः स्वतंत्रता का असली अर्थ इच्छित और हितकर कार्यों के करने की सुविधा है। सरकार अपने उपयुक्त कार्यों द्वारा हमें इस प्रकार की सुविधाएँ प्रदान करती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारी स्वतंत्रता और राज्य के कार्यों में कोई विरोध नहीं है। सरकार हमारी स्वतंत्रता का रक्षक और सहायक होती है।

(३) समाज में सब मनुष्य समान रूप से बुद्धिमान नहीं होते। कुछ मनुष्य अधिक बुद्धिमान होते हैं, कुछ कम, कुछ मनुष्य शक्तिशाली होते हैं, कुछ निर्बल, कुछ मनुष्य सीधे-सादे होते हैं, कुछ अत्यन्त चालाक और धोखेबाज़। यदि सरकार, क़ानून बनाकर, निर्बलों की सबलों से, और समाज के सीधे-सादे व्यक्तियों की बदमाश गुन्डों से हिफाज़त न करे तो समाज में घोर अन्याय छा जायगा और निर्बल तथा विवेकहीन मनुष्यों के लिए जीवित रहना कठिन हो जायगा।

(४) व्यक्तिवादी यह नहीं बतलाते कि वह जीवन संग्राम के लिए किसको सबसे अधिक उपयुक्त प्राणी मानते हैं—उनकी योग्यता की कसौटी क्या है—धन की शक्ति, अथवा बौद्धिक क्षमता, अथवा नैतिक उच्चता। यदि अधिक धनवान मनुष्यों के लिए ही यह समाज है, निर्धनों के लिए नहीं, तो एक डाकू जिसके पास लूट का बहुत सा धन इकट्ठा रहता है, एक ईमानदार मज़दूर के मुक़ाबले में अधिक योग्य माना जाना चाहिये और उसकी समाज में भी अधिक प्रतिष्ठा होनी चाहिए। इसी प्रकार शारीरिक बल के आधार पर, ऐसी समाज में, केवल पहलवानों का ही राज्य होना चाहिये, कमज़ोरों का नहीं। फिर व्यक्तिवादी यह नहीं बतलाते कि अपनी समाज में वह बच्चों, स्त्रियों तथा बीमारों के साथ किस प्रकार का व्यवहार करना चाहते हैं, क्योंकि स्वाभाविकतया यह लोग औरों के आक्रमण के विरुद्ध अपनी रक्षा नहीं कर सकते।

(५) आर्थिक क्षेत्र में व्यक्तिवादी सिद्धांत का आशय होता है कि मज़दूरों से अधिक से अधिक काम लिया जाय, उन्हें कम से कम वेतन दिया जाय, उनके रहने के लिए कोई अच्छे मकान न दिये जायँ, स्त्रियों और बच्चों को कारखानों में काम पर लगाया जाय, बाज़ार में चीजें बेचने में किसी प्रकार की ईमानदारी व्यवहार में न लाई जाय, तथा छल, कपट, धोखा, जिस प्रकार भी हो, धन इकट्ठा करने का प्रयत्न किया जाय। उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में इसी व्यक्तिवादी सिद्धान्त ने समाज में मज़दूरों तथा किसानों का शोषण सराहा था। इसी सिद्धांत के कारण आर्थिक क्षेत्र में उपभोक्ताओं के हित का दमन हुआ था। इन सब चीज़ों से अधिक इस सिद्धांत की और क्या आलोचना हो सकती है।

(६) अंत में प्राणीशास्त्र (Biology) के जीवन संग्राम के नियम मनुष्यों पर पूर्णतया लागू नहीं हो सकते क्योंकि वह केवल पशु न होकर बुद्धिमान और नैतिक जीव हैं। मनुष्यों का धर्म असहायों को नष्ट करना नहीं, वरन् उनकी रक्षा करना है।

आजकल किसी भी देश की सरकार की कार्यप्रणाली व्यक्तिवाद सिद्धांत पर अवलम्बित नहीं है। सभी देशों की सरकारें शिक्षा, स्वास्थ्य रक्षा और देश की आर्थिक तथा सामाजिक उन्नति करना अपना आवश्यक कर्तव्य समझती हैं।

समाजवाद (Socialism)

व्यक्तिवाद सिद्धांत के पश्चात् राजनैतिक लेखकों ने एक दूसरे सिद्धांत का प्रतिपादन किया जिसमें, व्यक्तिगत स्वतंत्रता को मिटाकर, सब अधिकार राजसत्ता को ही सौंप देने का प्रयत्न किया गया। यह सिद्धांत व्यक्तिवाद सिद्धांत से बिल्कुल उल्टा है। व्यक्तिवादी राज्य को एक दूषित संस्था मानते हैं, समाजवादी उसे एक अत्यन्त आवश्यक तथा उपयोगी संगठन।

व्यक्तिवादी राज्य को केवल एक पुलिस स्टेट का काम सौंपना चाहते

हैं, समाजवादी उसे मनु य जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर नियन्त्रण रखने का।

व्यक्तिवादी राज्य को आर्थिक मामलों में हस्तक्षेप करने का अधिकार प्रदान नहीं करते, परन्तु समाजवादी उसे पूर्णरूपेण आर्थिक क्षेत्र का स्वामी बना देते हैं।

व्यक्तिवादी पूँजीपति प्रथा के समर्थक हैं, समाजवादी उसे जड़ मूल से नष्ट कर देना चाहते हैं।

समाजवादी सिद्धांत की विवेचना

समाजवाद का विषय अत्यन्त व्यापक और पेचीदा है। इसके विषय में इतना साहित्य लिखा गया है कि सबको इकट्ठा करने पर शायद कई वर्ग-मील का क्षेत्र भर जाय। इसकी अनेक शाखायें हैं और भिन्न-भिन्न लेखकों ने इस सिद्धांत पर अलग-अलग प्रकार से अपनी सम्मतियाँ प्रकट की हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि समाजवाद की ५७ क़िस्में हैं। सन् १८९२ में ली फ़िगारो(Le Figaro) नामक एक फ्रांसीसी अख़बार में समाजवाद की ६०० परिभाषाएँ प्रकाशित हुई थीं। इस शब्द का प्रयोग इतने अर्थों में किया गय है कि सबका यहाँ ज़िक्र करना भी संभव नहीं। सर विलियम हरकोर्ट (Sir William Horcourt) लिखता है कि "हम सभी समाजवादी हैं क्योंकि हम सब समाज में रहते हैं।"

इस सिद्धान्त का सबसे अधिक प्रचार कौलिज और स्कूल के विद्यार्थियों में हुआ है। प्रायः प्रत्येक ऐसा विद्यार्थी किसी न किसी समय समाजवाद का समर्थक रहता है, और इस विषय की एकाध पुस्तक पढ़ लेने के पश्चात् अपने आप को इस वाद का पंडित समझने लगता है। समाजवादी होना एक प्रकार का फ़ैशन सा हो गया है, जहाँ चार मित्र चाय पीने के लिये इकट्ठे हुए कि उन्होंने आपस में मार्क्सवाद पर बहस करनी शुरू कर दी।

समाजवाद को समाजवाद के विरोधियों से इतना ख़तरा नहीं जितना कि स्वयं इसके प्रवर्तकों से है। कारण इसके समर्थक, समाजवाद के भिन्न-

भिन्न स्वरूपों के विषय में आपस में इतना लड़ते-झगड़ते हैं कि बस देखते ही बनता है। समाजवादियों का एक ग्रूप दूसरे को फासिस्ट तथा प्रति-क्रियावादी बताता है।

इन सब कारणों से हमारे लिये यह संभव नहीं कि इस अध्याय में हम समाजवाद का कोई विस्तृत वर्णन कर सकें। इसलिये यहाँ हम इसका केवल संक्षिप्त और अपूर्ण वर्णन ही देंगे।

समाजवाद के सबसे जबर्दस्त प्रवर्तक जरमन राजनैतिक दार्शनिक कार्ल मार्क्स थे। उन्होंने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन उस समय किया जब योरोप में औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप श्रमजीवी वर्ग का उत्थान हो चुका था।

समाजवाद एक ऐसे नए समाज की कल्पना है जिसका आधार न्याय, स्वाधीनता, समानता और मित्रता के उसूलों पर अवलम्बित है। यह समान हित को व्यक्तिगत गुण के लक्ष्य बनाने का प्रयास है। यह इसाई धर्म के आवश्यक गुणों का अर्थात् मनुष्य के बन्धुत्व का क्रियात्मक भाव है। यह सेवा के आधार पर समाज की व्यवस्था है। यह वह सामाजिक प्रथा नहीं है जिसमें प्रचुरता के रहते हुए भी लोग भूखों मरें, कपड़े की बहुतायत रहते हुए भी ठंड में सुकड़ें, तथा हजारों मकानों के खाली पड़े रहने पर भी बर्फीलें मौसम का शिकार हों। इसमें धन की उत्पत्ति और विभाजन का इस प्रकार नियंत्रण किया जाता है कि जिससे प्रत्येक नागरिक को भौतिक और आध्यात्मिक उन्नति के लिये हर प्रकार के साधन मिल सकें।

इसलिये समाजवाद की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है कि यह वह सिद्धांत है जिसका उद्देश्य समाज की उत्पादन शक्ति पर नियंत्रण रखकर, सारे समाज की भलाई के लिये धन का वितरण करना है।

सभी समाजवादी चाहे वे किसी भी मत के अनुयायी क्यों न हों, चार बातों पर अवश्य विश्वास करते हैं—

(१) उत्पादन और वितरण (Production & Distribution)

के साधनों से व्यक्तिगत प्रभुत्व को हटाकर राज्य का नियंत्रण कायम करना।

(२) व्यक्तिगत लाभ की भावना के स्थान पर सामाजिक सेवा के सिद्धांत को स्थापित करना।

(३) उत्पादन की सीमा का निर्णय लाभ के विचार से नहीं वरन् सामाजिक आवश्यकता के आधार पर करना।

(४) प्रतिस्पर्धा (Open Competition) और मनमाने उत्पादन के स्थान में सहयोग और निश्चित उत्पादन को स्थापित करना। समाजवादी यह अनुभव करते हैं कि वर्तमान उत्पादकों की बहुत अधिक शक्ति, पूँजीवादी प्रथा के अन्तर्गत आपस में ही प्राणघातक प्रतिस्पर्धा में पड़ कर नष्ट हो जाती है। अगर इस आपसी युद्ध के बजाय उत्पादन और विभाजन का बुद्धिमत्तापूर्ण प्रबन्ध किया जावे, तो समाज का बहुत अधिक कल्याण हो सकता है, बरबादी और निरर्थक प्रतिस्पर्धा रोकी जा सकती है तथा विभिन्न जातियों और लोगों के बीच की वर्तमान असमानताएँ बहुत कुछ कम की जा सकती हैं।

सभी समाजवादी विद्वानों का आदर्श तो समान है परन्तु उनमें मतभेद इस बात पर है कि उत्पादन की शक्तियों पर सामाजिक नियंत्रण (Social Control over production) किस तरीक़े से किया जाना चाहिए और इस उद्देश्य की प्राप्ति के किस मार्ग का अवलम्बन करना चाहिये। कुछ समाजवादियों का विश्वास है कि समाज की ओर परिवर्तन धीरे-धीरे और वैधानिक ढंग से होना चाहिये। यह परिवर्तन धारासभाओं के द्वारा किया जाना चाहिये। दूसरे समाजवादी, जिनमें विशेषतया कम्यूनिस्ट तथा सिंडिकैलिस्ट (Communists & Syndicalists) हैं, क्रान्तिवादी कार्यक्रम में विश्वास करते हैं और वे वर्तमान सामाजिक संगठन को बलपूर्वक नष्ट कर समाजवादी राज्य की स्थापना करना चाहते हैं। ये समाजवादी आमतौर पर मार्क्सिस्ट (Marxists)

कहलाते हैं और इनका सिद्धांत रूस की क्रान्ति के बाद आजकल बहुत लोकप्रिय हो गया है।

यहाँ यह बता देना उचित होगा कि समाजवादियों का उद्देश्य व्यक्तिगत जायदाद को बिल्कुल मिटा देना या आमदनी का समान वितरण करना नहीं है। मनुष्यों के उपयोग के लिए निजी जायदाद का रूस में भी अधिकार है। वहाँ लोग निजी इस्तेमाल के लिए बँगले, मोटरगाड़ी और बग़ीचे रख सकते हैं। लेकिन उन्हें इनके द्वारा धन कमाने की आज्ञा नहीं है। निजी ज़ायदाद अपने उपभोग के लिये रखी जा सकती है क़ानून उसकी इजाजत देता है। परन्तु यदि उस जायदाद से दूसरों का धनापहरण किया जाता है तो वह ज़ब्त कर ली जाती है। इसी प्रकार समाजवादी राज्य के लोगों को अपने काम के मुताबिक मज़दूरी लेने का भी अधिकार प्राप्त है। वेतन में अन्तर हो सकता है, परन्तु यह अन्तर कम से कम रखने का प्रयत्न किया जाता है।

समाज का मूल्य—समाजवाद समाज के आधुनिक प्रबन्ध के विरुद्ध एक विद्रोह है। यह पूँजीवाद की निन्दा करता है जो उन करोड़ों मज़दूरों और किसानों को गुलाम बनाने की दोषी हैं जो ऐंड़ी से चोटी तक पसीना बहाकर सुबह से शाम तक काम करते हैं, और फिर भी भूखों मरते हैं। यह वह क्रान्तिकारी सिद्धांत है जो एक निश्चित योजना के आधार पर उत्पादन करने में विश्वास करता है। यह सामाजिक सेवा के दृढ़ सिद्धांत पर अवलम्बित है। यह परोपकारी जीवन और कर्मयोग पर विशेष ज़ोर देता है। रूस में जिस प्रकार से समाजवाद पर अमल किया गया है उससे उस देश का पुनरुत्थान हुआ है। इस सिद्धान्त के अनुकरण से ही रूस अपने दो सदी पुराने मध्यकालीन अन्धकार के दलदल से छुटकारा पा सका है।

आलोचना (Criticism)—कुछ लेखक समाजवाद के सिद्धांत की निम्नलिखित कारणों से आलोचना करते हैं—

(१) व्यक्तिगत स्फूर्ति (Initiative) और कार्यक्षमता (Efficiency) जो देश की उन्नति और आर्थिक विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक है, समाजवाद में प्रोत्साहन नहीं पाते। इससे लोगों में काम करने की रुचि नहीं रहती। निजी जायदाद न रख सकने के कारण लोग अधिक काम करना पसन्द नहीं करते और वह आलसी और परोपजीवी बन जाते हैं।

(२) यह राज्य के केन्द्रीय कार्यकर्त्ताओं के हाथ में बहुत अधिक अधिकार सौंप देता है। इससे यह लोग अपनी शक्ति का दुरुपयोग कर सकते हैं और जनता की भलाई करने के बजाय उनके शोषण के काम में लग सकते हैं।

(३) समाजवाद के अन्तर्गत सरकार की जिम्मेदारी इतनी बढ़ जाती है कि वह कुशलतापूर्वक काम नहीं कर सकती। ऐसी सरकार में नौकरशाही का ज़ोर हो जाता है और राज्य का इन्तज़ाम ठीक प्रकार नहीं चल पाता।

(४) समाजवाद व्यक्तित्व का दमन करता है। वह उसे, स्फूर्ति, उत्तरदायित्व और स्वाधीनता विहीन बनाकर समाज को ग़ुलाम बना देता है।

(५) यह सिद्धान्त बहुत अधिक हिंसा पर अवलम्बित रहता है।

इन सब आलोचनाओं के बावजूद भी समाजवाद का आन्दोलन संसार में स्थाई रूप धारण कर चुका है। आजकल संसार के सभी राज्य, समाज के अधिकाधिक लाभ के लिए, लोगों के आर्थिक जीवन पर नियन्त्रण करने की आवश्यकता को स्वीकार करते हैं।

रेलवे डाक, तार, बेतार का तार, रेडियो, बिजली, गैस, बैंक और दूसरे आर्थिक संगठनों का प्रबन्ध आजकल प्रायः सभी राज्य अपने हाथ में रखते हैं। प्रगतिशील आय कर (Progressive Income-tax) मृत्यु कर (Death duty) उत्तराधिकार कर (Succession duty)

इत्यादि प्रथाएँ विभिन्न वर्गों के अन्तर को बराबर कम कर रही हैं। इस प्रकार धीरे-धीरे संसार समाजवाद के मौलिक सिद्धांत की ओर अग्रसर हो रहा है।

राज्य के कार्यों का आदर्शवादी सिद्धान्त (Idealistic Theory of State functions)

यह सिद्धांत इस धारणा से आरम्भ होता है कि मनुष्यों के जीवन को अच्छा बनाने के लिए राज्य एक आवश्यक संस्था है। राज्य के अन्तर्गत रहकर ही मनुष्य सदाचारी और नैतिक जीवन व्यतीत कर सकता है। इस प्रकार 'आदर्शवादी' राज्य को एक 'आवश्यक परन्तु दोषपूर्ण संस्था' नहीं, वरन् मनुष्य का सर्वोत्तम मित्र समझते हैं।

परन्तु आदर्शवादियों का कहना है कि राज्य जो भी काम करता है अपनी शक्ति के आधार पर करता है, यदि कोई राज्य के क़ानूनों को न माने, या कर न दे, तो सरकार उसे दंड देती है। इसी दंड प्रथा के द्वारा सरकार अपनी आज्ञाओं का पालन कराती है। अत: सरकार को केवल वही काम अपने हाथ में लेने चाहिएं जो आवश्यकता पड़ने पर ज़बरदस्ती भी कराए जा सकें। कुछ ऐसे कार्य हैं जो बलपूर्वक नहीं कराये जा सकते। उदाहरणार्थ, यदि राज्य, दंड विधान द्वारा अपने नागरिकों को नैतिक जीवन व्यतीत करने पर मजबूर करे, तो ऐसा सम्भव नहीं है। कारण, नैतिक जीवन मनुष्य की इच्छा पर अवलम्बित रहता है। यह मनुष्य पर जबरन लादा नहीं जा सकता। जबरन किया हुआ काम कभी नैतिक नहीं हो सकता, क्योंकि वह काम करने वाले का काम नहीं, बल्कि उसका काम हो जाता है, जो उसे ऐसा करने के लिए मजबूर करता है। नैतिकता मनुष्य स्वभाव का आंतरिक गुण है, उसका सम्बन्ध मनुष्य के भावनापूर्ण आचरण से है। इसलिए राज्य मनुष्य को नैतिक बनने के लिए मजबूर नहीं कर सकता। इसी आधार पर वह उसे सच बोलने के लिए भी विवश नहीं कर सकता। राज्य का सम्बन्ध केवल

मनुष्य के बाहरी कामों से रहता है, मनुष्य की आन्तरिक भावनाओं से नहीं; परन्तु राज्य एक दूसरा काम अवश्य कर सकता है और वह यह कि वह मनुष्य के रास्ते में से उन बाधाओं को हटा सकता है जो उसके नैतिक बनने में रुकावटें सिद्ध होती हैं। दूसरे शब्दों में वह मनुष्य के नैतिक जीवन की बाधाओं में बाधा उत्पन्न कर सकता है। उदाहरणार्थ, मनुष्य के नैतिक जीवन व्यतीत करने के रास्ते में गरीबी, अशिक्षा, शराबखोरी इत्यादि बुराइयाँ बाधक सिद्ध होती हैं। राज्य इन खराबियों को दूर करके, मनुष्य के नैतिक जीवन का रास्ता साफ कर सकता है। एक अशिक्षित मनुष्य अपने अधिकार और कर्तव्यों को नहीं समझता और न वह उन्हें हासिल करने के ठीक उपाय ही जानता है। इसी प्रकार एक अशिक्षित बच्चा कभी भी अपनी पूर्ण उन्नति नहीं कर सकता। राज्य अनिवार्य शिक्षा-प्रणाली (Compulsory Education) का प्रबन्ध करके इस खराबी को दूर कर सकता है। इसी तरह ग़रीबी के कारण मनुष्य अपने अधिकारों का उपभोग नहीं कर सकता। उसके दिमाग में पेट की चिन्ता सदा चक्कर लगाया करती है। ऐसा मनुष्य सांस्कृतिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए विचार तक नहीं कर सकता। उसका और उसके बच्चों का शरीर और मस्तिष्क रोशन नहीं हो पाता। वह अज्ञान के घने अन्धकार में छिपा रहता है और उसकी शक्तियाँ सदा कुम्भकरणी निद्रा में सोया करती हैं। राज्य का कर्तव्य है कि वह ऐसे मनुष्य की आर्थिक न्यूनतम आवश्यकताओं को पूरा करे। इसी प्रकार राज्य शराबखोरी, बाल विवाह, परदा प्रथा, जबरन विधवापन; इत्यादि सामाजिक कुप्रथाओं को नष्ट कर सकता है। ये सब खराबियाँ समाज के आचरण पर कलंक स्वरूप हैं, और अच्छे सामाजिक जीवन की उन्नति में बाधक हैं। इसलिए राज्य को इन्हें हटाने का प्रयत्न करना चाहिए। 'आदर्शवादी' बाधाओं को हटाने के अतिरिक्त और कुछ नहीं करना चाहते। वह राज्य को समाज के आर्थिक नियंत्रण का अधिकार देने के लिए तैयार नहीं हैं। वह इस क्षेत्र में जनता को पूर्ण आजादी

देना चाहते हैं। परन्तु इसका मतलब यह नहीं होता कि आदर्शवादी राज्य को व्यवसाय सम्बन्धी मामलों में किसी भी प्रकार के हस्तक्षेप की आज्ञा नहीं देता। इसके विपरीत वह मज़दूरों की भलाई के लिए क़ानून बनाने का अधिकार राज्य को ही देना चाहता है। उसका कहना है कि राज्य, पूँजीपतियों द्वारा मज़दूरों का शोषण रोकने के लिए, फैक्टरी क़ानून और श्रमजीवियों के कम्पन्सेशन क़ानून, इत्यादि बना सकता है। राज्य व्यवसाय का प्रत्यक्षरूप से इन्तजाम नहीं कर सकता क्योंकि यह उसके उद्देश्य की प्राप्ति के लिए ज़रूरी नहीं है। वह केवल व्यवसाय की उन्नति के रास्तों में आने वाली बाधाओं को हटा सकता है।

इस तरह आदर्शवादी सिद्धांत उपरोक्त वर्णित दो सिद्धांतों के मध्य स्थित है। यह व्यक्तिगत स्वाधीनता और सामूहिक कार्य दोनों को ठीक समझता है। सामूहिक कार्य इसलिए उचित समझा जाता है कि इससे मनुष्य का अधिकाधिक लाभ हो सकता है।

आलोचना (Criticism)—आदर्शवादी सिद्धांत के आलोचकों का कहना है कि राज्य को केवल अच्छे सामाजिक जीवन की बाधाओं को ही दूर करने के लिए काम न करना चाहिये। उसे वह सब काम भी करने चाहिये जिनसे नागरिकों का भला हो सके। और, नागरिकों के अधिकाधिक भलाई की कोई सीमा नहीं है। इसलिए राज्य के कर्तव्यों की कोई पूर्व सीमा निश्चित नहीं की जा सकती। राज्य ऐसा भी कोई काम कर सकता है जिससे सर्वसाधारण की भलाई की आशा हो। हर एक परिस्थिति में इस बात का खयाल रखना चाहिये कि इसके लिए राज्य का प्रबन्ध उचित होगा अथवा नहीं, यदि राज्य का प्रबन्ध उचित जान पड़े तो राज्य को उसे अवश्य करना चाहिये।

राज्य के कार्यों का आधुनिक सिद्धान्त (The Modern Theory of the Functions of State)

राज्य एक ऐसा संगठन है जिसका उद्देश्य मनुष्यों के लिए उन

परिस्थितियों का उत्पन्न करना है, जिनके द्वारा वे अपने व्यक्तित्व की अधिकाधिक उन्नति कर सकें। इसलिए राज्य को ऐसे काम करने चाहिये जिनके द्वारा इस उद्देश्य की प्राप्ति में तनिक भी सहायता मिलने की सम्भावना हो। सबसे पहिले राज्य को समाज में शान्ति और व्यवस्था, रक्षा और न्याय का काम करना चाहिये क्योंकि इन पर ही मनुष्य के शान्तिपूर्ण और सभ्य जीवन का अस्तित्व अवलम्बित है। दूसरी बात यह है कि राज्य को अशिक्षा, गरीबी, बीमारी, शराबखोरी इत्यादि सामाजिक बुराइयों को दूर करना चाहिये। तीसरे, उसे उन सब कामों को करना चाहिये जिनके द्वारा मानव-जीवन अधिक स्वस्थ, सुसंस्कृत और उपयोगी बन सके। इस प्रकार हम देखते हैं कि राज्य के कर्तव्यों का आधुनिक सिद्धान्त उन सब अच्छी बातों को स्वीकार करता है जो पूर्व वर्णित तीनों सिद्धान्तों में शामिल हैं। व्यक्तिवादियों का मत इस प्रकार स्वीकार किया जाता है कि राज्य को मनुष्य के कर्तव्य की स्वाधीनता में बहुत अधिक हस्तक्षेप न करना चाहिये। उसे मनुष्य के अपने गुणों और शक्तियों के अधिकाधिक उपयोग के लिये पूर्ण अवसर प्रदान करने चाहिए। समाजवादियों का दृष्टिकोण इस तरह स्वीकार किया गया है कि राज्य को केवल एक पोलिस का संगठन नहीं माना गया है वरन् राष्ट्रीय जीवन की प्रगति और नागरिकों के नैतिक और बौद्धिक विकास का साधन माना गया है। आदर्शवादी दृष्टिकोण को इस प्रकार स्वीकार किया गया है कि इस सिद्धान्त के अन्तर्गत राज्य का सबसे जरूरी काम सामाजिक जीवन की बाधाओं का हटाना माना गया है।

§ ४. राज्य के वास्तविक कर्तव्य

(Actual functions of the State)

कर्तव्यों का वर्गीकरण (Classification of functions)

आधुनिक राज्यों द्वारा किये गये कार्यों का वर्गीकरण दो शीर्षकों के

अन्तर्गत किया जा सकता है—(१) आवश्यक या अनिवार्य और (२) ऐच्छिक।

आवश्यक कर्तव्य (Essential functions)—आवश्यक कर्तव्यों में राज्य के वह कार्य शामिल हैं जो उसके अस्तित्व के लिए ज़रूरी हैं। प्रत्येक राज्य के लिए चाहे वह कितना भी पिछुड़ा हुआ क्यों न हो इन कामों का करना आवश्यक समझा जाता है। यह कार्य निम्नलिखित हैं—

(१) देश की बाहरी आक्रमणों से रक्षा—यह उद्देश्य एक सुव्यवस्थित सेना, तथा जहाज़ी और हवाई ताक़त की व्यवस्था द्वारा हासिल किया जा सकता है।

(२) देश में आंतरिक शांत क़ायम रखना—इस उद्देश्य में नागरिकों के धन और जान की रक्षा, आंतरिक उपद्रवों इत्यादि से बचाव, व्यक्तिगत स्वाधीनता की रक्षा इत्यादि कार्य शामिल हैं। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए शासन को एक पुलिस दल की व्यवस्था करनी पड़ती है।

(३) न्याय प्रबन्ध—एक मनुष्य और दूसरे मनुष्य और मनुष्यों और राज्य के बीच मुक़दमों का फैसला करने के लिए प्रत्येक देश में न्यायालयों की स्थापना की जाती है। न्यायालय तीन प्रकार के होते हैं—दीवानी, फौजदारी और माली। यह तीनों अदालतें मिलकर जनता में न्याय का प्रबन्ध करती हैं।

कुछ लेखक राज्य के लिए एक चौथा कार्य भी निर्धारित करते हैं। इसमें पति और पत्नी के बीच और माता-पिता और सन्तान के बीच क़ानूनी सम्बन्ध निश्चित किया जाता है। कभी-कभी इस शीर्षक के अन्तर्गत ठेकों की व्यवस्था, जायदाद की लेव-बेच, और क़र्ज़ लेने-देने के क़ानून भी शामिल किये जाते हैं।

गैटिल (Gettel) इस सूची में एक और काम भी जोड़ता है और वह है राज्य के आर्थिक काम अर्थात् कर निर्धारित करना, आयात

निर्यात कर लगाना, मुद्रा और करैन्सी सम्बन्धी क़ानून बनाना, भूमि, जंगल और सार्वजनिक जायदाद का प्रबंध करना, डाक तार और रेलवे इत्यादि का प्रबन्ध करना इत्यादि।

राज्य के ऐच्छिक कर्तव्य (Optional functions of the State)

इस शीर्षक में वे सब कर्तव्य आ जाते हैं जो मनुष्यों की भलाई करने, उसकी संस्कृति को बढ़ाने, और उसके जीवन को अधिक सुखी और समृद्धिशाली बनाने में सहायक सिद्ध हो सकते हैं। ऐसे कार्य निम्नलिखित हैं —

(१) **बड़े-बड़े उद्योग धंधों का राष्ट्रीयकरण**—जैसे रेल, सड़क, डाकखाने, तार विभाग, बिजली, पानी का प्रबंध नहर, ब्राडकास्टिंग, इत्यादि। यह कुछ ऐसे विषय हैं जिनका प्रबन्ध और नियन्त्रण संसार के प्रायः सभी देशों में राज्य के हाथ में रहता है। इस प्रकार के बड़े उद्योगों में धन लगाना और उनका प्रबन्ध करना लोगों की शक्ति के बाहर होता है। इसके अतिरिक्त किसी भी देश के व्यापार और व्यवसाय की उन्नति के लिये ऐसे सार्वजनिक उपयोगी धन्धों को राष्ट्रीयकरण आवश्यक है। यदि इनका नियन्त्रण व्यक्तिगत लोगों अथवा कम्पनियों के हाथ में छोड़ दिया जाए तो वह उनका दुरुपयोग कर सकते हैं, और इनको सर्वसाधारण के हित के बजाय स्वार्थ सिद्धि के काम में इस्तेमाल कर सकते हैं।

(२) **हानिकारक वस्तुओं के उत्पादन पर नियंत्रण**—शासन कभी-कभी कुछ उद्योगों जैसे शराब, अफीम, मादक तथा ज़हरीली चीजों के उत्पादन का कार्य अपने हाथ में ले लेता है। ऐसा इसलिए किया जाता है कि जिससे वस्तुओं का दुरुपयोग न किया जा सके, और जनता इन चीजों का अधिक इस्तेमाल न कर सके।

(३) **उद्योग-धन्धों की सहायता**—आजकल राज्यों का सबसे आवश्यक कार्य देश की आर्थिक साधनों की उन्नति करना होता है। यह

काम अनेक साधनों द्वारा किया जाता है, जैसे आयात के विरुद्ध कर लगाना, कारखानों को धन की सहायता देना, औद्योगिक अन्वेषण केन्द्रों को खोलना, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक समझौते करना, दूसरे देशों में ट्रेड्स कमीशनों की नियुक्ति करना, मेलों और नुमाइशों का आयोजन करना, वैज्ञानिक शिक्षा प्रदान करना, इत्यादि। आजकल अधिकांश राज्य अपने देश में व्यापार और व्यवसाय की उन्नति करने की दृष्टि से इन कामों को करते हैं।

(४) **मजदूरों की व्यवस्था**—मज़दूरों की बड़े पूँजीपतियों और ज़मीदारों के अत्याचार से रक्षा करने के लिए, राज्य, फैक्टरी क़ानून, मज़दूरी क़ानून इत्यादि बनाते हैं। इन क़ानूनों के द्वारा मज़दूरों की हालत बहुत कुछ सुधर गई है, ट्रेड यूनियन ऐक्ट, आरबिट्रेशन ऐक्ट इत्यादि भी इसी उद्देश्य से बनाये जाते हैं।

(५) **निर्धन और अपाहिजों की रक्षा**–राज्य निर्धन और अपाहिजों की सेवा के लिए निर्धन-गृह (Poor houses), अन्धों के गृह (Blind homes), पाग़लखाने (Lunatic asylums) अस्पताल और औषधालय इत्यादि का भी प्रबन्ध करता है। किसी-किसी देश में बेकार लोगों को सहायता (Unemployment doles) देने तथा वृद्धावस्था में लोगों को पेन्शन इत्यादि देने का भी प्रबन्ध किया जाता है।

(६) **बैंकिंग करेन्सी और मुद्रा का प्रबन्ध**—संसार के प्रायः सभी सभ्य देशों में राज्य द्वारा करेन्सी का प्रबन्ध किया जाता है। राज्य ही किसी देश की दूसरे देशों के साथ करेन्सी की विनिमय दर का निश्चय करता है। रिज़र्व बैंक की स्थापना के द्वारा सरकार देश की आर्थिक संस्थाओं पर भी नियन्त्रण रखती है।

(७) **सफ़ाई और स्वास्थ्य रक्षा** - जनता की स्वास्थ्य रक्षा के उद्देश्य से राज्य तरह-तरह के क़ानून बनाता है जिनके द्वारा बीमारियों को

रोकने, बाजार में खराब चीजों के न बिकने तथा सार्वजनिक स्थानों की ठीक सफ़ाई का प्रबन्ध किया जाता है।

(८) शिक्षा—देश के बालकों की शिक्षा, विशेषकर प्रारम्भिक शिक्षा का प्रबन्ध, आजकल राज्य का सबसे महत्वपूर्ण कार्य समझा जाता है। शिक्षा एक अच्छे सामाजिक जीवन की प्रथम अवस्था है। इसके बिना मनुष्य अपने व्यक्तित्व का विकास नहीं कर सकता। प्रत्येक प्रजातन्त्र राज्य में इसी कारण जनता को शिक्षित बनाने के कार्य पर अत्यधिक ज़ोर दिया जाता है। पाश्चात्य देशों में तो बच्चों को ही नहीं, युवा और वृद्ध लोगों तक को, सिनेमाओं, व्याख्यानों, चित्रों तथा रेडियो इत्यादि के द्वारा शिक्षित बनाने का प्रबन्ध किया जाता है। शिक्षा न केवल मनुष्यों की भलाई के लिए ही आवश्यक है वरन् राष्ट्र की रक्षा और उन्नति के लिए भी ज़रूरी है।

(९) कृषि की उन्नति और ग्राम संगठन—आधुनिक काल में सरकार खेती-बाड़ी की उन्नति तथा ग्रामीण के संगठन के कार्य पर भी ज़ोर देती है। कृषि की उन्नति के लिए नहर, बिजली के कुओं, कृषि अनुसंधान तथा इसी प्रकार की दूसरी सुविधाएँ दी जाती हैं। ग्रामीण संगठन के लिए ग्राम पंचायतों का आयोजन किया जाता है।

(१०) मनोरंजन की सुविधाएँ—वर्तमान सरकारें पार्क, खेलने के स्थान, सार्वजनिक स्नान-गृह, सिनेमा, रेडियो, नृत्यगृह इत्यादि साधनों के द्वारा जनता के मनोरंजन का प्रबन्ध करती है।

(११) सामाजिक सुधार—सामाजिक उन्नति और सुधार के लिए प्रयत्न करना राज्य का एक आवश्यक कर्तव्य है। संसार के प्रायः प्रत्येक देश में बहुत सी सामाजिक बुराइयाँ घर कर लेती हैं। हमारे देश में इस प्रकार की बुराइयों में पर्दा प्रथा, अछूतपन, जाति-पाँति का भेद, ऊँच-नीच की भावना, बहु विवाह इत्यादि उदाहरण के रूप में हैं। प्रत्येक

प्रगतिशील सरकार का धर्म है कि वह ऐसी सामाजिक बुराइयों को दूर करने का प्रयत्न करे।

सरकार के ऐच्छिक कर्तव्यों की कोई विस्तृत सूची नहीं बनाई जा सकती। राज्य का धर्म, नागरिकों के लिए उन सब सुविधाओं तथा अवस्थाओं को प्रदान करना है जिनके द्वारा उनकी भलाई और उन्नति की जा सकती है।

वर्तमान काल में इसी कारण से राज्य के ऐच्छिक कर्तव्यों की सूची बढ़ती चली जा रही है। यहाँ यह समझ लेना भी आवश्यक है कि राज्य के ऐच्छिक और आवश्यक कार्यों में भेद केवल मात्रा का है, प्रकार का नहीं। जो काम किसी राज्य द्वारा कल तक ऐच्छिक समझे जाते थे, वे आज आवश्यक प्रतीत होते हैं, इस प्रकार राज्य के आवश्यक कार्यों का क्षेत्र भी निरन्तर बढ़ता ही जाता है।

योग्यता-प्रश्न

(१) राज्य क्या है, उद्देश्य अथवा साधन? इस कथन पर पूर्ण प्रकाश डालिए।

(२) राज्य का स्वभाव क्या है? मनुष्य और राज्य के बीच में सच्चा सम्बन्ध किस प्रकार का होना चाहिये?

(३) राज्य के कार्यों के विभिन्न सिद्धान्त क्या हैं? आधुनिक सिद्धांत क्या है?

(४) राज्य का उद्देश्य क्या है? राज्य किन साधनों द्वारा अपने उद्देश्य की पूर्ति करता है? (यू० पी०, १९३३)

(५) राज्य के कार्यों के वैयक्तिक सिद्धांत का वर्णन कीजिए और उसकी आलोचना कीजिये। (यू० पी०, १९४२)

(६) राज्य किन तरीक़ों से और कहाँ तक लोगों की भौतिक उन्नति कर सकता है?

(७) आप के ख़्याल में वे प्रधान कर्तव्य कौन से हैं, जिन्हें प्रत्येक शासन को करना चाहिए? (यू० पी०, १९२८, १९४०, १९४२, १९४७)

(८) व्यक्तिवादी और समाजवादी मतावलम्बियों के राज्य के कर्तव्य सम्बन्धी विचारों का वर्णन कीजिए। (यू० पी०, १९३९)

(९) आधुनिक राज्य के प्रधान कर्तव्य क्या हैं? किस प्रकार का शासन इन्हें

अधिक योग्यता के साथ कर सकता है? (यू० पी०, १९३७)

(१०) समाजवाद के सिद्धान्त को समझाइए। इसके गुण और दोषों पर प्रकाश डालिए।

(११) उन सिद्धान्तों को समझाइए जिनके अनुसार आप राज्य के कर्तव्यों को निश्चित करेंगे। क्या राज्य शराबखोरी बन्द करना, सत्य भाषण, सफाई और शिक्षा को अमल में ला सकता है? (यू० पी०, १९३८)

(१२) राज्य कृत्रिम और स्वाभाविक दोनों है। इसे पूर्ण विवेचना करते हुए समझाइए। (यू० पी०, १९३८)

(१३) ग़रीबी, बीमारी और अज्ञानता मिटाने में और धर्म और सदाचार की उन्नति करने के सम्बन्ध में राज्य को कहाँ तक कार्य करना चाहिए? राज्य के कर्तव्य किन सिद्धान्तों पर निश्चित किये जाते हैं?

(१४) राज्य सामाजिक बुराइयाँ जैसे शराबखोरी और बाल-विवाह को क़ानून द्वारा हटाने में कहाँ तक न्याय संगत माना जा सकता है? (यू० पी०, १९३०)

(१५) क्या आप शिक्षा को निःशुल्क और अनिवार्य बनाना और स्वास्थ्य और सफाई का क़ानून द्वारा प्रबन्ध करना राज्य का आवश्यक कर्तव्य समझते हैं? यदि आप ऐसा समझते हैं तो उसके कारण बतलाइए। (यू० पी०, १९३३)

(१६) राज्य के प्रधान कर्तव्य क्या हैं? क्या मनुष्य को नैतिक बनाना राज्य का कर्तव्य है?

(१७) राज्य लोगों के व्यापार, व्यवसाय और भौतिक उन्नति की कहाँ तक वृद्धि कर सकता है? (यू० पी०, १९३४)

(१८) आधुनिक राज्य जिन विभिन्न कार्यों को करते हैं उनका वर्णन कीजिए। इनमें से कौन सा कार्य आप अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समझते हैं और क्यों? (यू० पी०, १९४१)

(१९) राज्य को ग़रीबों की रक्षा क्यों करनी चाहिये? क्या यह न्याय संगत बात है कि एक मनुष्य के बच्चे को मुफ्त शिक्षा देने के लिए दूसरे आदमी पर कर लगाया जाय? (यू० पी०, १९४५)

(२०) आपकी राय में राज्य के कामों का उचित क्षेत्र क्या है? (यू० पी०, १९४९)

———

अट्ठारहवाँ अध्याय

अधिकार विभाजन का सिद्धान्त और शासन के मुख्य अंग

(Theory of Separation of Powers and Organs of Government)

§ १. अधिकार विभाजन का सिद्धान्त

पिछले अध्यायों में हम देख चुके हैं कि समाज में शान्ति और व्यवस्था बनाए रखने तथा मनुष्यों के जीवन को सुसंस्कृत और उन्नतिशील बनाने के लिए राज्य एक आवश्यक संस्था है। इस संस्था के मुख्यतः तीन अंग होते हैं : (१) व्यवस्थापिका सभा (Legislative), (२) कार्यकारिणी सभा (Executive) और (३) न्याय समिति (Judiciary)। जैसा इनके नाम से ही स्पष्ट है व्यवस्थापिका सभा का काम क़ानून बनाना; कार्यकारिणी का काम इन क़ानूनों के अनुसार राज्य प्रबन्ध करना, तथा न्याय समिति का काम मुक़दमों का फैसला करना होता है। कुछ विद्वान् सरकार के केवल दो ही अङ्ग मानते हैं :—(१) व्यवस्थापिका सभा (Legislative) और (२) कार्यकारिणी (Executive)। न्याय समिति को यह लोग कार्यकारिणी का ही एक अङ्ग मानते हैं। यह मत न्याय-संगत नहीं क्योंकि इसमें न्यायालय को कार्यकारिणी का एक अंग मान कर उसके साथ घोर अन्याय किया गया है। वास्तव में, संसार के प्रायः प्रत्येक देश में न्यायालय को सरकार के बाकी सारे ही अंगों से बिल्कुल स्वतंत्ररखा जाता है। कुछ राजनैतिश सरकार के पाँच अंग भी मानते हैं अर्थात् (१ व्यवस्थापिका सभा (२) कार्यकारिणी, (३) शासन करने वाला अंग, (४) न्याय करने वाला अंग, (५) वोटरों का समुदाय। आज कल यह मत भी अधिक लोकप्रिय नहीं है इसलिए सरकार के तीन

अंगों वाला सिद्धान्त (Trinity Theory of Governmental Organs) ही सबसे अधिक मान्य है।

सरकार के अंगों का पारस्परिक सम्बन्ध

सरकार के अंगों के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में सबसे प्रसिद्ध मत अरिस्टाटल (Aristotle, मौनटैस्क्यू (Montesquieu) तथा ब्लैकिस्टन (Blackstone) द्वारा प्रति-पादित, अधिकार पृथक्करण सिद्धान्त' (Theory of Separation of Powers) कहलाता है। इस मत के अनुसार सरकार के तीनों अंग अर्थात् धारा सभा; कार्यकारिणी सभा; तथा न्याय सभा, एक दूसरे से बिल्कुल पृथक् और स्वतन्त्र रहने चाहिए। इन तीनों अगों के अपने अलग-अलग कार्य हैं और इन्हें एक दूसरे के कार्य-क्षेत्र में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। ऐसा करना मनुष्य की स्वतन्त्रता कायम रखने के लिये नितान्त आवश्यक है। यदि सरकार की यह तीनों शक्तियाँ एक ही हाथ में सौंप दी जायँ तो व्यक्ति कभी भी स्वतंत्र नहीं रह सकता, एवं ऐसा राज्य एक प्रजातन्त्रवादी संगठन न रहकर एक निरंकुश तथा स्वेच्छाचारी शासन बन जाएगा।

इसी प्रकार यदि किसी राज्य में क़ानून बनाने और उसके पालन कराने का काम एक ही हाथ में सौंप दिया जाय तो भी स्वतन्त्रता क़ायम नहीं रह सकती। कार्यकारिणी और न्याय-विभाग के सम्मिश्रण से तो और भी अधिक अन्धेर हो जाता है क्योंकि ऐसी दशा में मनुष्य को किसी प्रकार का न्याय नहीं मिल सकता और व्यक्तिगत स्वतन्ता और मानव-जीवन दोनों खतरे में पड़ जाते हैं।

मनुष्य की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए, उपरोक्त सिद्धान्तवादियों का कहना है कि सरकार के तीनों ही अंग एक दूसरे से बिल्कुल स्वतन्त्र रहने चाहिये। ऐसी दशा में ही मनुष्य कार्यकारिणी के अत्याचारों के विरुद्ध न्याय विभाग से रक्षा प्राप्त कर सकता है, एवं धारा सभा द्वारा अपने

व्यक्तित्व के विकास के लिए अच्छे कानूनों की स्वीकृत की आशा कर सकता है।

इस सिद्धान्त के समर्थन में एक दूसरा कारण भी दिया जाता है और वह यह कि राज्य के इन तीनों अंगों के सुचारु रूप से कर्त्तव्य पालन के लिए यह आवश्यक है कि उन लोगों में जो इन तीनों अंगों का कार्य संचालन करते हैं, अलग अलग प्रकार के गुण और स्वभाव हों। उदाहरणार्थ एक पुलिस कर्मचारी को क़ानून पर अमल करके समाज में शान्ति और व्यवस्था क़ायम रखनी पड़ती है। इसके लिए आवश्यक है कि ऐसे व्यक्ति में तेजी और ताक़त के साथ काम करने की शक्ति हो। इसके विपरीत एक न्यायाधीश को क़ानून का सही अर्थ निकालना पड़ता है। इसके लिए उसमें विचारशीलता और गम्भीरता के गुण होने चाहिए। यह गुण एक पुलिस के सिपाही के लिए उपयुक्त नहीं। इस प्रकार हम देखते हैं कि शासन के भिन्न-भिन्न कार्यों के लिए भिन्न-भिन्न गुणों की आवश्यकता है और इसलिए यह अनिवार्य है कि सरकार के तीनों काम भिन्न-भिन्न मनुष्यों को सौंपे जायँ।

उपरोक्त सिद्धान्त की आलोचना—इस सिद्धान्त की व्यवहारिक दृष्टिकोण से अनेक विद्वानों ने आलोचना की है। (१) सर्वप्रथम उन लोगों का कहना है कि सरकार मानव शरीर के समान एक संगठन है। जिस प्रकार शरीर का कोई भाग दूसरे से बिल्कुल अलग नहीं रह सकता और एक भाग में खराबी आने से सारे शरीर की दशा ही बिगड़ जाती है, ठीक उसी प्रकार सरकार का संगठन भी है। सरकार के अंग एक दूसरे से अलग रहकर काम नहीं कर सकते। उन्हें एक दूसरे के सम्पर्क में रहकर ही काम करना पड़ता है। (२) दूसरे, शासन यन्त्र को ठीक प्रकार से चलाने के लिए यह जरूरी है कि देश की धारा सभा और कार्यकारिणी एक दूसरे से मिलजुल कर काम करें। इनके अलग-अलग उद्देश्य से काम करने से शासन छिन्न-भिन्न हो जाता है। उदाहरण के लिए मान

लीजिए कि कोई देश दूसरे के विरुद्ध युद्ध करना चाहता है; अब यदि उस देश की धारा सभा युद्ध के खर्चे की मंजूरी न दें तो कार्यकारिणी एक दिन के लिए भी युद्ध का संचालन नहीं कर सकती। (३) तीसरे, न्याय विभाग को, कार्यकारिणी और धारा सभा से, पूर्णतः अलग करने का मतलब यह होता है कि न्यायाधीशों का चुनाव जनता द्वारा किया जाय। परन्तु न्याय के क्षेत्र में चुनाव की प्रथा कितनी हानिकारक हो सकती है इसको बताने की आवश्यकता नहीं। न्यायाधीशों के चुने जाने का अर्थ यह होता है कि उनके पद की अवधि तथा न्याय का निर्णय इलेक्शन एजेण्टों के हाथ में चला जाता है। (४) चौथे, कहा गया है कि अधिकार पृथक्करण सिद्धान्त का सबसे अधिक प्रयोग अमेरिका में किया गया है वहाँ की शासन-पद्धति की यह विशेषता समझी जाती है कि सरकार के तीनों अंग एक दूसरे से अलग-अलग कार्य करते हैं। परन्तु तनिक सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर मालूम पड़ता है कि अमेरिका में भी शासन के तीन अंगों का एक दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध है। वह "काँग्रेस" कोई ऐसा काम नहीं कर सकती जो प्रेसिडैंट की इच्छा के विरुद्ध हो। यदि वह ऐसा करती है तो प्रेसिडैण्ट को अधिकार है कि वह उस कानून को रद्द कर दे। ऐसा करने के पश्चात्, कांग्रेस की दोनों सभाओं (Houses) के २/३ बहुमत को उस क़ानून को दुबारा पास करना पड़ता है, और यदि वह ऐसा न कर सके तो क़ानून रद्द हो जाता है। इसी प्रकार यद्यपि प्रेसिडैण्ट कांग्रेस का सदस्य नहीं होता फिर भी वह उसके सामने अपनी माँगें लिखकर भेज सकता है और स्वयं भी उसके अधिवेशनों में आकर भाषण दे सकता है। प्रेसिडैण्ट के इन संदेशों तथा भाषणों का कांग्रेस के क़ानूनों पर भारी असर पड़ता है। इससे साफ जाहिर है कि अमेरिका के शासन विधान में भी व्यवस्थापिका सभा और कार्यकारिणी एक-दूसरे से बिल्कुल पृथक् नहीं हैं। कहा जाता है कि अमेरिका का प्रधान न्यायालय (Supreme Court) बिल्कुल स्वतन्त्र है परन्तु इसके न्यायाधीशों की नियुक्ति भी

प्रेसिडैण्ट ही करता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि अमेरिका का न्याया-लय भी सरकार के दूसरे दो अंगों से पृथक् नहीं है। इससे यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि सरकार के तीन अंगों को एक दूसरे से पृथक् रखना सम्भव नहीं, और संसार के किसी भी देश में ऐसा नहीं होता। (५) नाग-रिक स्वाधीनता के विचार से भी अधिकारों का पूर्ण विभाजन आवश्यक नहीं क्योंकि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता अधिकारों के विभाजन पर इतनी अव-लम्बित नहीं रहती जितनी कि विधान की आत्मा पर। इंगलैण्ड में संसार के किसी भी देश की अपेक्षा कम व्यक्तिगत स्वतन्त्रता नहीं है हालाँकि उस देश में कार्यकारिणी और धारा सभा एक दूसरे से बिल्कुल मिली हुई हैं। (६) यह सिद्धान्त सरकार के तीनों अंगों को समान मानता है, किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है, क्योंकि प्रत्येक देश की व्यवस्थापिका सभा सरकार के दूसरे अंगों से बढ़कर होती है और उनके व्यय के नियन्त्रण द्वारा उनपर अधिकार रखती है।

सिद्धान्त का औचित्य और इसकी उपयोगिता

उपरोक्त आलोचनाओं के बावजूद भी सरकार के अधिकार पृथक्करण सिद्धान्त में कुछ अत्यन्त उपयोगी बातें है। उदाहरणार्थ यह सिद्धान्त इस बात पर जोर देता है कि शासन के तीनों अंगों के बीच थोड़ा बहुत अधि-कार विभाजन, शासन की अच्छाई को कायम रखने के लिए, आवश्यक और वांछनीय है। बहुत से अधिकारों के एक ही मनुष्य या मनुष्यों के समूह के हाथ में दिये जाने से व्यक्तिगत स्वतंत्रता को भारी खतरा पहुँचता है। अधिकार विभाजन से विभिन्न अंगों द्वारा शक्ति का दुरुपयोग नहीं होने पाता। विशेष रूप से इस सिद्धान्त ने न्यायालय को सरकार के दूसरे दो अंगों के प्रभुत्व से अलग करने में भारी सहायता की है। यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त है कि किसी भी ऐसे देश में जहाँ न्यायालय स्वतंत्र नहीं नागरिक स्वतंत्रता क़ायम नहीं रह सकती।

सरकार के कार्य विभाजन का अवरोध और सन्तुलन सिद्धांत (Theory of Checks and Balances)

सरकार के अंगों के अधिकार विभाजन का आधुनिक सिद्धान्त अवरोध और सन्तुलन सिद्धान्त कहलाता है। इस सिद्धान्त का आशय यह है कि यद्यपि सरकार के तीनों अंगों का अलग-अलग कार्य करना वाञ्छनीय है तथापि उन्हें एक दूसरे की शक्ति को रोक थाम कर रखना चाहिए। उदाहरणार्थ' देश की व्यवस्थापिका सभा का काम क़ानून बनाना है, परन्तु इसका यह आशय नहीं कि उसका कार्यकारिणी से कोई सम्बन्ध न हो; प्रायः कार्यकारिणी देश की धारा सभा पर निम्न प्रकार से नियंत्रण रखती है :

(१) धारा सभा में दैनिक शासन कार्य के विषय में जरूरी क़ानून पेश करके।

(२) धारा सभा द्वारा पास क़ानूनों को कुछ विशेष दशाओं में रद्द करके।

इसी प्रकार प्रत्येक देश में क़ानूनों पर अमल कराने के लिए एक अलग कार्यकारिणी (Executive) होनी चाहिये। परन्तु इसका भी यह आशय नहीं कि कार्यकारिणी और व्यवस्थापिका सभा में किसी प्रकार का सम्बन्ध ही न रहे। जिस प्रकार कार्यकारिणी धारा सभा पर नियन्त्रण रखती है, ठीक उसी प्रकार धारा सभा को भी चाहिए कि वह कार्यकारिणी पर अधिकार रक्खे। ऐसा वह दो प्रकार से कर सकती है—

(१) कार्यकारिणी से उसकी नीति के सम्बन्ध में प्रश्न करके,

(२) कार्यकारिणी को उसके पद से अविश्वास के प्रस्ताव द्वारा हटा कर।

प्रत्येक देश में न्याय सम्पादन के लिए एक स्वतंत्र न्यायालय की भी आवश्यकता होती है। जहाँ तक सम्भव हो इस न्यायालय का कार्य-क्षेत्र धारा सभा तथा कार्यकारिणी से बिल्कुल पृथक् रखना चाहिए, परन्तु

इसका भी यह आशय नहीं कि न्यायालय का सरकार के बाकी दो अंगों से किसी प्रकार का सम्बन्ध ही न रहे।

प्रत्येक देश के प्रधान न्यायालय को, धारा सभा द्वारा पास क़ानूनों के विषय में अपनी सम्मति प्रकट करने का अधिकार होता है। देश की धारा सभा को भी इसी प्रकार, न्यायालय की शक्ति, उसके कार्य, तथा उसमें काम करने वाले न्यायाधीशों की योग्यता का निश्चय करने का अधिकार होता है।

न्यायालय कार्यकारिणी पर उन अभियुक्तों को सज़ा देकर या उन्हें छोड़कर नियन्त्रण करती है जो उसके सामने कार्यकारिणी द्वारा पेश किये जाते हैं। इसके बदले में कार्यकारिणी भी न्यायाधीशों की नियुक्ति द्वारा उस पर नियन्त्रण रखती है।

नागरिक स्वाधीनता के लिए स्वतन्त्र न्याय विभाग की आवश्यकता

सरकार के उपरोक्त वर्णित 'अधिकार पृथक्करण सिद्धान्त' के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रत्येक देश में न्याय विभाग का कार्यकारिणी से अलग किया जाना नागरिक स्वतन्त्रता के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इसके लिए निम्नलिखित कारण दिये जा सकते हैं :—

(१) जैसे कि हम पहले भी बतला चुके हैं कार्यकारिणी और न्यायालय के सदस्यों के गुण और स्वभाव में भिन्नता होने चाहिए। न्याय विभाग के कर्मचारियों में गम्भीरता, निष्पक्षता, तथा स्वतंत्र दृष्टिकोण के गुण होने चाहिए। कार्यकारिणी के कर्मचारियों में इसके विपरीत तेजी, फुर्ती और शक्ति से काम करने की क्षमता होनी चाहिए। यह दोनों गुण एक ही मनुष्य में नहीं पाये जा सकते। (२) कार्यकारिणी का प्रधान कर्तव्य क़ानून भंग करने वाले लोगों को गिरफ्तार करना है। यदि यही मनुष्य अभियुक्तों के जुर्मों का फैसला भी करने लगें तो किसी प्रकार के न्याय की आशा नहीं की जा सकती। (३) न्याय विभाग को कार्यकारिणी के दबाव

तथा असर से दूर रखने के लिए यह आवश्यक है कि उसको कार्यकारिणी के प्रभाव से बाहर रक्खा जाय। यदि न्यायाधीश कार्यकारिणी के मातहत रहेंगे, और उनकी इच्छा और सिफारिश पर ही उनकी भावी उन्नति अवलम्बित होगी तो न्याय की निष्पक्षता और स्वतन्त्रता क़ायम नहीं रखी जा सकती। इसलिए यह नितान्त आवश्यक है कि न्यायाधीशों के पद की अवधि, उनका वेतन, उन्नति आदि का काम कार्यकारिणी के क्षेत्र से बाहर रखा जाय।

हमारे देश का यह दुर्भाग्य है कि स्वतंत्रता प्राप्त करने के पश्चात् भी हम अपनी न्यायालयों को कार्यकारिणी के क्षेत्र से बाहर नहीं कर पाये हैं। हमारे देश के प्रायः प्रत्येक जिले और तहसील में सरकार की कार्यकारिणी के उच्च कर्मचारी जिला कैलेक्टर और तहसीलदार—शासन प्रबन्ध और न्याय दोनों का ही कार्य करते हैं। विदित है कि ऐसी दशा में नागरिक स्वतंत्रता की रक्षा की कोई भी आशा नहीं की जा सकती। भारत के कुछ प्रान्त, इसी कारण, आजकल कार्यकारिणी और न्याय विभाग को पृथक् करने के कार्य में लगे हुए हैं।

§ २. शासन के अङ्ग

जैसा कि पिछले पृष्ठों में बतलाया जा चुका है शासन के तीन अंग होते हैं: (१) व्यवस्थापिका सभा, (२) कार्यकारिणी और (३) न्याय समिति। अब हम इन तीनों अंगों की बनावट तथा संगठन का विस्तृत वर्णन करेंगे।

व्यवस्थापिका सभा के कार्य (Functions of the Legislature)

विभिन्न देशों की धारा-सभायें मुख्यत: निम्नलिखित कार्य करती हैं:—

(१) सर्वप्रथम वह देश में शान्ति और व्यवस्था क़ायम रखने के

लिए क़ानून बनाती हैं। समय की बदलती हुई परिस्थिति के अनुसार प्रत्येक समाज में नए क़ानूनों की आवश्यकता पड़ती हैं। इसलिए धारा-सभाएँ पुराने कानूनों के स्थान पर निरन्तर नये क़ानून बनाती रहती हैं। किसी-किसी देश, जैसे इङ्गलैण्ड में, धारा-सभा को विधान में परिवर्तन करने का भी अधिकार प्राप्त होता है।

(२) दूसरे, धारा सभाएँ देश की आमदनी (Finances) पर नियन्त्रण रखती हैं। कोई नये कर लगाने अथवा किसी नई मद में खर्च करने की कोई भी योजना उस समय तक अमल में नहीं लाई जा सकती जब तक कि धारा सभा उसे स्वीकार नहीं कर लेती। बजट को पास करना तथा नये कर लगाना, इस प्रकार, धारा सभाओं का दूसरा मुख्य कर्तव्य है।

(३) धारा सभाओं का तीसरा मुख्य कार्य देश की कार्यकारिणी पर नियन्त्रण करना है। मन्त्रिमंडलात्मक सरकार के तरीक़े में मन्त्री सदा धारा-सभा के प्रति उत्तरदायी होते हैं तथा अपने पद पर केवल उसी समय तक आसनारूढ़ रहते हैं जब तक कि धारा-सभा के अधिकतर सदस्यों का उनमें विश्वास होता है।

अध्यक्षात्मक शासनों में, धारा-सभाएँ, कार्यकारिणी पर, उनके द्वारा की गई नियुक्तियों की मंजूरी देकर, तथा सन्धिपत्रों की स्वीकृति देकर नियन्त्रण रखती हैं।

(४) वह सरकार के सन्मुख जनता की तकलीफ़ों को पेश करने का काम भी करती है। धारा सभा के सदस्य प्रस्तावों, प्रश्नों; बजट में कटौती तथा काम रोको प्रस्ताव इत्यादि पेश करके जनता की तकलीफ़ों की ओर सरकार का ध्यान आकर्षित करते हैं। (५) वह राज्य की नीति को निर्धारित करती है और सरकार के सामने एक ठोस कार्यक्रम पेश करती है। (६) वह राज्य के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की देखभाल करती है। प्रजातन्त्रात्मक राज्यों में कोई भी युद्ध या सन्धि उस समय तक नहीं की

जा सकती जब तक कि धारा-सभा की उस विषय में राय न ले ली जाय। (७) कुछ देशों में धारा सभाएँ कुछ ऐसे काम भी करती हैं जिनका क़ानून से कोई सम्बन्ध नहीं होता, उदाहरणार्थ वे चुनाव के झगड़ों का फ़ैसला करती हैं, अपने सदस्यों के मुक़दमों को सुनती हैं; कभी-कभी सरकार के उच्च कर्मचारियों पर लगाए गए अभियोगों की छानबीन करती हैं और अपील की अदालत का भी काम करती हैं।

व्यवस्थापिका सभा का संगठन

दूसरी सभा का प्रश्न (Problem of Second Chamber)— हम यह देख चुके हैं कि व्यवस्थापिका सभा राज्य का सबसे आवश्यक अंग है। इसके उचित संगठन तथा कार्य पर ही किसी देश और समाज की भलाई अवलम्बित रहती है। इसके द्वारा जो भी क़ानून पास किये जाते हैं वे सभी जातियों की उन्नति पर प्रभाव डालते हैं। इसलिए यह नितान्त आवश्यक है कि किसी भी क़ानून को पास करने से पहिले यह देखने का प्रयत्न किया जाय कि इस क़ानून से जनता के किसी अंग विशेष को हानि तो नहीं पहुँचती है। देश की व्यवस्थापिका सभा में इसी कारण जनता के प्रत्येक हित तथा वर्ग का प्रतिनिधित्व रहना चाहिए।

कुछ लोगों का विचार है कि व्यवस्थापिका सभा के दो भाग होने चाहिए, जिनमें से एक का नाम "निचली सभा" (Lower house) तथा दूसरे का नाम "उच्च सभा" (Upper Chamber) होना चाहिए। जिस देश की व्यवस्थापिका सभा में केवल एक ही सभा (house) होती है वह एक सभात्मक व्यवस्थापिका सभा (Uni-Cameral Legislature), और जिसमें दो व्यवस्थापिका सभाएँ होती हैं वह द्विसभात्मक व्यवस्थापिका सभा (Bi-Cameral Legislature) कहलाती है, प्रायः प्रत्येक देश में निचली सभा में जनसाधारण का प्रतिनिधित्व रहता है और उच्च सभा में जनता के कुछ

विशेष वर्गों का; जैसे-ज़मीदारों, मज़दूरों, व्यापारियों, कारखानेदारों, यूनिवर्सिटियों, व्यापार संघों, ट्रेड यूनियनों इत्यादि का।

दूसरी सभाओं के पक्ष में तर्क (Arguments in favour of Second Chamber)—द्विसभात्मक व्यवस्थापिका सभा के पक्ष में जो दलीलें दी जाती हैं वे निम्नलिखित हैं। (१) द्वितीय सभा, धारा-सभा की प्रथम सभा के कार्यों पर दुबारा विचार करती है, और उनमें जो कुछ भूल आदि रह जाती है उनको दूर कर देती है। प्रायः ऐसा देखने में आता है कि निचली सभा में जनता ऐसे प्रतिनिधियों से भरी रहती है जो अत्यन्त उग्र तथा क्रांतिकारी विचार वाले व्यक्ति होते हैं। ऐसे लोग बिना सोचे-समझे जल्दी में कुछ ऐसे कानूनों को पास कर बैठते हैं जिनसे सर्वसाधारण का भला नहीं वरन् हानि होती है। "उच्च सभा" क़ानून की इन बुराइयों को दूर कर देती है, तथा निचली सभा पर नियन्त्रण रखती है। (२) उच्च सभा में ऐसे व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व दिया जाता है जो अपनी कुशाग्र बुद्धि तथा अनुभव के कारण जनता में प्रख्यात होते हैं। ऐसे व्यक्ति चुनावों में भाग लेना पसन्द नहीं करते, इसलिए उच्च सभा में वे नामज़द कर दिये जाते हैं। (३) "निचली सभा" पर आजकल के राज्यों में कार्य भार बहुत रहता है, अतः वे महत्वपूर्ण प्रश्नों पर वाद-विवाद नहीं कर पाते। "उच्च सभाए" जिनके पास काफी फालतू समय रहता है इस कमी को पूरा कर देती हैं। (४) उच्च सभा के द्वारा कुछ ऐसे लोगों को भी स्थान मिल जाता है जो समाज के विशेष हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं, जैसे ज़मींदार, मिल मालिक, मज़दूरों के नेता, व्यापारी, अल्पसंख्यक जातियाँ इत्यादि । (६) द्वितीय सभा के रहने से क़ानून बनाने में एक सभा द्वारा स्वेच्छाचार या मनमानी करने की सम्भावना नहीं रहती। इस प्रकार द्वितीय सभा जनता की स्वतंत्रता की रक्षा करती है। (७) "उच्च सभा" क़ानून के पेश होने और उसके पास होने के बीच जनता को इस बात का अवसर प्रदान करती है

कि वह उस क़ानून के विषय में अपना मत प्रकट कर सके। (८) संघीय विधानों में उच्च सभा विभिन्न राज्यों को प्रतिनिधित्व प्रदान करने में सहायता देती है। इसलिये इन देशों में यह अनिवार्य समझी जाती है।

दूसरी सभाओं से हानि (Disadvantages of Second Chambers)—बहुत से राजनीतिक विद्वान् दूसरी सभा की प्रथा के अत्यन्त ही विरुद्ध हैं। उनके मत से दूसरी सभा न तो किसी उद्देश्य की पूर्ति ही करती है और न कोई लाभदायक कार्य ही करती है। (१) अनुभव यह बतलाता है कि वास्तव में दूसरी सभाएँ धनिकों और अनुदार दलों का गढ़ बन जाती हैं और फिर इन दलों की स्वार्थ रक्षा के नाम में सर्वसाधारण के हित का विरोध करती हैं। (२) धारा-सभा का काम क़ानून बनाना है। एबेसीज (Abbesieyes) के कथनानुसार लोकमत किसी भी विषय पर एक ही हो सकता है दो नहीं, इसलिए उसका प्रतिनिधित्व करने वाली सभा भी एक ही होनी चाहिये—दो नहीं। (३) दो सभाओं के होने से उनमें निरन्तर झगड़ा होता रहता है और शासन का कार्य तेज़ी से आगे नहीं बढ़ सकता। (४ एक विद्वान् ने लिखा है कि द्वितीय सभा प्रथम सभा से सहमत रहे तो व्यर्थ है और यदि उसका विरोध करे तो हानिकारक है। द्वितीय सभा या तो प्रथम सभा से सहमत रहेगी या उसका विरोध करेगी। अतः प्रत्येक दशा में ही उससे कोई लाभ नहीं। (५) यह कहना कि द्वितीय सभा क़ानूनों का परिमार्जन (Revision) करती है ठीक नहीं। आज-कल के देशों में प्रथम सभाएँ प्रत्येक क़ानून पर तीन बार विचार करती हैं। इसके बाद भी यदि उनमें दोष रह जाय तो देश की कार्यकारिणी का सर्वोच्च अधिकारी उन पर हस्ताक्षर करने से पहिले उनके दोषों को दूर कर सकता है। इस कार्य के लिए द्वितीय सभा की कोई आवश्यकता नहीं। (६) द्वितीय सभा की व्यवस्था से राज्य का व्यय बढ़ जाता है और ग़रीब जनता पर उसका निरर्थक भार पड़ता है। (७) एक और कारण से भी कुछ राजनीतिज्ञ द्वितीय सभाओं की प्रणाली का विरोध

करते हैं। उनका कहना है कि यह समझ में नहीं आता कि द्वितीय सभा के सदस्यों की नियुक्ति किस प्रकार की जाय। यदि चुनाव द्वारा की जाय तो यह निचली सभा की केवल एक नक़ल मात्र होगी। यदि नामज़दगी से की जाय तो इससे सत्तारूढ़ दल के हाथ में एक जबर्दस्त ताकत आ जाती है और यदि वंश परम्परागत प्रथा से की जाय तो वर्तमान प्रजातन्त्रीय युग में यह एक अत्यन्त ही खतरनाक प्रथा होगी।

निष्कर्ष—इस प्रकार हम देखते हैं कि द्वितीय सभाओं के विरुद्ध जो तर्क दिये गये हैं वे उसके पक्ष के तर्कों से कहीं अधिक महत्वपूर्ण हैं। प्रजातन्त्र राज्यों में द्वितीय सभाएँ झगड़े और मतभेद की जड़ें होती हैं। वे प्रगतिशील क़ानूनों के पास होने के मार्ग में रुकावटें डालती हैं, परन्तु इन सब बुराइयों के बावजूद भी हम देखते हैं कि संसार के प्रायः प्रत्येक ही देश में दो सभाओं की प्रथा प्रचलित है। इसका कारण केवल यही प्रतीत होता है कि अपनी एक ऐतिहासिक परम्परा के कारण यह प्रथा व्यवस्थापिका सभा का एक आवश्यक अंग बन गई है।

धारा सभा के दोनों अङ्गों का पारस्परिक सम्बन्ध

प्रश्न उठता है कि द्विसभात्मक व्यवस्थापिका सभा प्रथा के अन्तर्गत प्रथम और द्वितीय सभा का क्या पारस्परिक सम्बन्ध होता है? अब से कुछ समय पहले, इन दोनों सभाओं के अधिकार लगभग बराबर ही रक्खे जाते थे। अन्तर केवल इतना था कि राज्य के अपव्यय के सम्बन्ध में प्रथम सभा को विशेष अधिकार दिये जाते थे। बाकी सभी मामलों में दोनों सभाओं के अधिकार बराबर होते थे। बिना दोनों के सहमत हुए कोई भी बिल क़ानून नहीं बन सकता था। परन्तु आजकल, संयुक्त राष्ट्र अमेरिका को छोड़कर यह प्रथा दूसरे देशों से उठ गई है, और सभी देशों में क़ानून या रीति-रिवाज द्वारा यह निश्चित हो गया है कि आर्थिक बिलों में तो द्वितीय सभा कुछ भी हस्तक्षेप नहीं कर सकती, साधारण बिलों के पास करने के सम्बन्ध में भी वह केवल विलम्ब ही कर सकती है परन्तु हस्तक्षेप नहीं कर सकती।

उदाहरणार्थ यदि इङ्गलैण्ड में कामन्स सभा किसी बिल को तीन बार पास कर दे और इतने बार पास करने में उसे कम से कम दो वर्ष लग जाय तो वह बिल हाउस आफ लार्ड् स की सम्मति मिले बिना भी क़ानून बन सकता है।

धारा-सभा की दोनों सभाओं के बीच किसी बिल पर मतभेद का निपटारा करने के लिए चार रीतियाँ काम में लाई जाती हैं:

(१) झगड़े वाले बिल को समाप्त करके—

(२) दोनों सभाओं के सदस्यों की एक संयुक्त सम्मति बनाकर जिसका निर्णय दोनों ही सभायें मानने का वचन दें। (यह रीति फ्रांस और अमेरिका में प्रचलित है)।

(३) दोनों सभाओं का संयुक्त अधिवेशन बुलाकर और फिर उसमें बहुमत से जो निर्णय हो जाएँ उसे स्वीकार करके। (यह रीति भारतवर्ष और आस्ट्रेलिवा में प्रचलित है)।

(४ प्रथम सभा एक निश्चित अवधि के बाद बिल को दुबारा या तिबारा पास कर सके। (यह रीति इङ्गलैंड में प्रचालित है)

धारा सभा की अवधि (Term of rhe Legislature)

व्यवस्थापिका सभा की अवधि न बहुत कम और न बहुत अधिक ही होनी चाहिए। बहुत कम अवधि होने से बार-बार चुनाव करने पड़ते हैं जिनसे व्यवस्थापिका सभा के काम में अड़चन पड़ती है, अनावश्यक खर्च होता है. और जनता में अकारण ही हलचल पैदा होती है। थोड़े समय में धारा-सभा के सदस्य शासन-सम्बन्धी अनुभव भी प्राप्त नहीं कर पाते, परन्तु इसका मतलब यह नहीं कि धारा-सभा की अवधि लम्बी रखी जाय क्योंकि ऐसी दशा में वह अधिक समय तक जनता का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकती। साधारणतया तीन या चार वर्ष की अवधि धारा-सभाओं के लिए पर्याप्त मालूम पड़ती है।

कार्यकारिणी सभा (Executive)

कार्यकारिणी सभा की सरकार उस अंग को कहते हैं जो शासन को कार्यान्वित करती है या धारा-सभा के बनाए क़ानूनों की देख-रेख रखती है। वास्तव में देश का शासन और उसकी व्यवस्था कार्यकारिणी ही करती है। शासन के दैनिक जीवन में इसी अंग का हाथ सबसे अधिक होता है। जो मनुष्य क़ानून को भंग करता है वह कार्यकारिणी सभा द्वारा दोषी ठहराया जाता है, एवं उसे न्यायालय दण्ड देती है। व्यापक दृष्टि से कार्यकारिणी के अन्तर्गत सरकार के सर्वोच्च कर्मचारी से लेकर छोटे से छोटा गाँव का चौकीदार भी आ जाता है। परन्तु कभी-कभी कार्यकारिणी शब्द का प्रयोग केवल कार्यकारिणी के प्रधान या मन्त्रि-मण्डल के रूप में किया जाता है।

किसी किसी देश में दो प्रकार की कार्यकारिणी होती है — एक नाम धारी दूसरी वास्तविक। नाम धारी कार्यकारिणी वह होती है जिसे किसी भी प्रकार के अधिकार प्राप्त नहीं रहते किन्तु जो वंश परम्परागत अधिकार के कारण शाही तख्त पर विराजमान रहती है।

वास्तविक कार्यकारिणी वह होती है, जो जनता की शक्ति के कारण अधिकार सम्पन्न रहती है।

कार्यकारिणी के आवश्यक गुण

कार्यकारिणी का मुख्य काम देश में शांति और व्यवस्था क़ायम रखना होता है। इसके लिए प्रत्येक कार्यकारिणी में निम्नलिखित गुण विद्यमान होने चाहिए।

(१) निर्णय में फुर्ती, (२) कर्त्तव्य निष्ठा, (३) कार्य में स्फूर्ति, (४) काम करने में गोपनीयता (Secrecy)।

उपरोक्त गुण केवल एक ऐसी कार्यकारिणी में ही हो सकते हैं जिसका एक सर्वमान्य नेता हो। जिस प्रकार एक म्यान में दो तलवारें नहीं समा

सकतीं, ठीक उसी प्रकार देश में एक समय में कार्यकारिणी के दो नेता नहीं हो सकते।

कार्यकारिणी की नियुक्ति का तरीक़ा

कायकारिणी की नियुक्ति के भिन्न भिन्न राज्यों में भिन्न-भिन्न तरीक़े हैं। इनमें से वंशागत कार्यकारिणी (Hereditary Executive), निर्वाचित कार्यकारिणी (Elected Executive) और मनोनीत कार्यकारिणी (Nominated Executive), मुख्य हैं।

वंशागत कार्यकारिणी—यह प्रथा इंगलैंड और कुछ दूसरे देशों में पाई जाती है। इस प्रथा के अनुसार सम्राट् का ज्येष्ठ पुत्र राज्य का उत्तराधिकारी होता है।

निर्वाचित कार्यकारिणी—इस प्रथा के अनुसार राज्य के सर्वोच्च अधिकारी (Head of the State) का निर्णय जनता चुनाव द्वारा करती है। चुनाव दो प्रकार से होता है, (१) प्रत्यक्ष, (२) अप्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष चुनाव द्वारा आजकल किसी भी देश के सर्वोच्च अधिकारी की नियुक्ति नहीं होती, क्योंकि इस प्रथा से कार्यकारिणी के प्रधान का अंतिम निर्णय उन लोगों के हाथ में चला जाता है, जो उम्मीदवार की योग्यता का ठीक निर्णय नहीं कर सकते। इस कारण ही कुछ देशों में अप्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली की शरण ली जाती है। अमेरिका में प्रेसिडैण्ट के चुनाव के लिए यही प्रथा काम में लाई जाती है।

किसी-किसी देश, जैसे स्विटज़रलैण्ड और फ्रांस में, कार्यकारिणी का चुनाव व्यवस्थापिका सभा द्वारा भी किया जाता है, यह प्रथा बहुत अच्छी नहीं है क्योंकि इससे कार्यकारिणी को व्यवस्थापिका सभा के अधीन रहकर काम करना पड़ता है। वह उसकी दलबन्दियों के प्रभाव से ऊपर नहीं उठ सकती।

मनोनीत कार्यकारिणी—कार्यकारिणी की नियुक्ति का एक और तरीक़ा देश के नामधारी शासक द्वारा चुना जाता है। यह प्रथा मंत्रिमंडलात्मक

शासनों में प्रचलित है, जहाँ प्रधान मन्त्री की नियुक्ति देश के सम्राट् या देश के सभापति द्वारा की जाती है। इस प्रकार की कार्यकारिणी जनता के प्रति उत्तरदायी होती है और वह अपने पद पर केवल उतने ही समय के लिए काम करती है, जब तक कि व्यवस्थापिका सभा का उसमें विश्वास रहता है।

कार्यकारिणी के कर्त्तव्य

एक प्रसिद्ध राजनैतिक विद्वान् गैटिल (Gettle) ने कार्यकारिणी के निम्नलिखित काम बताए हैं—

(१) **कूटनीतिक कार्य** (Diplomatic Functions)—इस शीर्षक के अन्तर्गत कार्यकारिणी दूसरे देशों से सन्धि, दूसरे देशों में राजनैतिक दूतों की नियुक्ति, तथा अपने देश में व्यवस्था और युद्ध के कार्य का संचालन करती है।

(२) **व्यवस्थापिका सभा सम्बन्धी कार्य** (Legislative Functions)—इस शीर्षक के अन्तर्गत कार्यकारिणी व्यवस्थापिका सभा को बुलाने, स्थगित करने, भंग करने, क़ानून पेश करने, बिल पर हस्ताक्षर करने, आर्डिनेन्स बनाने तथा क़ानून के अन्तर्गत नियम और उपनियम बनाने का कार्य करती है।

(३) **सैनिक कार्य** (Military Functions)—कार्यकारिणी का प्रधान बहुधा सेना का सेनापति भी होता है। इस प्रकार वह देश की जल, थल और नभ सेना पर अधिकार रखता है, उनके अफ़सरों की नियुक्ति करता है, तथा उनकी व्यवस्था के लिए फौजी क़ानून बनाता है।

(४) **शासन सम्बन्धी कार्य** (Administrative Functions) इस शीर्षक के अन्तर्गत कार्यकारिणी का कर्तव्य देश में शान्ति रखना, जानमाल की हिफ़ाज़त करना; शिक्षा प्रचार करना; व्यापार और उद्योग की वृद्धि करना; क़ानूनों की रक्षा करना तथा राज्य की बेहतरी के लिए दूसरे हर प्रकार के कार्य करना है।

(५) न्याय सम्बन्धी कार्य (Judicial Functions)-इस शीर्षक के अन्तर्गत कार्यकारिणी न्यायाधीशों की नियुक्ति करती है तथा सजा पाए हुए अभियुक्तों को क्षमा प्रदान करने का कार्य करती है।

न्याय-विभाग (Judiciary)

सरकार का तीसरा अंग न्याय समिति कहलाता है। क़ानूनों की परख न्यायालयों में होती है। इस अंग का मुख्य कर्तव्य क़ानून भंग करने वालों को दण्ड देना है। इस विभाग के अन्तर्गत बहुत से न्यायालय होते हैं जो निम्नलिखित कार्य करते हैं—(१) क़ानूनों का यह अर्थ निकालना और उनका अभियोगों में प्रयोग करना, (२) एक मनुष्य और दूसरे मनुष्य और राज्य एवं नागरिकों के बीच आर्थिक मुक़दमों का फैसला करना, (३) फौजदारी मुकदमों का फैसला करना और अभियुक्तों को सजा देना, (४) नाबालिगों की जायदाद के प्रबन्ध के लिए ट्रस्टी मुकर्रिर करना, और स्त्रियों तथा पागल मनुष्यों के सरक्षक नियुक्त करना, (५) मृत पुरुषों की जायदाद का प्रबन्ध करना, (६ दिवालियों की जायदाद के लिए रिसीवर मुकर्रिर करना, (७) कायकारिणी को वैधानिक मामलों में आवश्यक परामर्श देना, (८) संघीय विधानों में विभिन्न व्यवस्थापिका सभाओं द्वारा स्वीकृत क़ानूनों की वैधानिकता का निश्चय करना और (९) अपने फैसलों के द्वारा नज़ीरें तैयार करना जिनके आधार पर आगे आने वाले मुकदमों का फैसला किया जा सके।

इस प्रकार हम देखते हैं कि न्यायालय वर्तमान राज्यों में नागरिकों की स्वतंत्रता की रक्षा करने में अत्यन्त महत्वपूर्ण भाग लेते हैं। न्यायाधीशों को चाहिये कि वे न्याय करते समय धनी और ग़रीब, छोटे और बड़े का ध्यान न रक्खें। न्याय की दृष्टि में सब समान हैं।

न्यायाधीशों की नियुक्ति

न्यायाधीशों की नियुक्ति के लिये वर्तमान राज्यों में तीन तरीक़े काम में लाये जाते हैं—(१) व्यवस्थापिका सभा के चुनाव द्वारा, (२) जनता के

चुनव द्वारा और (३) कार्यकारिणी की नियुक्ति द्वारा। इनमें से प्रथम विधि का प्रयोग स्विटजरलैण्ड और अमेरिका के कुछ राज्यों में किया जाता है। यह विधि अत्यन्त दोषपूर्ण है क्योंकि यह अधिकार विभाजन के सिद्धांत के विरुद्ध है। इसके अतिरिक्त इस प्रथा के अन्तर्गत न्यायाधीशों का चुनाव व्यवस्थापिका सभा की दलबन्दियों से प्रभावित होता है; फलस्वरूप न्यायाधीश पक्षपातरहित रहकर काम नहीं कर सकते।

दूसरी विधि अमेरिका के कुछ राज्यों में प्रचलित है। यह विधि भी अत्यन्त दोषपूर्ण है क्योंकि सार्वजनिक मत पर चुने गये न्यायाधीश अपने समर्थकों को ही प्रसन्न करने की कोशिश करते हैं, निष्पक्ष रूप से न्याय नहीं करते।

न्यायाधीशों की नियुक्ति का सबसे अच्छा तरीका इसलिये कार्यकारिणी द्वारा नियुक्ति है, कार्यकारिणी को चाहिये कि वह एक खुली परीक्षा द्वारा उम्मीदवारों को चुने और ऐसे व्यक्तियों को छाँटने का प्रयत्न करे जो ईमानदार, निष्पक्ष और गम्भीर विचारपूर्ण व्यक्ति हों।

न्याय-विभाग की स्वतन्त्रता

नियुक्ति के पश्चात् न्यायाधीशों का कार्यकारिणी से कोई विशेष संबंध नहीं रहना चाहिये। उनकी नौकरी की एक निश्चित अवधि, निश्चित वेतन, तथा निश्चित तरक्की का क्रम होना चाहिये। न्यायाधीशों को इतना वेतन अवश्य मिलना चाहिये जिससे कि वे अपना और अपने परिवार का अच्छी तरह पालन कर सकें और लोभ के वशीभूत होकर रिश्वत इत्यादि न लें। देश की विभिन्न अदालतों की अधिकार सीमा भी निश्चित होनी चाहिए जिससे उनमें आपस में किसी प्रकार का संघर्ष न हो।

न्याय-विभाग का सङ्गठन

न्याय-विभाग का संगठन प्रत्येक देश में अलग-अलग प्रकार से होता है। परन्तु कुछ बातें ऐसी हैं जो कुछ देशों में समान रूप से पाई जाती हैं। उदाहरणार्थ प्राय: प्रत्येक देश में दो या तीन प्रकार की अदालतें होती

हैं—(१) दीवानी (Civil), (२) फौजदारी (Criminal) और ३) माली (Revenue । इसके अतिरिक्त संघीय राज्यों में दो प्रकार की अदालतें होती हैं, एक संघीय और दूसरी प्रान्तीय । प्रायः प्रत्येक देश में ही अदालतों का एक क्रम भी होता है, जिसके अनुसार सबसे छोटी, फिर उनसे बड़ी और फिर सबसे बड़ी अदालतें होती हैं ।

हमारे देश की अदालतों का संगठन निम्न तालिका में दिया गया है । आशा है इसे पढ़कर हमारे पाठकों को अदालतों के क्रम का समुचित ज्ञान हो जायगा ।

भारतीय न्यायालयों के सङ्गठन का क्रम

फ़ौजदारी अदालतें (Criminal Courts)	दीवानी अदालतें (Civil Courts)	माल की अदालतें (Revenue Courts)
फिडरल कोर्ट	फिडरल कोर्ट	
हाईकोर्ट	हाई कोर्ट	बोर्ड आफ रैवैन्यू
सैशन्स कोर्ट	डिस्ट्रि० जजकी अदालत	कमिश्नर की अदालत
मैजिस्ट्रेट दर्जा अव्वल	सिविल जज की अदालत	कलैक्टर की अदालत
मैजिस्ट्रेट दर्जा दोयम	मुंसिफ की अदालत	डिप्टी कलैक्टर की अदालत
मैजिस्ट्रेट दर्जा सोयम	खफीफा अदालत	तहसीलदार की अदालत
औनरेरी बैंच		नायब तहसीलदार की अदालत

नोट :—भारत में नये विधान के अन्तर्गत, प्रिवी कौंसिल का कार्य-क्षेत्र समाप्त कर दिया गया है, हाईकोर्ट के फैसलों के पश्चात्, अब सीधी अपीलें फिडरल कोर्ट अर्थात् संघीय न्यायालयों में जाती हैं ।

योग्यता-प्रश्न

(१) शासन के विभिन्न अंग क्या हैं? प्रत्येक के कार्यों का वर्णन कीजिये।
(यू० पी०, १९३१, १९४२)

(२) द्विसभात्मक व्यवस्थापिका सभाओं के लाभ और हानि पर प्रकाश डालिये।
(यू० पी०, १९४१)

(३) व्यवस्थापिका सभा के प्रधान कार्यों का वर्णन कीजिये।
(यू० पी०, १९४५, १९४६, १९४९)

(४) व्यवस्थापिका सभा की दूसरी धारा सभा के पक्ष तथा विपक्ष में दलील दीजिये। क्या ये कारण हिन्दोस्तान के लिये लागू होते हैं?
(यू० पी०, १९४१, १९४५)

(५) प्रजातांत्रिक राज्य में कार्यकारिणी के प्रधान कर्तव्य क्या हैं? व्यवस्थापिका से उनका क्या सम्बन्ध है, इस पर प्रकाश डालिए।

(६) अच्छे न्यायाधीश में कौन से गुण होने चाहिये? उन विभिन्न तरीकों का वर्णन कीजिये जिनके अनुसार न्याय विभाग का संगठन हुआ है।

(७) न्याय विभाग के कार्य, उसकी नियुक्ति के तरीक़े, और संगठन का वर्णन कीजिये। (यू० पी०, १९३५)

(८) अधिकार विभाजन के सिद्धांत को समझाइये। उससे क्या लाभ हैं?
(यू० पी०, १९४१, १९४५)

(९) नागरिक स्वाधीनता के लिये न्याय-विभाग का कार्यकारिणी से स्वतंत्र होना क्यों आवश्यक है? (यू० पी०, १९३९, १९४२)

(१०) अधिकार विभाजन का क्या अर्थ है? क्या सभ्य राज्य में स्वतंत्र न्याय-विभाग का रहना आवश्यक है? (यू० पी०, १९३७)

(११) वे आवश्यक अंग कौन से हैं जिनके द्वारा आधुनिक शासन अपने कार्य सम्पादित करते हैं? स्वतंत्र न्याय विभाग की क्या आवश्यकता है?
(यू० पी०, १९४२)

(१२) न्याय विभाग का कार्यकारिणी और व्यवस्थापिका से क्या सम्बन्ध होना चाहिये? (यू० पी०, १९२९)

(१३) कार्यकारिणी और व्यवस्थापिका सभा को किन सिद्धांतों के द्वारा व्यवस्थित किया जाना चाहिये? (यू० पी०, १९२९)

(१४) नागरिक स्वतंत्रता के लिये स्वतंत्र न्यायालय की क्या आवश्यकता है?
(यू० पी०, १९४५)

उन्नीसवाँ अध्याय

प्रजातन्त्र शासन की व्यवस्था

(Organisation of Democracy)

१. मताधिकार का प्रश्न (Problem of Franchise)

प्रजातंत्र राज्य का अर्थ समझ लेने के पश्चात् यह जान लेना बहुत आवश्यक है कि इस प्रकार के राज्य में सर्वसाधारण के प्रतिनिधि किस प्रकार चुने जाते हैं। आधुनिक राज्यों का आकार बहुत विस्तृत होता है और उसके लाखों निवासियों के लिए अपने देश के शासन में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेना अथवा राज्य की नीति को निर्धारित करना प्राय: असम्भव सा होता है। इसलिए जनता को अप्रत्यक्ष रूप से अपने शासन कार्य में भाग लेने का अवसर प्रदान करने के लिए प्रतिनिधि प्रथा की शरण ली जाती है।

आम चुनाव (General Election)

जब किसी देश की जनता अपने राज्य की क़ानून बनाने वाली संस्था के लिए प्रतिनिधि चुनने के कार्य में भाग लेती है तो यह क्रिया **आम चुनाव** कहलाती है। चुनने का कार्य मत देना कहलाता है। जो नागरिक अपनी राय से व्यवस्थापिका सभा के सदस्यों को चुनते हैं वह **मतदाता** या चुनने वाले कहलाते हैं। चुनने वालों का सम्पूर्ण समुदाय **निर्वाचकगण** (Electorate) कहलाता है। जब किसी व्यवस्थापिका सभा के किसी सदस्य की मृत्यु हो जाती है या वह त्याग-पत्र दे देता है तब उसके रिक्त स्थान को पूरा करने के लिए जो चुनाव होता है वह **उप-चुनाव** (Bye-Election) कहलाता है। वह क्षेत्र जिससे

प्रतिनिधि व्यवस्थापिका सभा के लिए चुना जाता है निर्वाचन क्षेत्र (Constituency) कहलाता है।

सर्वमताधिकार (Universal Franchise)

मत देने का अधिकार किसी राज्य में सारी जनता को भी मिल सकता है और कुछ थोड़े से चुने हुए लोगों को भी। जिस देश में सारी बालिग़ जनता को मत देने का अधिकार होता है, तथा जहाँ लिंग, (Sex) वर्ण, जाति, सिद्धान्त या स्थिति पर ध्यान नहीं दिया जाता, उस देश में सर्वमताधिकार की अवस्था मानी जाती है। जिस देश में केवल बालिग़ (वयस्क) पुरुषों को ही मत देने का अधिकार प्राप्त होता है, स्त्रियों को नहीं, उस देश में सर्वमताधिकार की अवस्था के स्थान पर केवल पुरुष मताधिकार की अवस्था होती है। दुनिया का कोई देश ऐसा नहीं जहाँ केवल स्त्रियों को ही मताधिकार प्राप्त हो, पुरुषों को नहीं। यदि कोई ऐसा देश हो तो उस देश में हम महिला मताधिकार की अवस्था कह सकते हैं।

मताधिकार के अधिकार का स्वभाव (Nature of the Right to Suffdrage)—अनेक प्रजातंत्रवादियों का विश्वास है कि मत अथवा निर्वाचन का अधिकार, प्रत्येक मनुष्य का जन्मसिद्ध और स्वाभाविक अधिकार है। इन लेखकों के मतानुसार राज्य की सार्वभौमिकता प्रजा पर निर्भर होती है। इसलिए प्रत्येक नागरिक को उस सार्वभौमिकता को अमल में लाने के लिए यह आवश्यक है कि वह इस मताधिकार को प्राप्त करे।

परन्तु यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि मताधिकार केवल एक अधिकार ही नहीं वरन् एक पवित्र कर्तव्य भी है। नागरिक को मत देते समय इस बात का अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि वह अपने मत के द्वारा सार्वजनिक हित की उन्नति करता है अथवा नहीं। उसे स्वार्थ सिद्धि के लिए अथवा किसी सामूहिक लाभ प्राप्ति की इच्छा से मत नहीं देना चाहिए। मत देने का अधिकार एक पावन विश्वास है जिसे राष्ट्र

मनुष्य को इसलिए प्रदान करता है कि वह इस अधिकार के उचित उपयोग द्वारा जनता की भलाई कर सके। इसे बड़ी सावधानी, विचार तथा ईमानदारी के साथ अमल में लाना चाहिए। इसलिए केवल ऐसे मनुष्यों को मत देने का अधिकार दिया जाना चाहिए जो अपने कर्तव्यों का उचित रूप से पालन कर सकें।

मतदाताओं की योग्यता (Qualifications of voters)—आजकल प्रायः सभी प्रजातंत्रवादी देशों में सर्वमताधिकार का अधिकार स्वीकार कर लिया गया है। परन्तु अभी भी कुछ ऐसे राज्य हैं जहाँ स्त्रियों को मत देने का अधिकार प्रदान नहीं किया जाता। सर्वमताधिकार का तात्पर्य यह नहीं समझना चाहिए कि मत देने का अधिकार राज्य के सभी छोटे-बड़े, बालिग-नाबालिग लोगों को प्राप्त होता है और उनकी आयु, आचरण तथा कार्य का विचार नहीं किया जाता। सब राज्यों में ऐसे बहुत से मनुष्य होते हैं जिनको मताधिकार से इसलिये वंचित रखा जाता है कि वे इस अधिकार को प्रयोग में लाने के अयोग्य समझे जाते हैं। पागल और उन्मत्त मस्तिष्क वाले मनुष्यों को किसी भी देश में यह अधिकार नही दिया जाता, क्योंकि यह लोग अपनी अथवा समाज की भलाई का निर्णय नहीं कर सकते। इसी प्रकार नाबालिगों को भी यह अधिकार नहीं दिया जाता क्योंकि बाल्य अवस्था में मनुष्य की ज्ञानशक्ति पूर्ण रूप से विकसित नहीं हो पाती। संगीन जुर्मों में दंड पाये हुए लोगों को तथा चुनाव में अनुचित उपायों को काम में लाने वाले व्यक्तियों को भी मत देने के अधिकार से वंचित रखा जाता है। कुछ राज्यों में भिखमंगों, दिवालियों और बिना घर द्वार वाले इधर-उधर घूमने वाले लोगों को भी मत देने का अधिकार नहीं दिया जाता, क्योंकि उनमें पराावलम्बन प्रवृत्तियाँ रहती हैं। किसी-किसी राज्य में राज्य कर्मचारियों या सैनिक अथवा चुनाव के प्रबन्ध से सम्बन्ध रखने वाले व्यक्तियों को भी इस अधिकार के उपभोग से वंचित रखा जाता है।

जिन देशों में प्रजातांत्रिक संगठनों का पूर्ण विकास नहीं हुआ है वहाँ ऐसे लोगों को भी जो टैक्स नहीं देते अथवा जिनके पास कम सम्पत्ति होती है इस अधिकार से वंचित रखा जाता है। इसके अतिरिक्त अनागरिकों को किसी भी राज्य में मताधिकार नहीं दिया जाता।

वयस्क मताधिकार के लाभ—आजकल संसार के सभी प्रजातंत्र देशों में बालिग जनता को मत देने का अधिकार दिया जाता है। इसके अनेक कारण हैं :—

(१) सब मनुष्य समान हैं और सबको उसके व्यक्तित्व के विकास के लिए पूर्ण सुविधाओं की आवश्यकता रहती है। वयस्क मताधिकार मनुष्यों की इस आवश्यक समानता के सिद्धात को स्वीकार करता है तथा देश की सारी भी जनता को अपने व्यतित्व का पूर्ण विकास करने के लिए अवसर प्रदान करता है।

(२) नागरिक अधिकारों की रक्षा के लिए राजनैतिक अधिकारों का उपयोग अत्यन्त आवश्यक है। इसलिए मत देने का अधिकार राज्य के सभी नागरिकों को मिलना चाहिये जिससे वह राज्य के निर्णय को प्रभावित कर अपने अधिकारों की रक्षा कर सके। राज्य के क़ानूनों का सारी जनता की भलाई पर ही प्रभाव पड़ता है इसलिये सबको ही उसकी नीति के निर्धारित करने में भाग लेना चाहिए।

(३) चुनाव राजनैतिक जागृति उत्पन्न करने तथा सर्वसाधारण में राजनैतिक शिक्षा फैलाने के लिये एक सबसे उत्तम उपाय है। चुनाव लड़ने वाले दल मतदाताओं के सन्मुख विभिन्न राजनैतिक कार्यक्रम उपस्थित करके उनको शिक्षित बनाते हैं तथा उनमें राजनैतिक जाग्रति पैदा करते हैं।

(४) माताधिकार से मतदाताओं का स्वाभिमान बढ़ता है। जब शासन के महान् पुरुष उनके पास मत माँगने के लिये पहुँचते हैं तो वह अपने आप को गौरवान्वित समझते हैं।

(५) इससे राष्ट्र की शक्ति और एकता की वृद्धि होती है क्योंकि मताधिकार प्राप्त मनुष्य अपने राज्य के प्रति भक्ति तथा श्रद्धा का अधिक प्रदर्शन करता है, तथा राज्य की आज्ञाओं को अपनी ही आज्ञा का पालन समझता है।

(६) मताधिकार के अल्पसंख्यक लोगों को अपने अधिकारों की रक्षा करने का अवसर प्राप्त होता है।

हानियाँ—सर्वमताधिकार की संस्था से कुछ हानियाँ भी होती हैं इनमें से कुछ का वर्णन नीचे किया जाता है :

(१) अधिकतर मतदाता अशिक्षित और मूर्ख होते हैं। वह चुनाव में अपनी राय देते समय उम्मीदवार की जाति, सिद्धांत धर्म या पारिवारिक बन्धनों के विचारों से अधिक प्रभावित होते हैं। वह उनकी योग्यता की परख ठीक प्रकार नहीं कर सकते। उनके मस्तिष्क पर विभिन्न दलों के नारे, चित्ताकर्षक भाषा, चुनाव के लोकोक्तिक शब्दों इत्यादि का अधिक प्रभाव पड़ता है। क्योंकि वह राजनीति के व्यापक प्रश्नों पर विचार करने की क्षमता नहीं रखते।

(२) पूँजीपतियों के राज्यों में अधिकांश मतदाता निर्धन होते हैं इसलिए उनको धन के प्रलोभन से आसानी से ख़रीदा जा सकता है।

(३) शासन-सम्बन्धी प्रश्न अधिकाधिक जटिल होते जा रहे हैं। उन्हें साधारण मतदाता आसानी से नहीं समझ सकते। एक निर्धन व्यक्ति को अपने पेट के धन्धे से इतना अवकाश नहीं मिलता कि वह राजनैतिक प्रश्नों को समझने के लिए समय निकाल सके। इसलिए वह चुनाव में बुद्धिमत्तापूर्ण ढंग से राय नहीं दे सकता।

(४) मताधिकार, जैसा कि हम पहिले कह चुके हैं, केवल अधिकार ही नहीं वरन् एक पावन कर्तव्य है। इसका प्रयोग बड़ी सावधानी, बुद्धिमता, तथा विचार के साथ किया जाना चाहिए। इसलिए केवल

उन्हीं मनुष्यों को मताधिकार प्राप्त होना चाहिए जो सार्वजनिक हित का निर्णय कर सकें।

परिणाम—ऊपर जो युक्तियाँ प्रस्तुत की गई हैं वे वही हैं जो प्रजातन्त्र के विरुद्ध पेश की जाती हैं। इनका वर्णन राज्य के अध्याय में किया जा चुका है। थोड़ी देर के लिए यदि यह मान भी लिया जाय कि मताधिकार योग्यता की दृष्टि से दिया जाना चाहिए तो प्रश्न उठता है कि इस योग्यता की परीक्षा किस प्रकार की जाय? कुछ लोगों का कथन है कि केवल उन्हीं मनुष्यों को मताधिकार प्रदान करना चाहिए जो सम्पत्ति के मालिक हों और कर देते हों। अन्यान्य लोगों का विचार है कि केवल पुरुषों को ही मताधिकार दिया जाना चाहिए स्त्रियों को नहीं। इनके अतिरिक्त कुछ दूसरे लेखकों की धारणा है कि केवल शिक्षित लोगों को ही मताधिकार दिया जाना चाहिए, मूर्खों को नहीं। इसलिए हम सर्वप्रथम इन धारणाओं पर विचार करेंगे।

सम्पत्ति की योग्यता पर निर्धारित मताधिकार (Franchise based on property qualification)

मत के पक्ष में दलीलें—(१) जो लोग सम्पत्ति के मालिक होते हैं उन्हें समाज की व्यवस्था तथा शान्ति की अधिक चिन्ता होती है क्योंकि 'अराजकता फैलने में उनको ही सबसे अधिक हानि उठानी पड़ती है। जिन लोगों के पास अशान्ति से कुछ भी नष्ट होने के लिए नहीं है, उन्हें समाज की व्यवस्था की अधिक परवाह नहीं होती; इसलिए राजनैतिक जीवन को अच्छा बनाने के लिए यह आवश्यक है कि केवल सम्पत्ति की योग्यता रखने वाले लोगों को ही राजनैतिक अधिकार प्रदान किये जावें।

(२) जे. एस. मिल. (J. S. Mill) के कथनानुसार मताधिकार केवल उन मनुष्यों को मिलना चाहिए जो सरकार को किसी न किसी प्रकार से प्रत्यक्ष रूप में कर देते हों। ऐसे लोगों को जो किसी भी प्रकार

का कर नहीं देते, राज्य में राजनैतिक अधिकार नहीं दिये जाने चाहियें क्योंकि वह राज्य का कार्य चलाने में मितव्ययता से काम नहीं लेते।

मत के विरुद्ध दलीलें—(१) सम्पत्ति मनुष्य की योग्यता की कसौटी नहीं है। प्रायः धनवान मनुष्य बहुत बुद्धिमान नहीं होते और इसलिए उन्हें मताधिकार का कोई विशेष अधिकार नहीं दिया जाना चाहिए।

(२) अधिकांश परिस्थितियों में, सम्पत्ति अथवा वंश परम्परागत अधिकार बेईमानी, धोखा, तथा झूठ बोलकर प्राप्त की जाती है। ऐसे लोगों को मताधिकार प्रदान करना और उन दूसरे लोगों को इससे वंचित रखना, जो बेईमान पूँजीपतियों के चंगुल में फँसकर निर्धनता का शिकार बन जाते हैं, घोर अन्याय है।

(३) कर देने की क्षमता अधिकतर पूँजीपतियों में ही होती है इसलिए कर को मत देने की कसौटी बनाना उतना ही अन्यायपूर्ण है जितना केवल मालदार लोगों को मत देने का अधिकार प्रदान करना।

परिणाम—प्रत्येक राज्य का उद्देश्य समाज में शान्ति व्यवस्था, तथा सुरक्षा कायम करना होता है जिससे प्रत्येक मनुष्य अपने व्यक्तित्व का सर्वोच्च विकास कर सके। अतः प्रत्येक व्यक्ति को शान्ति और उन्नतिशील व्यवस्था की उतनी ही आवश्यकता रहती है जितनी कि उसके साथ रहने वाले अन्यान्य मानव प्राणियों को। फलस्वरूप, प्रत्येक मनुष्य को राजनैतिक अधिकार प्राप्त होने चाहिए।

शिक्षा सम्बन्धी योग्यता पर निर्धारित मताधिकार (Franchise based on Educational Qualifications)

मत के पक्ष में युक्तियाँ—(१) मत देने का अधिकार केवल शिक्षित मनुष्यों को ही होना चाहिए जिससे शासन का कार्य बुद्धिमत्तापूर्ण उपायों से चल सके। यदि अशिक्षित लोगों को यह अधिकार दिया गया

तो शासन की नीति मूर्खों और दुष्टों के हाथ में रहेगी और शासकों का चुनाव ठीक प्रकार से न किया जा सकेगा।

(२) अशिक्षित पुरुष प्रायः स्वभाव से ही भावुक होते हैं। वे बुद्धि से काम नहीं लेते।

(३) आधुनिक राज्य के प्रश्न इतने पेचीदा हैं कि उन्हें एक अशिक्षित और मूर्ख मतदाता आसानी से नहीं समझ सकता। इसी कारण जे० एस० मिल (J. S. Mill) ने इस बात पर ज़ोर दिया था कि सर्वमताधिकार का अधिकार देने के पहले जनता को सर्वशिक्षा दी जानी आवश्यक है।

मत के विरुद्ध दलीलें—(१) यद्यपि यह बात सच है कि मताधिकार के उचित प्रयोग के लिए एक विशेष सीमा तक शिक्षा की आवश्यकता है, परन्तु व्यवहारिक रूप में यह निश्चित करना बहुत कठिन है कि शिक्षित किस मनुष्य को कहा जाय। क्या एम० ए० अथवा बी० ए० अथवा मैट्रिक अथवा मिडिल पास लोगों को शिक्षित समझना चाहिए? केवल लिखना-पढ़ना शिक्षा नहीं है। यह केवल उसकी नींव है। राज्य के राजनैतिक प्रश्नों को मामूली तौर पर समझ लेने की योग्यता, साधारण बुद्धि रखने वाले अशिक्षित लोगों में भी हो सकती है।

(२) परीक्षा की उपाधियाँ मनुष्य की बुद्धिमता या योग्यता की कोई कसौटी नहीं है। कभी कभी, अकबर के समान अशिक्षित और अपठित लोग, विश्वविद्यालय की सर्वोच्च उपाधि प्राप्त पुरुषों की अपेक्षा अधिक निपुण शासक और राजनीतिज्ञ सिद्ध हो सकते हैं।

(३) राजनैतिक अधिकार नागरिक अधिकारों की रक्षा तथा व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए आवश्यक हैं। यदि अशिक्षित मनुष्यों को यह अधिकार नहीं दिया जाता तो वह अपने व्यक्तित्व की उन्नति नहीं कर सकते।

(४) मत के अधिकार का प्रयोग करना ही राजनैतिक शिक्षा का एक प्रधान साधन है और इससे राजनैतिक जागृति उत्पन्न होती है। इसलिए अशिक्षित लोगों को राजनैतिक शिक्षा प्रदान करने के लिए मताधिकार देना नितान्त आवश्यक है।

परिणाम—दोनों पक्षों की युक्तियों पर ध्यान देने से मालूम पड़ता है कि वास्तव में ऐसे सभी नागरिकों को जिनमें साधारण बुद्धि हो तथा जो राजनैतिक प्रश्नों पर विचार करने की साधारण क्षमता रखते हों, राजनैतिक अधिकार मिलने चाहिएँ।

महिला मताधिकार (Women Suffrage)

मत के विरुद्ध युक्तियाँ—(१) स्त्रियाँ शारीरिक शक्ति में पुरुषों की अपेक्षा दुर्बल होती हैं। पुरुषों के समान राज्य की राजनैतिक सेवा नहीं कर सकतीं। इसलिए उन्हें पुरुषों के समान मत देने का अधिकार नहीं दिया जाना चाहिए।

(२) किसी विशेष उम्मीदवार को मत देने के सम्बन्ध में पति और पत्नी के बीच अथवा माता और सन्तान के बीच मतभेद हो जाने का डर रहता है और इससे गार्हस्थ्य जीवन की शान्ति भंग होने की सम्भावना रहती है।

(३) महिलाओं का उचित कार्यक्षेत्र घर है। उनका मुख्य काम सन्तान का पालन-पोषण करना, तथा अन्य घरेलू कार्यों की देखभाल करना है। यदि वे राजनैतिक कार्यों में भाग लेने लगेंगी तो अपनी सन्तान का उचित पालन-पोषण न कर सकेंगी, और इस प्रकार मानव जाति का अधःपतन हो जायगा।

(४) मताधिकार द्वारा स्त्री जाति के विशेष गुणों जैसे लज्जा, शीलता, कोमलता इत्यादि का नाश हो जाता है। राजनैतिक जीवन एक काँटों भरा मार्ग है जिस पर एक कोमलांगी स्त्री पदार्पण नहीं कर सकती।

मत के पक्ष में युक्तियाँ (Arguments in favour)—(१) शारीरिक दुर्बलता से स्त्रियों के मानसिक और नैतिक गुणों का अपहरण

नहीं होता और मत की योग्यता निश्चित करने के लिए यही गुण सच्ची कसौटी समझे जाते हैं। इसलिए शारीरिक दुर्बलता का बहाना लेकर स्त्रियों को मताधिकार से वंचित नहीं करना चाहिए।

(२) किसी भी मनुष्य को राजनैतिक अधिकारों के उपभोग के अयोग्य सिद्ध करने के लिए यह आवश्यक है कि उसके मस्तिष्क या बुद्धि में कोई त्रुटि सिद्ध की जाय। स्त्रियों में पुरुषों के समान ही बुद्धि होती है। उनका अपना अलग व्यक्तित्व होता है जिसका विकास उतनाही आवश्यक है जितना एक पुरुष का। व्यक्तित्व के विकास के लिए राजनैतिक अधिकारों की प्राप्ति नितान्त आवश्यक है। इसलिए पुरुष और स्त्री दोनों को ही समान राजनैतिक अधिकार प्रदान होने चाहिएँ।

(३ राजनैतिक अधिकार एक साधन हैं जिसके द्वारा अन्यान्य अधिकारों की रक्षा की जा सकती है। इसलिए स्त्रियों को अपने नागरिक अधिकारों की रक्षा के लिये राजनैतिक अधिकार अवश्य प्रदान किये जाने चाहिएँ। इन्हीं अधिकारों के द्वारा वह समाज में अपना उत्थान कर सकती हैं तथा पुरुषों के अन्याय और शोषण से छुटकारा पा सकती हैं।

(४) स्त्रियों के प्रभाव से राज्य के राजनैतिक जीवन में माधुर्य आ जाता है। स्त्रियाँ अपने प्रेम और सहानुभूति की भावना से युद्ध और संघर्ष को मिटाकर एक सच्चे नागरिक की जीवन स्थापना कर सकती हैं।

परिणाम—आधुनिक समय में अधिकतर मनुष्यों की यही धारणा है कि सभी मनुष्यों को चाहे वे पुरुष हों अथवा स्त्री मताधिकार दिया जाना चाहिये। दुनिया के प्रायः सभी सभ्य देशों में अब स्त्रियों को पुरुषों के समान ही राजनैतिक अधिकार प्रदान किये जाते हैं। भारतवर्ष के भी नये विधान के अधीन स्त्रियों को भी पुरुषों के समान मत देने का अधिकार दे दिया गया है।

गुप्तमत प्रदान प्रथा (Ballot System of Voting) - यह वह तरीक़ा है जिसके द्वारा मतदाता अपने पसन्द किये हुए उम्मीदवार

के पक्ष में गुप्त रीति से अपना मत प्रदान करते हैं। गुप्तमत प्रदान प्रथा की व्यवस्था इस प्रकार होती है। प्रत्येक मतदाता को राय देने के समय एक मत-पत्र (Ballot paper) दे दिया जाता है। इस मत पत्र पर उन उम्मीदवारों के नाम लिखे होते हैं जो चुनाव में खड़े होते हैं। मतदाता इन नामों में से उन नामों के सामने ऐसा (X) निशान लगा देता है जिनको वह अपनी राय देना चाहता है। इसके पश्चात् वह इस मत-पत्र को मोड़कर एक बन्द पेटी के अन्दर डाल देता है। इस प्रकार जब सब मतदाता अपनी राय दे चुकते हैं तो चुनाव के निश्चित समय की समाप्ति के बाद पेटियाँ खोली जाती हैं। प्रत्येक उम्मीदवार के पक्ष में दिये गये मत गिने जाते हैं। जिन उम्मीदवारों के पक्ष में सबसे अधिक वोट निकलते हैं उन्हें निर्वाचित घोषित कर दिया जाता है। जिस अफ़सर के निरीक्षण में मत गिने जाते हैं उसे रिटर्निंग आफीसर (Returning Officer) कहा जाता है। मत गिनने वाले तथा चुनाव का निरीक्षण करने वाले अफसरों को पोलिंग आफीसर Polling Officer कहा जाता है। जिस स्थान पर चुनाव का कार्य होता है उसे निर्वाचन स्थान या (Polling Station) कहा जाता है।

§ २. निर्वाचन के तरीके (Methods of Election)

निर्वाचन क्षेत्रों से प्रतिनिधि चुने जाने के कई तरीक़े हैं इनमें से एक तरीक़े को "एक सदस्य निर्वाचन क्षेत्र प्रथा" (Single Member Constituency System), और दूसरे को "बहु सदस्य निर्वाचन क्षेत्र प्रथा" (Multimember Constituency System) कहा जाता है।

एक सदस्य निर्वाचन क्षेत्र प्रथा—चुनाव की इस व्यवस्था के अधीन सम्पूर्ण देश छोटे-छोटे चुनाव क्षेत्रों में बाँट दिया जाता है। प्रत्येक क्षेत्र से व्यवस्थापिका सभा के लिए एक सदस्य चुना जाता है। इस प्रथा में प्रत्येकमतदाता को केवल एक वोट देने का अधिकार होता है। चुनाव

के समय बहुत से उम्मीदवार, अपने कार्यक्रम के बल पर, जनता से अपने लिए राय माँगते हैं। जिस उम्मीदवार को भी चुनाव में सबसे अधिक राय मिलती है उसे निर्वाचित घोषित कर दिया जाता है।

बहुसदस्य निर्वाचन क्षेत्र प्रथा—चुनाव की इस व्यवस्था के अधीन सारा देश कुछ थोड़े से बड़े-बड़े निर्वाचन क्षेत्रोंमें बाँट दिया जाता है। प्रत्येक चुनाव क्षेत्र से एक से अधिक सदस्य व्यवस्थापिका सभा के लिए चुने जाते हैं। चुनाव में बहुत से उम्मीदवार भाग लेते हैं। इस प्रथा के अन्तर्गत मतदाताओं को उतने ही वोट देने का अधिकार होता है जितने सदस्य उस क्षेत्र से चुने जाने होते हैं। उदाहरणार्थ यदि किसी निर्वाचन क्षेत्र से तीन सदस्य चुनने हैं तो प्रत्येक मतदाता तीन वोट दे सकता है। यह मत वह किन्हीं तीन उम्मीदवारों के पक्ष में दे सकता है। परन्तु तीनों या एक से अधिक मत एक उम्मीदवार के पक्ष में नहीं।

उपरोक्त प्रथाओं से लाभ तथा हानि

आधुनिक काल में उपरोक्त दोनों प्रथायें व्यवस्थापिका सभा के चुनाव में काम में लाई जाती हैं। इन प्रथाओं का सबसे बड़ा गुण यह है—(१) यह बहुत सरल है कोई भी मनुष्य इन्हें आसानी से समझकर अपनी राय दे सकता है। (२) इन प्रथाओं के अधीन प्रतिनिधि तथा उसके निर्वाचकों में घनिष्ठ सम्बन्ध कायम रहता है। (३) इन प्रथाओं के अधीन अल्पसंख्यक जातियों को आसानी से प्रतिनिधित्व मिल सकता है। निर्वाचन क्षेत्रों का बँटवारा इस प्रकार किया जाता है कि यदि कुछ क्षेत्रों में बहुसंख्यक जाति के निर्वाचक अधिक होते हैं तो दूसरे क्षेत्रों में अल्पसंख्यक जातियों के।

इन प्रथाओं से कुछ हानियाँ भी हैं जैसे—(१) बहुसदस्य निर्वाचन क्षेत्रों में प्रतिनिधि और उसके निर्वाचकों का घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं रह सकता। यह क्षेत्र इतने बड़े होते हैं कि एक प्रतिनिधि के लिए यह संभव नहीं कि वह अपने सारे निर्वाचकों से सम्बन्ध बनाए रख सके। (२) दूसरे

इन प्रथाओं के अधीन मतों की एक बहुत बड़ी संख्या बेकार चली जाती है। एक उदाहरण से हमारा यह मत बिल्कुल स्पष्ट हो जाएगा।

मान लीजिए एक निर्वाचन क्षेत्र में ४०० मतदाता हैं और उस क्षेत्र से केवल एक उम्मीदवार निर्वाचित करना है, अब मान लीजिए कि इस क्षेत्र से ५ उम्मीदवार 'अ'. 'ब', 'स', 'द', और य' खड़े होते हैं। राय गिनने पर मालूम पड़ता है कि 'अ' को १२५ मत 'ब' को १०० मत, 'स' को ७५ मत 'द' को ६० मत और य' को ४० मत मिलते हैं। ऐसी अवस्था में 'अ' को सफल उम्मीदवार घोषित कर दिया जायगा यद्यपि उसे ४०० में से केवल १२५ मत ही प्राप्ति हुए हैं। इस प्रकार २७५ राय बेकार चली जाती हैं और इन राय देने वालों को किसी प्रकार का भी प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं होता।

(३) तीसरे, इन प्रथाओं के अधीन उन अधिकारियों के हाथ में जिन्हें निर्वाचनक्षेत्र बनाने का अधिकार प्राप्त होता है, बहुत अधिक ताक़त आ जाती है। यह लोग यदि चाहें तो अल्पसंख्यक जातियों के प्रतिनिधित्व को बिल्कुल समाप्त कर सकते हैं। अँग्रेजी में इस विधि को (Gerrymandering) कहा जाता है।

३. अल्पसंख्यक जातियों के प्रतिनिधित्व का प्रश्न

हम ऊपर देख चुके हैं कि "एक तथा बहुसदस्य निर्वाचन क्षेत्र प्रथा" के अधीन अल्पसंख्यक जातियों को देश की व्यवस्थापिका सभा में उचित प्रतिनिधित्व नहीं मिल पाता। यह प्रतिनिधित्व अल्पसंख्यक जातियों के धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा राजनैतिक अधिकारों एवम् हितों की रक्षा के लिए आवश्यक है। प्रत्येक देश की व्यवस्थापिका सभा को उसकी जनता का सच्चा प्रतिनिधित्व करना चाहिए। इसके लिए यह आवश्यक है कि वह राज्य के अन्तर्गत रहने वाले सभी दलों, जातियों एवम् हितों का, उनकी गणना के हिसाब से, प्रतिनिधित्व प्रदान करे।

अल्पसंख्यक जातियों एवम् हितों को वर्तमान राज्यों में प्रतिनिधित्व देने के अनेक उपाय काम में लाये जाते हैं। इन उपायों में निम्नलिखित अधिक प्रसिद्ध हैं :—

१. अनुपातिक निर्वाचन प्रथा (Proportional Representation or Hare's plan).

२. सूची प्रथा या दलों के आधार पर अनुपातिक निर्वाचन प्रथा (General List System).

३. सीमित मत प्रथा (Limited Vote System).

४. "एकत्रित मतदान प्रथा" (Cumulative Vote System).

५. प्रथक निर्वाचन प्रथा (Separate Electorate System).

६. सुरक्षित स्थान युक्त संयुक्त निर्वाचन प्रणाली (Joint (Electorate with reservation of seats).

अनुपातिक निर्वाचन-पद्धति

इस प्रथा का सर्वप्रथम प्रवर्त्तक इङ्गलैण्ड का एक प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ टामस हेयर (Thomas Hare) था। इस ही कारण से इस प्रथा को Hare's Scheme भी कहा जाता है। इस प्रथा का सर्वप्रथम प्रयोग डैनमार्क में किया गया था। आज-कल यह प्रथा अत्यन्त लोक प्रिय हो गई है और किसी न किसी रूप में, इसका प्रयोग, प्रायः प्रत्येक देश में ही किया जाता है। इस प्रथा के अधीन देश को बहुसंख्याधारी निर्वाचन क्षेत्रों में विभाजित किया जाता है। प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र से कम से कम तीन प्रतिनिधि चुने जाते हैं, परन्तु मतदाताओं को केवल एक ही मत देने का अधिकार दिया जाता है।

इस चुनाव प्रणाली का विस्तृत वर्णन इस प्रकार है, मान लीजिए किसी एक क्षेत्र से ५ सदस्य चुने जाने हैं। इस क्षेत्र में जितने चाहें

उम्मीदवार खड़े हो सकते हैं। परन्तु प्रत्येक मतदाता को केवल एक ही राय देने का अधिकार होगा। हाँ एक बात अवश्य है कि मतदाता राय देते समय मत-पत्र पर, उम्मीदवारों के नामों के सामने १, २, ३, ४, ५, इत्यादि संख्याएँ लिख सकता है। इन संख्याओं के लिखने का अर्थ यह होता है कि मतदाता सबसे अधिक उस उम्मीदवार को चाहता है जिसके नाम के सामने वह (१) का अङ्क लिखता है परन्तु मतदाता दूसरे नामों के सामने २, ३, ४, इत्यादि अंक लिखकर यह प्रदर्शित करता है कि यदि उसका १ नम्बर वाला उम्मीदवार न चुना जा सके तो उसका मत उस उम्मीदवार के नाम में परिवर्तित कर दिया जाय कि जिसके नाम के सामने उसने २) लिखा है और यदि वह भी असफल रहे तो वह मत उस उम्मीदवार के नाम में बदल दिया जाय जिसके सामने उसने (३) लिखा है, आदि। वोट पड़ चुकने के बाद अशुद्ध वोट छाँटकर अलग कर दिये जाते हैं और शुद्ध वोटों की संख्या गिन ली जाती है। इस संख्या को चुने जाने वाले सदस्यों की संख्या में १ जोड़कर फिर उससे विभाजित करते हैं। भागफल 'चुनाव अङ्क' (Electoral Quota) कहलाता है। यदि भागफल पूर्ण संख्या न हो तो उसे पूरी कर लेते हैं जैसे ५० = १/८/ को ५१ मान लेते हैं। इसके बाद प्रत्येक उम्मीदवार के सर्वप्रथम चुनाव (First choice) वाले मत छाँट लिए जाते हैं। जिस उम्मीदवार को 'चुनाव अङ्क' के बराबर वोट मिल जाते हैं उसे निर्वाचित घोषित कर दिया जाता है। अब यदि किसी उम्मीदवार के पक्ष में प्रथम चुनाव वाले 'चुनाव अङ्क' से अधिक वोट मिले हों तो उसके फाज़िल वोट ऊपर लिखी हुई (२) संख्या के अनुसार बाकी उम्मीदवारों के नाम बाँट दिए जाते हैं। इसके बाद मत फिर गिने जाते हैं और अब यदि किसी के वोटों की संख्या चुनाव अङ्क के बराबर आ गई है तो उसे भी निर्वाचित घोषित कर दिया जाता है। यदि इस प्रकार उम्मीदवारों की निश्चित संख्या चुन ली जाती है तो ठीक है

अन्यथा ऐसा किया जाता है कि जिस उम्मीदवार को सबसे कम वोट मिलते हैं उसे असफल घोषित करके उसके वोट (२) संख्या के अनुसार अन्य उम्मीदवारों को बाँट दिये जाते हैं और इस प्रकार जब तक उम्मीदवारों की निश्चित संख्या नहीं चुन ली जाती तब तक इसी क्रम को दोहराया जाता है। निम्नलिखित उदाहरण से यह निर्वाचन-पद्धति बिल्कुल स्पष्ट हो जाएगी।

मान लीजिए किसी निर्वाचन क्षेत्र से पाँच सदस्य चुने जाने हैं और उस क्षेत्र से ९ उम्मीदवार खड़े होते है। अब यह भी मान लो कि इस क्षेत्र में १२० मतदाताओं ने वोट दिए जिनमें से ४ अशुद्ध निकल आये बाक़ी ११६ शुद्ध वोट पड़े। अब सबसे पहिले निर्वाचन अङ्क निकाला गया जो कि $\frac{११६}{५+१}$ अर्थात् $१९\frac{२}{६}$ अर्थात् २० हुआ

अब मतों की गणना से मालूम हुआ कि ९ उम्मीदवारों के पक्ष में इस प्रकार वोट आए* ।

उम्मेदवारों के नाम	प्रथम चुनाव वाले वोटों की गणना	य के फाजिल वोटों का परिवर्तन	परिणाम	स के वोटों का परिवर्तन	परिणाम	क के वोटों का परिवर्तन	परिणाम	च के वोटों का परिवर्तन	परिणाम	ह के वोटों का परिवर्तन	अन्तिम परिणाम	—
१—अ	१२	+ १	१३	+ १	१४	×	१४	+६	२०	×	२०	निर्वाचित
२ ब	१३	+ १	१४	×	१४	+[illegible]	१९	×	१९	+१	२०	निर्वाचित
३ स	२	×	२	— २	×	×	×	×	×	×	×	
४ द	१७	+ ३	२०	×	२०	×	२०	×	२०	×	२०	निर्वाचित
५ य	३०	— १०	२०	×	२०	×	२०	×	२०	×	२०	निर्वाचित
६ ह	१५	×	१५	×	१५	×	१५	+१	१६	—१६	×	
७ ल	१५	+ १	१६	×	१६	+[illegible]	१७	+१	१८	+२	२०	निर्वाचित
८ क	४	+ ४	८	×	८	—[illegible]	×	×	×	×	×	
९ च	८	×	८	×	८	×	८	—८	×	×	×	
बेकार वोट	×	×	×	१	१	+२	३	×	३	+१३	१६	—
शुद्ध वोटों की कुल संख्या	११६	×	११६	×	११६	×	११६	×	११६	×	११६	—

*यह कोष्ट Hogg and Hallet की Proportional Representation नामक पुस्तक में जिसका उल्लेख महादेवप्रसाद शर्मा ने अपनी पुस्तक Elements of Civics में किया है लिया गया है ।

सबसे पहिले प्रत्येक उम्मीदवार के प्रथम चुनाव वाले वोट छाँटे गये। इस गणना का परिणाम उपरोक्त तालिका की पहिली पंक्ति में लिखा है। इसे देखने पर मालूम होता है कि केवल 'य' को निर्वाचन अंक से अधिक वोट मिले हैं। बाक़ी सभी वोट कम हैं। अब 'य' को तुरन्त निर्वाचित घोषित कर दिया गया, परन्तु अभी चार सदस्य चुनने शेष रहे। 'य' के बाक़ी १० फ़ाजिल वोट न० (२) उम्मीदवारों के नाम बदल दिये गये यहाँ प्रश्न उठता है कि 'य' के ३० वोटों में से कौन से १० परिवर्तित किये जायँ। इसके लिए दो तरीक़े काम में लाये जाते हैं—या तो सब वोटों को एक ढेरी में खूब उलट-पुलट करके उसमें से कोई १० वोट निकाल लिए जाते हैं या फिर सब वोटों में से पहिला, तीसरा, पाँचवाँ इत्यादि वोट ले लिये जाते हैं। यही नियम आगे भी माना जाता है। 'य' के दस वोटों के परिवर्तन से जो परिणाम हुआ वह ऊपर की तालिका की दूसरी पंक्ति में लिखा है। जिनको इस परिवर्तन में कुछ भी नहीं मिला उनके नाम के आगे यह चिन्ह (×) लगा दिया गया है। पंक्ति नं० ३ में इस परिवर्तन का परिणाम दिया गया है, इसे देखने से मालूम पड़ता है कि 'द' जिसे १७ वोट पहिले ही मिल चुके थे उसे तीन और मिल गये, और इस प्रकार वह भी निर्वाचित हो गया। अब देखा गया कि फ़ाज़िल वोट किसी के नहीं रहे इसलिये जिसके सबसे कम वोट थे, अर्थात् 'स' के दोनों वोट, दूसरों को दे दिये गये। उसका परिणाम पंक्ति नं० ५ में दिया गया है। जब इससे भी कुछ लाभ न हुआ तो 'क' के ८ वोट दूसरों को बाँट दिये गये। इसका परिणाम पंक्ति न० ७ में दिया गया है। इस परिवर्तन से भी किसी का चुनाव अङ्क पूरा नहीं हुआ इसलिए 'च' के वोट भी दूसरों को बाँट दिये गये। इससे 'अ' का चुनाव अंक पूरा हो गया और वह भी निर्वाचित घोषित कर दिया गया। परन्तु अभी भी २ सदस्य चुनने बाकी रह गये; इसलिए 'ह' के वोट भी दूसरों को बाँट दिये गये। इसका फल यह हुआ कि 'ब' और 'ल' भी निर्वाचित हो गये।

अब पाँचों सदस्य निर्वाचित हो गये और चुनाव समाप्त हो गया। कभी-कभी इन परिवर्तनों में ऐसा होता है कि परिवर्तित होने वाले वोटों पर (२) ऐसे उम्मीदवारों के नाम के सामने लिखा होता है जो या तो निर्वाचित हो चुके हैं या असफल घोषित कर दिये गये हैं। इस दशा में यह वोट बेकार हो जाते हैं।

उपरोक्त निर्वाचन-पद्धति का हमारे देश में भी प्रचार है। इस ही पद्धति के अनुसार प्रान्तीय कांग्रेस कमेटियाँ "आलइण्डिया कांग्रेस कमेटी" के सदस्यों का चुनाव करती हैं। भारतीय विधान परिषद् के सदस्यों का चुनाव भी इस ही रीति से हुआ था।

प्रथा से लाभ तथा हानि

इस प्रथा से लाभ यह हैं—(१) इस प्रथा के अन्तर्गत सब दलों को धारा सभा में आनुपातिक प्रतिनिधित्व मिलता है। (२) कोई भी मत व्यर्थ नहीं जाता। (३) राष्ट्रीय ख्याति के व्यक्ति पहिले चुने जाते हैं और इससे धारा सभा का धरातल ऊँचा उठ जाता है। (४ इससे धारा सभा में किसी एक पार्टी का आधिपत्य नहीं रहता।

इस प्रथा से हानियाँ यह हैं: (१) यह एक बड़ी पेचीदा प्रथा है और सर्वसाधारण की समझ से बाहर है। (२) यह धारा सभा में बहुत से अल्प-मत दलों के प्रतिनिधित्व को प्रोत्साहन देती है जिससे सरकार अस्थायी हो जाती है। (३) यह बहुमत दल को इस बात का अधिकार प्रदान नहीं करती कि वह छोटे दलों के सदस्यों को अपनी ओर मिला सके, और (४) चौथे यह प्रथा उपचुनाव के समय लागू नहीं हो सकती।

सूची प्रथा (The List System)—इस प्रथा के अनुसार सारा देश एक ही निर्वाचन क्षेत्र माना जाता है। देश के चुनाव व्यक्तिगत रूप से नहीं वरन् दलबन्दी के आधार पर लड़े जाते हैं। राय देते समय मतदाता एक दल के सारे ही उम्मीदवारों को राय देते हैं। वह ऐसा नहीं कर सकते कि आधी राय एक दल के पक्ष में और बाकी राय दूसरे दल के

पक्ष में दें। विभिन्न दलों के पक्ष में आई हुई तमाम राय चुनाव के समाप्त होने के पश्चात् गिन ली जाती हैं और फिर इन मतों के अनुपात से विभिन्न राजनैतिक दलों को उतने ही स्थान दे दिये जाते हैं। उदाहरण के लिये मान लीजिए किसी देश में 'अ', 'ब' और 'स' तीन दल हैं। इन दलों के चुनाव में इस प्रकार वोट मिलते हैं।

'अ' को ५,०००, 'ब' को ४०००, और 'स' को १,०००, यदि उस देश की धारा सभा में चुने जाने वाले उम्मीदवारों की कुल संख्या १०० है तो 'अ' को ५० स्थान, 'ब' को ४० और 'स' को १० स्थान प्राप्त होंगे। इन स्थानों में उम्मीदवारों को निर्वाचित घोषित किया जाता है जिनके नाम पार्टियों की फेहरिस्त में सबसे ऊपर होते हैं।

प्रथा से लाभ तथा हानि

इस प्रथा से लाभ यह है कि (१) यह अत्यन्त सरल है, (२) कम खर्चीली है तथा (३ देश की दलबन्दी प्रथा को स्वीकार करती है और अलग-अलग व्यक्तियों को चुनाव में खड़े होने से रोकती है; परन्तु इस प्रथा का सबसे बड़ा दोष यह है कि यह (१) एक बड़े देश में अव्यवहारिक साबित होती है तथा (२) इसमें निर्वाचक और निर्वाचित में किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं स्थापित होने पाता, (३) इसके अतिरिक्त इस प्रथा में निर्वाचित सदस्य किसी भी क्षेत्र विशेष के प्रति अपनी ज़िम्मेदारी नहीं समझते।

सीमित मत-प्रथा (Limited Vote System)

इस प्रथा के अन्तर्गत देश बहुत से सदस्यों वाले निर्वाचन क्षेत्रों में बाँट दिया जाता है। प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र से कम से कम ३ उम्मीदवार चुने जाते हैं। प्रत्येक मतदाता को उम्मीदवारों की निश्चित संख्या से कुछ कम राय देने का अधिकार दिया जाता है। उदाहरणार्थ यदि किसी निर्वाचन क्षेत्र से तीन उम्मीदवार चुने जाते हैं तो लोगों को

केवल दो राय देने का अधिकार होगा जिससे कम से कम एक सदस्य अल्पसंख्यक जाति का भी चुना जा सके।

एकत्रित मतदान प्रथा (Cumulative Vote System)

इस प्रथा के अन्तर्गत भी बहुनिर्वाचन क्षेत्र होते हैं। प्रत्येक मतदाता को उतने ही मत देने का अधिकार दिया जाता है जितने कि किसी क्षेत्र से उम्मीदवार चुने जाने होते हैं। परन्तु इसमें साथ ही मतदाताओं को यह भी अधिकार रहता है कि वे यदि चाहें तो अपने सारे या कुछ कम वोट एक ही उम्मीदवार को दे सकते हैं। इस प्रथा द्वारा अल्पसंख्यक जातियों को इस बात का अवसर मिल जाता है कि वे अपने सारे मत एक ही उम्मीदवार के हक़ में डालकर उसे निर्वाचित करा लें।

इस प्रथा में दोष यह है कि प्रख्यात उम्मीदवार कभी कभी आवश्यकता से अधिक मत प्राप्त कर लेते हैं और इससे बहुत से मत बेकार चले जाते हैं। इसके अतिरिक्त इस प्रथा के अन्तर्गत कभी-कभी अल्पसंख्यक दल अनुपात से भी अधिक प्रतिनिधित्व प्राप्त कर लेते हैं।

पृथक् निर्वाचन-पद्धति (Separate Electorate System)

अंग्रेजों के काल में निर्वाचन की यह पद्धति हिन्दुस्तान में प्रचलित थी। इस प्रणाली के अन्तर्गत विभिन्न जातियों के मतदाताओं की अलग-अलग सूचियाँ बनाई जाती हैं। निर्वाचन क्षेत्र धार्मिक विश्वास के आधार पर बनाये जाते हैं अर्थात् हिन्दू के लिए अलग, मुसलमानों के लिए अलग, सिक्खों के लिए अलग और इसी प्रकार धारा सभा में विभिन्न जातियों के सदस्यों की पहले से ही संख्या निश्चित कर दी जाती है। चुनाव में एक जाति के लोग दूसरी जाति के उम्मीदवार के लिए वोट नहीं दे सकते अर्थात् हिन्दू हिन्दुओं के लिए, मुसलमान मुसलमानों के लिए और सिक्ख सिक्खों के लिए राय देते हैं।

दोष—यह प्रथात्यन्त दोषपूर्ण है (१) यह सभी उत्तम राजनैतिक सिद्धान्तों के विरुद्ध है। (२ यह राष्ट्रहीनता और पृथकत्व की भावना जाग्रत करती है। इस ही प्रणाली के कारण आज भारतवर्ष दो टुकड़ों में बँट गया है। (३) यह प्रणाली केवल चुनाव के ही क्षेत्र तक सीमित नहीं रहती वरन् नौकरियों, व्यापार और लाभ के दूसरे स्थानों में भी पैर फैलाने लगती है। (४) यह एक संक्रामक बीमारी की तरह बढ़ती है। यदि एक जाति को पृथक् चुनाव का अधिकार दे दिया जाय तो दूसरी सभी जातियाँ वैसा ही अधिकार माँगने लगती हैं। (५) इससे सहयोग, प्रेम तथा सहानुभूति की भावना नष्ट होकर विभिन्न जातियों के बीच वैमनस्य पैदा हो जाता है। (६) इससे साम्प्रदायिकता का विष फैलता है और राजनैतिक नेता लोकप्रियता प्राप्त करने के लिए जातीयता की तरंगों में बह जाते हैं। ७) धारा सभा में पृथक् निर्वाचन के सिद्धांत पर चुने हुए सदस्य, राष्ट्रीय हित की बातें नहीं सोचते वरन् संकुचित जातीय हितों की रक्षा करना अपना पेशा बना लेते हैं। (८ इस प्रथा से कभी भी देश में एक उत्कट राष्ट्रीय भावना का जन्म नहीं होता। (९) यह प्रथा बिल्कुल अराष्ट्रीय और प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों के विरुद्ध है। (१०) यह आर्थिक तथा राजनैतिक कार्यक्रम के आधार पर दलबन्दी को असम्भव बना देती है।

निष्कर्ष—इस प्रकार हम देखते हैं कि पृथक् निर्वाचन-पद्धति राष्ट्रीय हितों के लिए अत्यन्त घातक है। हमारे स्वतन्त्र भारत की प्रथम राष्ट्रीय सरकार ने इस ही लिए सबसे पहिले इस विषैली प्रथा का अन्त करने का निश्चय किया है।

सुरक्षित स्थानयुक्त संयुक्त निर्वाचन-प्रणाली (Joint Electorate with Reservation of Seats)

इस प्रथा के अन्तर्गत व्यवस्थापिका सभा में अल्पसंख्यक जातियों के स्थान विधान द्वारा निश्चित कर दिये जाते हैं परन्तु विभिन्न जातियों के

सदस्यों के लिए पृथक् निर्वाचन-क्षेत्र नियत नहीं किये जाते। इस प्रकार यह प्रथा अल्पसंख्यक जातियों के अधिकारों की रक्षा करने के अतिरिक्त पृथक् निर्वाचन-प्रणाली के सब दोषों को दूर कर देती है। इस प्रथा में हिन्दू मुसलमानों को तथा मुसलमान हिन्दुओं को अपने मत देते हैं। केवल वही सदस्य धारा सभा में जाते हैं जिन्हें सब जातियों का विश्वास प्राप्त हो। इस प्रकार इस प्रथा से राष्ट्रीय एकता और सामाजिक दृढ़ता की नींव पड़ती है।

अल्पसंख्यक जातियों की हित-रक्षा के लिए एक दूसरा साधन भी कभी-कभी काम में लाया जाता है और वह यह कि विधान में एक ऐसी शर्त रखी जाती है जिससे विभिन्न जातियों के प्रचलित अधिकारों और रीति-रिवाज़ों के विरुद्ध व्यवस्थापिका सभा में उस समय तक कोई क़ानून मंजूर नहीं किया जा सकता, जब तक धारा सभा में उस जाति के दो-तिहाई सदस्य उसे स्वीकार न कर लें। भारत के नये विधान में, हरिजनों तथा पिछड़े हुये सिखों को छोड़कर बाकी अल्पसंख्यक जातियों के लिये प्रथक् निर्वाचन तथा सुरक्षित स्थान की प्रथा का अंत कर दिया गया है।

प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष चुनाव (Direct Vs. Indirect Election)

निर्वाचन-पद्धति के विषय में दो तरीक़ों का वर्णन कर देना भी यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है। इनमें से एक तरीक़े को प्रत्यक्ष चुनाव प्रथा तथा दूसरे को अप्रत्यक्ष चुनाव प्रथा कहा जाता है।

प्रत्यक्ष चुनाव प्रथा—यह वह प्रथा है जिसमें मतदाता प्रत्यक्ष रूप से अपने प्रतिनिधियों को चुनते हों। यह तरीका प्रायः सभी देशों में प्रचलित है। मताधिकारी ही अपनी इच्छानुसार उम्मीदवारों को वोट देते हैं और जिन्हें अधिक वोट मिलते हैं वे प्रतिनिधि चुन लिए जाते हैं।

अप्रत्यक्ष चुनाव—इस तरीके के अन्तर्गत मतदाता धारा सभा के लिए प्रतिनिधियों को प्रत्यक्ष रूप से नहीं चुनते बल्कि एक माध्यमिक संस्था के द्वारा चुनते हैं। इस निर्वाचन-प्रणाली में दो बार चुनाव होता है, एक बार माध्यमिक संस्था के लिए जिसके ५०-६० या १०० सदस्य होते हैं और फिर धारा सभा के लिए जिसके सदस्यों का चुनाव माध्यमिक संस्था के ५०-६० या १०० सदस्य करते हैं। रूस में यह प्रथा प्रचलित है। हमारे देश की विधान परिषद् के सदस्य भी इस ही प्रणाली से प्रान्तीय धारा सभाओं द्वारा चुने गये थे। अमेरिका में सभापति का चुनाव भी इसी प्रणाली से होता है।

गुण और दोष—प्रत्यक्ष चुनाव प्रथा के गुण यह हैं कि इसके अन्तर्गत जनता का धारा सभा में अधिक विश्वास रहता है। प्रतिनिधि अपने आपको मतदाताओं के प्रति उत्तरदायी समझते हैं तथा इससे जनता का राजनैतिक ज्ञान बढ़ता है। इस प्रथा के दोष ये हैं कि मतदाताओं में इतनी योग्यता नहीं होती कि वे ठीक प्रकार से अपने शासकों का चुनाव कर सकें। वास्तव में मतदाताओं में जनता के वास्तविक हितों का समझने वाले लोग बहुत कम होते हैं। इसलिये यदि सब मतदाता मिलकर कुछ थोड़े से ऐसे आदमियों को चुन लें जिन्हें अच्छे-बुरे की पहिचान हो, तो इससे धारा सभा के सदस्यों का चुनाव अधिक सुचारू रूप से हो सकता है; परन्तु इस प्रथा में दोष यह है कि इससे जनता में राजनैतिक जागृति नहीं हो पाती और वह चुनाव में उस संलग्नता के साथ भाग नहीं लेते जैसा कि प्रत्यक्ष चुनाव में लेते हैं। इसके अतिरिक्त यह चुनाव प्रणाली अप्रजातन्त्रात्मक है क्योंकि इसके अन्तर्गत प्रतिनिधियों का चुनाव केवल थोड़े से ही लोगों के हाथ में रहता है। घूसखोरी के लिए भी इस प्रथा में काफी गुञ्जायश रहती है क्योंकि धारा सभा के सदस्यों का अन्तिम चुनाव थोड़े से ही लोगों के हाथ में होता है।

प्रतिनिधि तथा उसके निर्वाचकों का परस्पर सम्बन्ध

प्रश्न उठता है कि चुनाव के पश्चात् प्रतिनिधि का उसके निर्वाचकों के प्रति क्या कर्तव्य शेष रह जाता है। प्रायः ऐसा देखने में आता है कि चुनाव के पश्चात् प्रतिनिधि अपने निर्वाचकों की ओर से बिल्कुल बेखबर हो जाते हैं और केवल दूसरे चुनाव के समय ही उनके पास दोबारा राय माँगने के लिए आते हैं। वास्तव में यह व्यवहार अत्यन्त निन्दनीय है। प्रतिनिधियों का कर्तव्य है कि वह अपने निर्वाचकों के साथ बराबर संपर्क बनाये रखें। उनके दुख और मुसीबत की कहानी सुनें, तथा जहाँ तक भी बन पड़े उनकी सेवा करने का प्रयत्न करें। धारा सभा के सन्मुख जो भी प्रश्न आते हैं उनके विषय में भी उसे अपने निर्वाचकों से परामर्श करते रहना चाहिये। इसके अतिरिक्त उसका कर्तव्य है कि वह उस कार्यक्रम और नीति को कार्य रूप में परिणत करने का प्रयत्न करे जिसके आधार पर उसे उसके निर्वाचकों ने धारा सभा का सदस्य चुना है। अपने निर्वाचन-क्षेत्र का दौरा करना तथा मतदाताओं को उपस्थित राजनैतिक गुत्थियों से अवगत कराना भी उसका परम कर्तव्य है। एक और बात जिसकी चर्चा यहाँ हम आवश्यक समझते हैं यह है कि प्रतिनिधि को अपने स्थानीय हितों की रक्षा के लिए कभी भी राष्ट्रीय हितों का बलिदान नहीं करना चाहिये। राष्ट्रीय हितों में स्थानीय हित स्वभावतया सन्निहित होते हैं।

आदर्श प्रतिनिधित्व प्रथा (Ideal Representative System)

प्रजातन्त्रीय संगठन के उपरोक्त वर्णन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि किसी भी देश की आदर्श प्रतिनिधित्व प्रथा में निम्नलिखित बातें अवश्य होनी चाहिये :—

१. सर्वमताधिकार (Universal franchise)

२. प्रत्यक्ष निर्वाचन-प्रथा (Direct System of Election)

३. गुप्त मतदान प्रथा (Ballot System of Voting)

४. निर्वाचन के समय अनैतिक तथा अवाञ्छनीय कार्यों की रोक थाम (Prevention of Mal Practices at the time of Election)

५ निर्वाचक और निर्वाचित में निरन्तर सम्पर्क (Constant Contract between the Representative and the Electorate)

६. अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा (Protection of Minorities)

७. पृथक् निर्वाचन-पद्धति तथा बहुमत प्रथा का अन्त (Abolition of Separate Electorates & Plural Voting)

योग्यता-प्रश्न

(१) आप वयस्क मताधिकार से क्या समझते ? इसके गुण और दोष पर प्रकाश डालिए। (यू० पी०, १९३२, १९४६)

(२) भारतवर्ष में वयस्क मताधिकार स्थापित किये जाने के प्रश्न पर अपने विचार सप्रमाण प्रकट कीजिये।

(३) महिला मताधिकार के पक्ष और विपक्ष की युक्तियों का वर्णन कीजिये। (यू० पी०, १९३०, १९४२)

(४) अल्पमत क्या है ? प्रजातान्त्रिक व्यवस्थापिकाओं में प्रचलित कुछ ढंगों का वर्णन कीजिये।

(५) जातीय प्रतिनिधित्व का क्या अर्थ है ? भारतवर्ष को दृष्टिकोण में रखकर इस प्रश्न पर प्रकाश डालिये और इसके कुछ उपाय बतलाइये।

(६) प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष निर्वाचन के तुलनात्मक लाभ और हानियाँ क्या हैं ? इनका वर्णन कीजिये।

(७) किसी व्यवस्थापिका सभा में प्रतिनिधियों के निर्वाचित होने के विभिन्न

तरीकों का वर्णन कीजिये और उनके गुण और दोषों पर प्रकाश डालिये।
(यू० पी०, १६३३)

(८) एक आदर्श निर्वाचन-पद्धति क्या हो सकती है? मतदाता शासकों पर किस प्रकार नियन्त्रण रखते हैं? (यू० पी, १६४४)

(६) अल्पसंख्यक जातियों के प्रतिनिधित्व का आप क्या आशय समझते हैं? क्या भारत के लिये आप संयुक्त निर्वाचन प्रणाली उचित समझते हैं?
(यू० पी०, १६४८)

बीसवाँ अध्याय

राजनैतिक दल (Political Parties)

परिभाषा—राजनैतिक दल किसी राज्य के अन्तर्गत मनुष्यों के उस संगठित समूह को कहते हैं जो किसी राजनैतिक उद्देश्य अथवा आर्थिक लक्ष्य की पूर्ति के लिए शांतिमय तथा वैध (Legal) साधनों से, किसी देश के मतदाताओं (Electorate) के बहुमत को अपने पक्ष में करके; राज्य की शक्ति को अपने हाथ में लेना चाहता हो। किसी राजनैतिक दल के लिये, इस प्रकार, तीन बातों की विशेष रूप से आवश्यकता रहती है :—(१) किसी एक राजनैतिक अथवा आर्थिक सिद्धांत में विश्वास (२) अनुशासनपूर्ण संगठन; और (३) देश की कार्यकारिणी (Cabinet) पर, वैध तथा शांतिपूर्ण उपायों से, जनता के बहुमत को अपने पक्ष में करके, कब्जा करने की इच्छा। गैटिल (Gettel) ने इसी कारण राजनैतिक दल की इस प्रकार व्याख्या की है कि यह कुछ लोगों का वह संगठन है जो एक विचार रखते हैं तथा जो अपने अनुयाइयों के मत के बल पर सरकार की मशीन पर अपना क़ब्जा जमाकर. उस कार्यक्रम और नीति को कार्यान्वित करना चाहते हैं कि जिसमें उनका विश्वास है। कुछ दूसरे राजनैतिक लेखकों ने इसकी परिभाषा दूसरे प्रकार से की है, उदाहरणार्थ गिलक्राइस्ट (Gilchrist) लिखता है "राजनैतिक दल कुछ लोगों का वह संगठन है जिनका एक विचार और एक उद्देश्य होता है।" लीकाक (Leacock) लिखता है राजनैतिक दल से हमारा तात्पर्य नागरिकों के उस संगठन से है जो राजनीति में एक सिद्धांत पर सहमत होते हैं। एक तीसरे राजनीतिज्ञ लिखते हैं, राजनैतिक दल व्यक्तियों के उस समुदाय को कहते हैं जिसका दृष्टिकोण वर्तमान राजनैतिक प्रश्नों

पर एक होता है तथा जो इस बात की चिन्ता में रहते हैं कि किस प्रकार सरकार उनकी इच्छानुसार काम करे।"

गुट्ट (Factions)— यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि राजनैतिक दलों के अलावा कुछ देशों में ऐसे मनुष्यों के गुट्ट भी होते हैं जो किसी राजनैतिक कार्यक्रम में विश्वास नहीं रखते वरन् जो अपनी स्वार्थ-सिद्धी तथा व्यक्तिगत अधिकार की प्राप्ति के लिये आपस में मिल जाते हैं और फिर बल प्रयोग, लड़ाई-दङ्गा, गुंडा गर्दी आदि साधनों को काम में लाकर अपनी उद्देश्य पूर्ति करना चाहते हैं। ऐसे समूहों को किसी प्रकार भी राजनैतिक दल नहीं कहा जा सकता। उनको गुटबन्दी कहना अधिक न्यायसंगत जान पड़ता है। एक राजनैतिक लेखक ने राजनैतिक दल और गुट्ट में इस प्रकार भेद किया है। राजनैतिक दल वोटों के बहुमत द्वारा काम करते हैं, परन्तु गुट्ट सिरों को फोड़कर काम करते हैं (A political party acts by counting heads, while a faction does so by breaking heads).

ऐतिहासिक दृष्टि से गुट्टबन्दियाँ संसार में राजनीति के साथ सदा से चली आई हैं। पुराने राजतंत्र शासनों में भी गुट्टबन्दियाँ थीं, परन्तु राजनैतिक पार्टियाँ अभी कोई दो शताब्दियों से ही देखने में आई हैं। राजनैतिक दलों का विकास प्रजातंत्र शासनों के आविष्कार के साथ हुआ है, क्योंकि प्रजातंत्र राज्य की व्यवस्था राजनैतिक दलों के अभाव में संभव नहीं।

राजनैतिक दलों के निर्माण का आधार

राजनैतिक दल, राजनैतिक समस्याओं के विषय में, जनता में भिन्न-भिन्न राय होने के कारण बन जाते हैं। जो लोग इन समस्याओं पर एक ही प्रकार से विचार करते हैं, तथा उनको सुलझाने के लिये एक ही कार्य-क्रम में विश्वास रखते हैं; वह एक राजनैतिक दल बना लेते हैं। अक्सर राजनैतिक दलों के पीछे कुछ बड़े-बड़े प्रतिष्ठित व्यक्ति होते हैं।

इन व्यक्तियों में श्रद्धा रखने वाले मनुष्य, उनके साथ लग जाते हैं, और फिर वह सब मिलकर, एक अत्यन्त आकर्षक प्रोग्राम जनता के सामने रखते हैं। प्रत्येक राजनैतिक दल अपनी ओर अधिक से अधिक मत-दाताओं को खींचने की कोशिश करता है, और इसके लिये वह नये-नये नारे, नये नये चित्ताकर्षक प्रोग्राम जनता के सामने रखता है। यहाँ यह समझ लेना उचित होगा कि राजनैतिक दलों की सदस्यता या नीति के विषय में कोई निश्चित या स्थाई सिद्धांत नहीं होता। समय की आवश्यकता तथा परिस्थिति के अनुसार राजनैतिक दलों का कार्यक्रम भी बदलता रहता है, और उनकी सदस्यता भी। प्रायः प्रत्येक देश में ऐसा देखने में आता है कि आज जो व्यक्ति एक दल के साथ हैं कल वही अपने पहिले दल को छोड़कर; दूसरे में शामिल हो जाते हैं। मतदाताओं की अधिकतर संख्या उस दल के साथ अपनी सहानुभूति रखना पसन्द करती है जिसके हाथ में राज्य-सत्ता हो। हारे हुये दल के साथ ऐसे ही लोग रहते हैं जिनका उस दल के कार्य-क्रम में दृढ़ विश्वास होता है।

आधुनिक काल में अधिकतर राजनैतिक दल निम्नलखित सिद्धान्तों पर व्यवस्थित किये जाते हैं :—

(१) **राजनैतिक सिद्धान्त**—स्वतंत्र राष्ट्रों में, देश के राजनैतिक संगठन के विषय में जनता की अलग-अलग राय होती है। कुछ लोग प्रजातंत्रात्मिक संगठन में विश्वास करते हैं, तो कुछ राजतत्र में, कुछ लोग कुलीनतंत्र में विश्वास रखते हैं तो कुछ तानाशाही शासन में, कुछ लोग फ़ासिस्ट ढंग की सरकार में विश्वास रखते हैं तो कुछ धर्मतंत्र (Theocratic) शासन में। इन भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों में विश्वास करने वाले आदमी अपना एक अलग संगठन बना लेते हैं और फिर अपने मत का जनता में प्रचार करते हैं। गुलाम देशों में स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए भी राजनैतिक दल बनाये जाते हैं।

(२) **आर्थिक सिद्धांत**—कुछ लोग जो समाज के एक ही प्रकार के

आर्थिक संगठन में विश्वास रखते हैं अथवा जो जनता की आर्थिक दशा सुधारने के लिये समान साधनों का प्रयोग करना चाहते हैं; अथवा जो एक ही पेशा करते हैं; एक ही प्रकार का संगठन बना लेते हैं, इन संगठनों के उदाहरण में हम विभिन्न देशों के समाजवादी दल; कम्यूनिस्ट पार्टी; लेबर पार्टी; ज़मींदार एसोसिएशन इत्यादि दलों के नाम ले सकते हैं। आर्थिक सिद्धांतों के आधार पर राजनैतिक दल आधुनिक काल में बहुत लोकप्रिय है।

(३) **प्राकृतिक मत-भेद** (Temperamental Differences)—संसार के सभी देशों में मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है, कि राजनैतिक व सामाजिक समस्याओं के विषय में जनता में चार प्रकार के दृष्टिकोण होते हैं। सबसे पहले कुछ ऐसे लोग होते हैं जो प्राचीन काल की व्यवस्था को ही आदर्श मानते हैं और वर्तमान तथा भविष्य को असंतोष की दृष्टि से देखते हैं। इस प्रकार के विचारों के मनुष्यों को हम प्रतिक्रिया-वादी (Reactionaries) कह सकते हैं, क्योंकि यह लोग पीछे की ओर देखते हैं। दूसरे प्रकार के मनुष्य वह होते हैं जो वर्तमान व्यवस्था के प्रति सतुष्ट रहते हैं तथा उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन या सुधार नहीं चाहते; ऐसी मनोवृत्ति प्रायः सम्पन्न और धनी लोगों में पाई जाती है, राजनीति में इन्हें कन्जरवेटिव (Conservative) या अनुदार कहा जाता है क्योंकि वे सुधार विरोधी और वर्तमान व्यवस्था के पक्षपाती होते हैं। तीसरे प्रकार के मनुष्य समाज में वह होते हैं जो वर्तमान व्यवस्था की बुराइयों को समझते हैं एवं उसमें परिवर्तन और सुधार चाहते हैं; किन्तु धीरे-धीरे और वैधानिक उपायों से ऐसे लोग (Liberal) या उदार कहे जाते हैं। अन्त में प्रत्येक समाज में कुछ लोग ऐसे होते हैं जो वर्तमान व्यवस्था से इतनी घृणा रखते हैं कि उसको नष्ट-भ्रष्ट करके उसके स्थान पर नई सभ्यता का निर्माण करना चाहते हैं। इन लोगों को उग्र अथवा (Extremist or Radical) कहा

जाता है। मनुष्यों के इन प्राकृतिक मतभेदों के कारण भिन्न-भिन्न देशों में कन्जरवेटिव लिबरल, तथा रेडीकल पार्टियाँ बनाई जाती हैं। कुछ देशों में प्राति-क्रियावादी दलों को दक्षिण पक्ष (Rightist Party); अनुदार और उदार दलों को मध्य पक्ष (Centre party) और उग्रदलों को वाम पक्ष (Leftist party) के नामों से भी पुकारा जाता है।

कुछ पिछड़े हुये देशों में जातीय, धार्मिक तथा भाषा सम्बन्धी विभिन्नताओं के आधार पर भी दलों की व्यवस्था की जाती है। कभी-कभी किसी देश में बिना किसी राजनैतिक या आर्थिक कार्य-क्रम के भी किसी एक बड़े राजनैतिक नेता में आस्था होने के कारण भी राजनैतिक दल का निर्माण हो जाता है। हाल ही में इसी प्रकार का एक दल अमेरिका में हैनरी वालेस ने बनाया है ।

इङ्गलैंड के दल—इङ्गलैंड में मुख्यतः तीन दल हैं :—(१) कंजरवेटिव (Conservative), (२) लिबरल (Liberal) और (३) मज़दूर (Labour)। इनमें से पहिले दो दलों का निर्माण प्राकृतिक मतभेद के कारण हुआ है और तीसरे दल का आर्थिक कार्य-क्रम के सिद्धान्त पर। इंगलैंड के पिछले, १९४६ के आम चुनाव में लिबरल पार्टी की भारी हार हुई। इसके कारण आजकल इंगलैंड में केवल दो ही पार्टियाँ अधिक प्रभावशाली रह गई हैं।

अमेरिका के दल—अमेरिका में मुख्यतः दो पार्टियाँ हैं–(१) डेमोक्रेटस, (२) रिपब्लिकन्स। इन पार्टियों के कार्य-क्रम में कोई विशेष अन्तर नहीं है। दोनों ही दल पूँजीवाद के समर्थक हैं। अन्तर केवल इतना है कि रिपब्लिकन पार्टी, डैमोक्रेटिक पार्टी के मुकाबले में कुछ अधिक प्रतिक्रियावादी है। हाल ही में अमेरिका में मि० हैनरी वालेस ने एक तीसरी पार्टी का भी

निर्माण किया है जिसका उद्देश्य अमेरिका की विदेशी नीति में रूस के साथ समझौता करना है।

फ्रान्स के दल—फ्रांस के राजनैतिक इतिहास का यह सबसे बड़ा दुर्भाग्य रहा है कि वहाँ इतने राजनैतिक दल हैं कि उस देश में स्थायी सरकार कभी भी नहीं बनने पाई है। वहाँ मन्त्रिमण्डलों की तब्दीली आए दिन की बात हैं। फ्रांस के प्रमुख राजनैतिक दलों में हम कम्यूनिष्ट पार्टी, सोशलिस्ट पार्टी, सोशलडैमोक्रेटिक पार्टी, कैथोलिक पार्टी, रेडिकल पार्टी और जनरल डिगाल की पार्टी के नाम ले सकते हैं।

भारतवर्ष के दल—हमारे देश को स्वतन्त्र हुए अभी थोड़ा ही समय हुआ है इसलिये यहाँ राजनैतिक दलों की व्यवस्था उन आर्थिक तथा राजनैतिक सिद्धान्तों के आधार पर नहीं की गई है जिन पर पाश्चात्य देशों के दल संगठित हैं। अभी कुछ दिन पहले तक हमारे देश की पार्टियाँ धार्मिक तथा जातीय भेद भावों पर अवलम्बित थीं मुस्लिम लीग, हिन्दू महासभा अकाली दल, दलित जातीय संग आदि इस ही के उदाहरण हैं। केवल इन्डियन नेशनल कांग्रेस ही हमारे देश की एक ऐसी पार्टी थी जो राजनैतिक कार्यक्रम के आधार पर अवलम्बित थी। धार्मिक दलों का प्रभुत्व हमारे देश में शासन की पृथक् निर्वाचन-पद्धति (Separate Electorates) के कारण हुआ। इन दलों ने साम्प्रदायिकता का वह बीज बोया कि हमारे देश के दो टुकड़े होकर ही रहे। महात्मा गांधी की मृत्यु के पश्चात् से हमारे देश की राजनीति में एक जबर्दस्त तबदीली आई है। जनता अपने सबसे अमूल्य रत्नको खोकर साम्प्रदायिकता के क्षेत्र से कुछ दूर हटने लगी है।

आज-कल हमारे देश की सबसे संगठित और शक्तिशाली पार्टी कांग्रेस ही है। देश के तमाम प्रान्तों तथा केन्द्रीय सरकार पर इस ही का प्रभुत्व है। प्रजातन्त्र शासन के अन्तर्गत देश में केवल एक ही राजनैतिक दल का हो। सैद्धान्तिक रूप से अत्यन्त अनुचित है। ऐसी अवस्था में देश में

एक फासिस्ट ढग की सरकार बनने का सदा डर लगा रहता है।

अब कुछ काल से समाजवादी दल कॉंग्रेस से पृथक् होकर अपनी शक्ति का संचार कर रहा है, बंबई प्रान्त में इसे कुछ सफलता भी मिली है, परन्तु दूसरे प्रान्तों में अभी इसका अधिक प्रभाव नहीं बढ़ सका है।

कांग्रेस और सोशलिस्ट पार्टी के अतिरिक्त हमारे देश में कुछ और छोटे-छोटे राजनैतिक दल भी हैं इनमें कम्यूनिस्ट पार्टी, रेडिकल डैमोक्रेटिक पार्टी, किसान-मज़दूर प्रजा पार्टी, किसान सभा तथा श्री शरत् बोस की आल इण्डिया सोशलिस्ट रिपब्लिकन पार्टी के नाम उल्लेखनीय हैं।

राजनैतिक दलों के कार्य (प्रजातंत्र शासन की सफलता के लिये राजनैतिक दलों की आवश्यकता)

प्रजातन्त्र शासनों के आधीन राजनैतिक दलों के दो प्रधान कर्त्तव्य होते हैं : (१) जनता में अपने कार्यक्रम और नीति का प्रचार और (२) चुनावो में भाग लेना। प्रथम काय के अन्तर्गत राजनैतिक दल जनता में अपनी लोकप्रियता बढ़ाने के लिए अखबार निकालते हैं, सभाएँ करते हैं, राजनैतिक साहित्य छापते हैं, तथा रचनात्मक कार्य क्रम द्वारा अपने निर्वाचकों की सेवा करने का प्रयत्न करते हैं। इन कार्यों द्वारा दलों का मुख्य उद्देश्य यह होता है कि आम चुनाव के समय जनता उनके प्रतिनिधियों को राय दे। दूसरे कार्य के अन्तर्गत राजनैतिक दल धारा सभा के चुनावों में भाग लेकर देश की सरकार पर अपना प्रभुत्व प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं। चुनावों को लड़ने के सम्बन्ध में उन्हें मुख्यतः निम्नलिखित कार्य करने पड़ते हैं :—

(१) वोटरों को अधिकाधिक संख्या में अपने दल का सदस्य बनाना और वोटरों की सूची (Electoral Register) में उनका नाम लिखवाना, जिससे वह अगले चुनावों में भाग ले सकें।

(२) जिन पदों के लिए निर्वाचन होना है उनके लिए योग्य उम्मीदवार चुनना तथा उनका वोटरों से परिचय कराना।

(३) अखबारों, नोटिसों, व्याख्यानों, सभाओं तथा प्रदर्शनों द्वारा, अपने प्रतिनिधियों को चुनाव में जिताने के लिए, आंदोलन करना।

(४) दूसरे दलों के सिद्धान्तों की आलोचना करना जिससे जनता उनके ही दलों के प्रतिनिधियों को राय देकर धारा सभा का सदस्य निर्वाचित करे।

(५) चुनाव लड़ना, वोटरों से अपने उम्मीदवारों के लिये राय माँगना, तथा अपने पक्ष के वोटरों को गाड़ी या मोटरों में बिटाकर चुनाव स्थान पर ले जाना।

(६) यदि चुनाव में बहुमत प्राप्त हो तो देश का शासन करना, अन्यथा धारा सभा में विरोधी दल का निर्माण करके सरकार के कार्यों की आलोचना करके, उसे सतर्क रखना।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रजातन्त्र शासन-प्रणाली के संचालन में राजनैतिक दलों की ही सहायता से काम चलता है। इन दलों के बिना न मन्त्रिमंडल ही बन सकता है, न चुनाव ही लड़े जा सकते हैं, न प्रतिनिधियों को ही ठीक प्रकार से चुना जा सकता है, न विरोधी दल ही बन सकता है; और न जनता की राजनैतिक शिक्षा ही हो सकती है।

राजनैतिक दलों से लाभ

(१) प्रजातन्त्र के संचालन के लिए राजनैतिक दलों का होना परमावश्यक ही नहीं वरन् अनिवार्य है। जनता को राजनैतिक शिक्षा प्रदान करने का कार्य राजनैतिक दल ही करते हैं। यदि यह दल न हों तो देश में सङ्गठित बहुमत का निर्माण न हो सके और इसके न होने से प्रजातन्त्र शासन का चलना ही असम्भव हो जाय।

(२) राजनैतिक पार्टियों के आधार पर ही किसी देश के मन्त्रिमंडल में जनता की इच्छानुसार परिवर्तन सम्भव होते हैं। ज्यों ही धारा सभा में किसी विशेष मन्त्रिमंडल की हार हो जाती है तो तुरन्त ही उसके स्थान में दूसरे मन्त्रिमंडल का निर्माण हो जाता है। ऐसी परिस्थिति में विरोधी

दल मन्त्रिपद ग्रहण कर लेता है और पहिले मन्त्रिमंडल के सदस्य विरोधी दल का स्थान ग्रहण कर लेते हैं।

(३) अध्यक्षात्मक शासन में राजनैतिक दल, कार्यकारिणी और धारा सभा के बीच मेल बनाए रखते हैं। इन दलों के अभाव में अध्यक्षात्मक शासन कभी भी सुचारु रूप से नहीं चल सकता। राजनैतिक दल, ऐसा सरकार में कार्यकारिणी और धारा सभा दोनों के सदस्यों पर असर डालते हैं और इस प्रकार उनके बीच होने वाले गति विरोध को रोकते हैं।

(४) राजनैतिक दल निर्वाचकों को शिक्षित, अनुशासित, तथा संयमी बनाने के कार्य में अत्यन्त महत्वपूर्ण भाग लेते हैं। वह राजनैतिक साहित्य, समाचारपत्रों तथा सभाओं के द्वारा जनता को राजनैतिक शिक्षा प्रदान करते हैं तथा उसे देश की समस्याओं से अवगत कराके सार्वजनिक विषयों के प्रति उसकी रुचि बढ़ाते हैं।

(५) निर्वाचकों की सेवा तथा उनमें अनुशासन का भाव निर्माण करने के लिए राजनैतिक दल कभी कभी स्वयंसेवक दलों का भी निर्माण करते हैं।

(६) वे देश के सामने उपस्थित विभिन्न विषयों का गम्भीर अध्ययन करने के लिए कभी-कभी अन्वेषण संस्थाऐं (Research Institutions) खोलते हैं, तथा विशेषज्ञों की कमेटियाँ नियुक्त करते हैं, और इस प्रकार देश की समस्याओं को समझने तथा उन्हें हल करने का प्रयत्न करते हैं।

(७) कभी-कभी राजनैतिक दल सामाजिक सुधार के कार्यों में भी भाग लेते हैं। हमारे देश की कांग्रेस ने हरिजन उद्धार, स्त्री शिक्षा तथा जाति-पाँति और ऊँच-नीच के भेद भावों को मिटाने का जो प्रयत्न किया है वह अत्यन्त ही सराहनीय है।

(८) अंत में राजनैतिक दल जनता के छोटे-छोटे मतभेदों को दूर कर के उनमें समान हित की प्राप्ति के लिए भावना उत्पन्न करते हैं।

राजनैतिक दलों के दोष

राजनैतिक दलों में अनेक दोष भी होते हैं। इनमें से कुछ का वर्णन हम नीचे करते हैं :—

(१) दलप्रथा एक सच्चे प्रजातंत्रीय सिद्धान्त के विरुद्ध है क्योंकि इसमें दल के अनुशासन के नाम पर व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अपहरण किया जाता है। एक बार दल द्वारा किसी विषय पर निर्णय हो जाने के पश्चात् सब सदस्यों को उस फैसले को मानना पड़ता है। और यदि दल के कुछ सदस्य उस निर्णय को बिल्कुल नापसन्द भी करते हों तो भी वह उसके विरोध में अपनी आवाज नहीं उठा सकते।

(२) राजनैतिक दलों का नेतृत्व कुछ ऐसे लोगों के हाथों में आ जाता है जो सिद्धान्तहीन होते हैं तथा जो चुनाव लड़ने में उचित और अनुचित उपायों में भेद नहीं करते।

(३) दल के अन्दर कुछ ऐसे व्यक्तियों का एक गुट बन जाता है जिनके हाथ में सारी शक्ति केन्द्रित हो जाती है और फिर उनको उनके स्थान से नहीं हटाया जा सकता। दलबन्दी की इन्हीं बुराइयों के कारण राज्य के सर्वश्रेष्ठ नागरिक अपने को इस दूषित वातावरण से बिल्कुल अलग रखते हैं।

(४) राजनैतिक दलों के कारण, जिन मन्त्रिमण्डलों का निर्माण होता है, उनमें कुछ ऐसे व्यक्ति भी आसनारूढ़ हो जाते हैं जिनमें शासन सम्बन्धी कोई भी योग्यता नहीं होती।

(५) दलों के कारण पक्षपात, रिश्वत, बेईमानी, तथा अन्य ऐसी ही दूसरी बुराइयों का बाज़ार गर्म हो जाता है। दलों के नेता चुनाव के समय, धनिकों को अपनी पार्टी की ओर से चुनाव में खड़े करने का प्रलो-भन देकर, बहुत बड़ी रिश्वत खा जाते हैं। इसके अतिरिक्त। एक दल की सरकार बनने के पश्चात् दल के नेता इस बात का प्रयत्न करते हैं, कि उन्हीं पार्टी के सदस्य विभिन्न राजनैतिक स्थानों पर नौकरियाँ प्राप्त

राजनैतिक दलों की सफलता की शर्तें (Conditions for the Success of Political Parties)

प्रजातंत्र राज्य में जनता को शिक्षित बनाने के अतिरिक्त राजनैतिक दलों को भी उचित नियमों के अनुसार व्यवस्थित किया जाना चाहिये।

(१) सर्वप्रथम राजनैतिक दलों को राजनैतिक या आर्थिक सिद्धांतों के आधार पर संगठित करना चाहिये, साम्प्रदायिक या जातीय या भाषा या किसी वर्ग विशेष के स्वार्थ के आधार पर नहीं। जिन देशों में राजनैतिक दल किसी उसूल पर नहीं; वरन् कुछ लोगों की स्वार्थसिद्धि के आधार पर बनाए जाते हैं वहाँ प्रजातन्त्र राज्य की संस्था सफल नहीं हो सकती।

(२) राजनैतिक दलों के ऊपर से किसी एक मनुष्य या गुट्ट का प्रभुत्व कम करने के लिये यह आवश्यक है कि उसके विधान में इस प्रकार की शर्तें रक्खी जायँ कि जिनके कारण कोई एक मनुष्य किसी पद पर दो या तीन वर्ष से अधिक न रह सके।

(३) देश में राजनैतिक दलों की संख्या बहुत अधिक नहीं होनी चाहिये, जिससे कि सरकार का काम स्थाई रूप से चल सके। अधिक राजनैतिक दलों के कारण धारा सभा के सदस्य, देश की भलाई के काम करने के बजाय, मंत्रिमंडलों के तोड़ने-फोड़ने के कार्य में लगे रहते हैं।

योग्यता-प्रश्न

१. पाश्चात्य देशों में राजनैतिक दलों की व्यवस्था कौन से सिद्धान्तों पर की गई है? क्या भारतीय दल इसी प्रकार के सिद्धान्त पर विभाजित किये गये हैं? दलप्रथा से क्या क्या लाभ हैं? (यू० पी०, १९३५)

२. दल व्यवस्था के आधारभूत सिद्धान्तों को समझाइये और दलों के कार्य और स्वभाव का वर्णन कीजिये। (यू० पी०, १९३६)

३. राजनैतिक दल की व्याख्या कीजिये? क्या दल प्रथा आनन्दप्रद नहीं वरन् एक शाप है क्या आप इस मत से सहमत हैं?

राजनैतिक दलों के दोष

राजनैतिक दलों में अनेक दोष भी होते हैं। इनमें से कुछ का वर्णन हम नीचे करते हैं :—

(१) दलप्रथा एक सच्चे प्रजातंत्रीय सिद्धान्त के विरुद्ध है क्योंकि इसमें दल के अनुशासन के नाम पर व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अपहरण किया जाता है। एक बार दल द्वारा किसी विषय पर निर्णय हो जाने के पश्चात् सब सदस्यों को उस फैसले को मानना पड़ता है। और यदि दल के कुछ सदस्य उस निर्णय को बिल्कुल नापसन्द भी करते हों तो भी वह उसके विरोध में अपनी आवाज नहीं उठा सकते।

(२) राजनैतिक दलों का नेतृत्व कुछ ऐसे लोगों के हाथों में आ जाता है जो सिद्धान्तहीन होते हैं तथा जो चुनाव लड़ने में उचित और अनुचित उपायों में भेद नहीं करते।

(३) दल के अन्दर कुछ ऐसे व्यक्तियों का एक गुट बन जाता है जिनके हाथ में सारी शक्ति केन्द्रित हो जाती है और फिर उनको उनके स्थान से नहीं हटाया जा सकता। दलबन्दी की इन्हीं बुराइयों के कारण राज्य के सर्वश्रेष्ठ नागरिक अपने को इस दूषित वातावरण से बिल्कुल अलग रखते हैं।

(४) राजनैतिक दलों के कारण, जिन मन्त्रिमण्डलों का निर्माण होता है, उनमें कुछ ऐसे व्यक्ति भी आसनारूढ़ हो जाते हैं जिनमें शासन सम्बन्धी कोई भी योग्यता नहीं होती।

(५) दलों के कारण पक्षपात, रिश्वत, बेईमानी, तथा अन्य ऐसी ही दूसरी बुराइयों का बाज़ार गर्म हो जाता है। दलों के नेता चुनाव के समय, धनिकों को अपनी पार्टी की ओर से चुनाव में खड़े करने का प्रलो-भन देकर, बहुत बड़ी रिश्वत खा जाते हैं। इसके अतिरिक्त। एक दल की सरकार बनने के पश्चात् दल के नेता इस बात का प्रयत्न करते हैं, कि उन्हीं पार्टी के सदस्य विभिन्न राजनैतिक स्थानों पर नौकरियाँ प्राप्त

राजनैतिक दलों की सफलता की शर्तें (Conditions for the Success of Political Parties)

प्रजातंत्र राज्य में जनता को शिक्षित बनाने के अतिरिक्त राजनैतिक दलों को भी उचित नियमों के अनुसार व्यवस्थित किया जाना चाहिये।

(१) सर्वप्रथम राजनैतिक दलों को राजनैतिक या आर्थिक सिद्धांतों के आधार पर संगठित करना चाहिये, साम्प्रदायिक या जातीय या भाषा या किसी वर्ग विशेष के स्वार्थ के आधार पर नहीं। जिन देशों में राजनैतिक दल किसी उसूल पर नहीं; वरन् कुछ लोगों की स्वार्थसिद्धि के आधार पर बनाए जाते हैं वहाँ प्रजातन्त्र राज्य की संस्था सफल नहीं हो सकती।

(२) राजनैतिक दलों के ऊपर से किसी एक मनुष्य या गुट्ट का प्रभुत्व कम करने के लिये यह आवश्यक है कि उसके विधान में इस प्रकार की शर्तें रक्खी जायँ कि जिनके कारण कोई एक मनुष्य किसी पद पर दो या तीन वर्ष से अधिक न रह सके।

(३) देश में राजनैतिक दलों की संख्या बहुत अधिक नहीं होनी चाहिये, जिससे कि सरकार का काम स्थाई रूप से चल सके। अधिक राजनैतिक दलों के कारण धारा सभा के सदस्य देश की भलाई के काम करने के बजाय, मंत्रिमंडलों के तोड़ने-फोड़ने के कार्य में लगे रहते हैं।

योग्यता-प्रश्न

१. पाश्चात्य देशों में राजनैतिक दलों की व्यवस्था कौन से सिद्धान्तों पर की गई है ? क्या भारतीय दल इसी प्रकार के सिद्धान्त पर विभाजित किये गये हैं ? दलप्रथा से क्या क्या लाभ हैं ? (यू० पी०, १९३५)
२. दल व्यवस्था के आधारभूत सिद्धान्तों को समझाइये और दलों के कार्य और स्वभाव का वर्णन कीजिये। (यू० पी०, १९३६)
३. राजनैतिक दल की व्याख्या कीजिये ? क्या दल प्रथा आनन्दप्रद नहीं वरन् एक शाप है. क्या आप इस मत से सहमत हैं ?

४. राजनैतिक दल सार्वजनिक मत को शिक्षित बनाने में शासन की व्यवस्था करने में कहाँ तक उपयोगी सिद्ध होते हैं? (यू० पी०, १९३०)

५. दल शासन का क्या अर्थ है? इसके गुण और दोष समझाइये? (यू० पी०, १९३०, १९४२)

६. राजनैतिक दल का क्या अर्थ है? यह दल जनता को शिक्षित बनाने तथा शासन को चलाने में किस प्रकार सहायता देते हैं? (यू० पी०, १९४४, १९४९)

है। कुछ लोग सरकार की निरन्तर आलोचना करते रहना, अपना पेशा-सा बना लेते हैं। यह बात उचित नहीं। आलोचना केवल ऐसी होनी चाहिए कि जिससे शासक अपनी त्रुटियों का अनुभव कर सकें तथा अपनी नीति में सुधार कर सकें। संक्षेप में आलोचना सुधारात्मक होनी चाहिए विनाशात्मक नहीं।

तानाशाही और जनमत

तानाशाही, शासन की वह व्यवस्था है जो जनमत के आधार पर संगठित नहीं की जाती वरन् जो जनमत को अपने अनुरूप बनाने का प्रयत्न करती है। इस सरकार में जनमत का शासन पर नियन्त्रण नहीं रहता, वरन् शासन का जनमत पर अधिकार रहता है। सरकार जनमत के समस्त यन्त्रों, समाचार-पत्रों, रेडियो, मञ्च, शिक्षा संस्थाएँ, राजनैतिक साहित्य, सिनेमा, चित्रकला इत्यादि सभी प्रचार साधनों को अपने नियंत्रण में रखती है। तानाशाही शासन में भाषण की स्वतन्त्रता नहीं होती; जनता अपनी इच्छानुसार संस्थाओं का सङ्गठन भी नहीं कर सकती। देश के सारे प्रचार साधन सरकार की नीति का ही ढोल पीटते हैं। विचारों की स्वतन्त्रता के लिए तानाशाही शासन में कोई स्थान नहीं होता। यहाँ तक कि देश की शिक्षा-प्रणाली तथा सांस्कृतिक संस्थाओं का प्रयोग भी सरकार की नीति का ही समर्थन करने के लिए किया जाता है।

तानाशाही शासन में केवल एक ही राजनैतिक दल का अस्तित्व रह सकता है, अर्थात् तानाशाह के दल का। शेष सब ही दल भंग कर दिये जाते हैं और उनके नेताओं को जेल की चारदीवारियों में बन्द कर दिया जाता है। शासन के प्रति किये गये प्रत्येक विरोध का सख्ती के साथ दमन किया जाता है, और आलोचकों को बन्दीगृहों में डालकर या फाँसी के तख्तों पर चढ़ाकर उनका मुँह सदा के लिए बन्द कर दिया जाता है। तानाशाही शासन में पुलिस, सेना और गुप्तचरों का शासन रहता है।

है। कुछ लोग सरकार की निरन्तर आलोचना करते रहना, अपना पेशा-सा बना लेते हैं। यह बात उचित नहीं। आलोचना केवल ऐसी होनी चाहिए कि जिससे शासक अपनी त्रुटियों का अनुभव कर सकें तथा अपनी नीति में सुधार कर सकें। संक्षेप में आलोचना सुधारात्मक होनी चाहिए विनाशात्मक नहीं।

तानाशाही और जनमत

तानाशाही, शासन की वह व्यवस्था है जो जनमत के आधार पर संगठित नहीं की जाती वरन् जो जनमत को अपने अनुरूप बनाने का प्रयत्न करती है। इस सरकार में जनमत का शासन पर नियन्त्रण नहीं रहता, वरन् शासन का जनमत पर अधिकार रहता है। सरकार जनमत के समस्त यन्त्रों, समाचार-पत्रों, रेडियो, मञ्च, शिक्षा संस्थाएँ, राजनैतिक साहित्य, सिनेमा, चित्रकला इत्यादि सभी प्रचार साधनों को अपने नियंत्रण में रखती है। तानाशाही शासन में भाषण की स्वतन्त्रता नहीं होती; जनता अपनी इच्छानुसार संस्थाओं का सङ्गठन भी नहीं कर सकती। देश के सारे प्रचार साधन सरकार की नीति का ही ढोल पीटते हैं। विचारों की स्वतन्त्रता के लिए तानाशाही शासन में कोई स्थान नहीं होता। यहाँ तक कि देश की शिक्षा-प्रणाली तथा सांस्कृतिक संस्थाओं का प्रयोग भी सरकार की नीति का ही समर्थन करने के लिए किया जाता है।

तानाशाही शासन में केवल एक ही राजनैतिक दल का अस्तित्व रह सकता है, अर्थात् तानाशाह के दल का। शेष सब ही दल भंग कर दिये जाते हैं और उनके नेताओं को जेल की चारदीवारियों में बन्द कर दिया जाता है। शासन के प्रति किये गये प्रत्येक विरोध का सख्ती के साथ दमन किया जाता है, और आलोचकों को बन्दीगृहों में डालकर या फाँसी के तख्तों पर चढ़ाकर उनका मुँह सदा के लिए बन्द कर दिया जाता है। तानाशाही शासन में पुलिस, सेना और गुप्तचरों का शासन रहता है।

जनता इतनी डरी हुई रहती है कि वह निर्भीकतापूर्वक अपने विचारों को दूसरों पर प्रकट नहीं कर सकती।

तानाशाही के उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि इस प्रकार के शासन में किसी भी तरह का वास्तविक जनमत क़ायम नहीं रह सकता। जो कुछ भी जनमत होता है उसका उद्देश्य केवल तानाशाह की नीति का समर्थन करना होता है। इस प्रकार के शासन की सफलता केवल क्षणिक होती है। जनता को ज्यों ही अवसर मिलता है वह अपने शासकों के विरुद्ध उठ खड़ी होती है और इस प्रकार के शासन का अन्त करके प्रजातन्त्रीय शासन की व्यवस्था क़ायम कर देती है।

जनमत क्या है ? (What is Public Opinion ?)

साधारण बोलचाल में जनमत का आशय लोग उस मत से समझते हैं जो लोग सार्वजनिक प्रश्नों के सम्बन्ध में क़ायम कर लेते हैं। परन्तु वास्तव में सार्वजनिक महत्व के किसी भी प्रश्न पर सब लोगों की कभी भी एक राय नहीं होती। भिन्न-भिन्न मनुष्य भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से सार्वजनिक प्रश्नों पर विचार करते हैं। इनमें से कुछ अपने व्यक्तिगत लाभ की दृष्टि से उस प्रश्न को देखते हैं, कुछ अपनी जाति और कुछ अपने धर्म हित के दृष्टि कोण से। अधिकतर मनुष्य सार्वजनिक प्रश्नों के सम्बन्ध में अपनी कोई भी राय नहीं रखते। वह किसी समाचार-पत्र या पुस्तक को पढ़कर, या किसी नेता का भाषण सुनकर या किसी सभा सोसायटी में बड़े व्यक्तियों की बातें सुनकर, अपनी राय क़ायम कर लेते हैं; और फिर बाहर जनता में उस मत का इस प्रकार प्रचार करते हैं जैसे वह उनकी अपनी स्वतन्त्र राय हो। इस प्रकार हमें मालूम हुआ कि प्रत्येक समाज में केवल थोड़े से ही ऐसे लोग होते हैं, जो स्वतन्त्र रूप से सार्वजनिक प्रश्नों पर विचार करने की क्षमता रखते हैं, और यह मनुष्य भी निष्पक्ष भाव से इन प्रश्नों पर विचार नहीं करते; वह भी अपना मत स्थिर करने में स्वार्थी भावनाओं से प्रभावित होते हैं।

(२) सार्वजनिक प्रश्नों के प्रति स्वार्थपूर्ण, साम्प्रदायिक एवं संकुचित दृष्टिकोण।

(३) नागरिक जागरूकता का अभाव एवं सामाजिक प्रश्नों के प्रति घोर उदासीनता।

(४) देश के राजनैतिक दलों का आर्थिक व राजनैतिक सिद्धान्तों को छोड़कर, साम्प्रदायिक, धार्मिक, जातीय तथा व्यक्तिगत स्वार्थों के आधार पर निर्माण।

(५) राजनैतिक साहित्य व शिक्षा सम्बन्धी पुस्तकों के द्वारा रूढ़िवादी व सकुचित विचारों का प्रचार।

सही जनमत बनाने तथा उसे व्यक्त करने की शर्तें (Conditions for the expression and formulation of sound public opinion)

एक सच्चे जनमत के निर्माण के लिए यह आवश्यक है कि हम उन तमाम बाधाओं को दूर कर सकें, जिनका वर्णन अभी हमने ऊपर किया है। इसके साथ ही इस बात की भी आवश्यकता है कि एक सच्चे जनमत के निर्माण के लिए निम्नलिखित अवस्थाएँ उत्पन्न की जाएँ :—

(१) **शिक्षित जनता**—अशिक्षा सामाजिक जीवन की सबसे बड़ी शत्रु है। उचित और पर्याप्त शिक्षा के अभाव में मनुष्य अपने व्यक्तित्व का विकास नहीं कर सकता। वह शिक्षा के बिना एक कोरा भावुक प्राणी रहता है और तर्क से काम नहीं ले सकता।

(२) **आदर्श शिक्षा-प्रणाली**—किसी देश की शिक्षा-प्रणाली वहाँ की जनता की बुद्धि और स्वभाव के अनुकूल होनी चाहिए। शिक्षा का उद्देश्य नागरिकों के चरित्र का उत्थान तथा जनता में राजनैतिक चैतन्यता उत्पन्न करना होना चाहिए। शिक्षा प्रदान करने में छोटे और बड़े ऊँच और नीच का भेदभाव नहीं होना चाहिए। सबको समान रूप से आदर्श नागरिकता की शिक्षा मिलनी चाहिए।

जनता इतनी डरी हुई रहती है कि वह निर्भीकतापूर्वक अपने विचारों को दूसरों पर प्रकट नहीं कर सकती।

तानाशाही के उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि इस प्रकार के शासन में किसी भी तरह का वास्तविक जनमत क़ायम नहीं रह सकता। जो कुछ भी जनमत होता है उसका उद्देश्य केवल तानाशाह की नीति का समर्थन करना होता है। इस प्रकार के शासन की सफलता केवल क्षणिक होती है। जनता को ज्यों ही अवसर मिलता है वह अपने शासकों के विरुद्ध उठ खड़ी होती है और इस प्रकार के शासन का अन्त करके प्रजातन्त्रीय शासन की व्यवस्था क़ायम कर देती है।

जनमत क्या है ? (What is Public Opinion ?)

साधारण बोलचाल में जनमत का आशय लोग उस मत से समझते हैं जो लोग सार्वजनिक प्रश्नों के सम्बन्ध में क़ायम कर लेते हैं। परन्तु वास्तव में सार्वजनिक महत्व के किसी भी प्रश्न पर सब लोगों की कभी भी एक राय नहीं होती। भिन्न-भिन्न मनुष्य भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से सार्वजनिक प्रश्नों पर विचार करते हैं। इनमें से कुछ अपने व्यक्तिगत लाभ की दृष्टि से उस प्रश्न को देखते हैं, कुछ अपनी जाति और कुछ अपने धर्म हित के दृष्टि कोण से। अधिकतर मनुष्य सार्वजनिक प्रश्नों के सम्बन्ध में अपनी कोई भी राय नहीं रखते। वह किसी समाचार-पत्र या पुस्तक को पढ़कर, या किसी नेता का भाषण सुनकर या किसी सभा सोसायटी में बड़े व्यक्तियों की बातें सुनकर, अपनी राय क़ायम कर लेते हैं; और फिर बाहर जनता में उस मत का इस प्रकार प्रचार करते हैं जैसे वह उनकी अपनी स्वतन्त्र राय हो। इस प्रकार हमें मालूम हुआ कि प्रत्येक समाज में केवल थोड़े से ही ऐसे लोग होते हैं, जो स्वतन्त्र रूप से सार्वजनिक प्रश्नों पर विचार करने की क्षमता रखते हैं, और यह मनुष्य भी निष्पक्ष भाव से इन प्रश्नों पर विचार नहीं करते; वह भी अपना मत स्थिर करने में स्वार्थी भावनाओं से प्रभावित होते हैं।

(२) सार्वजनिक प्रश्नों के प्रति स्वार्थपूर्ण, साम्प्रदायिक एवं संकुचित दृष्टिकोण।

(३) नागरिक जागरूकता का अभाव एवं सामाजिक प्रश्नों के प्रति घोर उदासीनता।

(४) देश के राजनैतिक दलों का आर्थिक व राजनैतिक सिद्धान्तों को छोड़कर, साम्प्रदायिक, धार्मिक, जातीय तथा व्यक्तिगत स्वार्थों के आधार पर निर्माण।

(५) राजनैतिक साहित्य व शिक्षा सम्बन्धी पुस्तकों के द्वारा रूढ़िवादी व संकुचित विचारों का प्रचार।

सही जनमत बनाने तथा उसे व्यक्त करने की शर्तें (Conditions for the expression and formulation of sound public opinion)

एक सच्चे जनमत के निर्माण के लिए यह आवश्यक है कि हम उन तमाम बाधाओं को दूर कर सकें, जिनका वर्णन अभी हमने ऊपर किया है। इसके साथ ही इस बात की भी आवश्यकता है कि एक सच्चे जनमत के निर्माण के लिए निम्नलिखित अवस्थाएँ उत्पन्न की जाएँ :—

(१) **शिक्षित जनता**—अशिक्षा सामाजिक जीवन की सबसे बड़ी शत्रु है। उचित और पर्याप्त शिक्षा के अभाव में मनुष्य अपने व्यक्तित्व का विकास नहीं कर सकता। वह शिक्षा के बिना एक कोरा भावुक प्राणी रहता है और तर्क से काम नहीं ले सकता।

(२) **आदर्श शिक्षा-प्रणाली**—किसी देश की शिक्षा-प्रणाली वहाँ की जनता की बुद्धि और स्वभाव के अनुकूल होनी चाहिए। शिक्षा का उद्देश्य नागरिकों के चरित्र का उत्थान तथा जनता में राजनैतिक चैतन्यता उत्पन्न करना होना चाहिए। शिक्षा प्रदान करने में छोटे और बड़े ऊँच और नीच का भेदभाव नहीं होना चाहिए। सबको समान रूप से आदर्श नागरिकता की शिक्षा मिलनी चाहिए।

(३) निर्धनता का अन्त—एक सच्चे जनमत के निर्माण के लिए यह भी आवश्यक है कि देश से ग़रीबी, और भूख का भी अन्त होना चाहिए। एक ऐसे देश में जहाँ कि अधिकांश जनता को एक वक्त पेटभर खाना भी न मिलता हो, जहाँ के मजदूरों को पेट के धन्धे से ही फुर्सत न मिलती हो, जहाँ के किसानों को सदा ही अकाल का भय बना रहता हो, यह कैसे आशा की जा सकती है कि जनता सार्वजनिक प्रश्नों पर निष्पक्ष रूप से विचार कर सकेगी। ऐसे देश में केवल धनिक लोगों का मत ही जनमत कहलाएगा।

(४) साम्प्रदायिकता का अन्त—सच्चे जनमत के निर्माण के लि' यह भी आवश्यक है कि जनता अपने जीवन से संकुचित तथा साम्प्रदायिक भावों को निकाल कर बाहर कर दे। जनता में राष्ट्रीय प्रश्नों पर एक विशाल दृष्टिकोण से अध्ययन करने की क्षमता होनी चाहिये।

(५) निष्पक्ष समाचार-पत्र—असत्य, झूठ तथा भ्रमपूर्ण ख़बरों को उड़ाने वाले अख़बार और धार्मिक, जातीय एवं साम्प्रदायिक भावनाओं से ओत-प्रोत सम्पादक एक सच्चे जनमत के निर्णय में भारी बाधक सिद्ध होते हैं। प्रजातन्त्रीय देशों में ऐसा भी देखने में आता है कि बड़े-बड़े पूँजीपति बहुत से अख़बारों को खरीद कर अपने आधीन कर लेते हैं, और फिर उनके द्वारा अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए झूठा प्रचार करते हैं। एक सच्चे जनमत के निर्माण के लिए ऐसे पत्रों का भी बन्द होना आवश्यक है।

(६) राजनैतिक दलों का आर्थिक एवं राजनैतिक सिद्धान्तों पर निर्माण—प्रजातन्त्रीय देशों में राजनैतिक दलों का निर्माण, धार्मिक, जातीय अथवा साम्प्रदायिक सिद्धांतों पर कदापि नहीं होना चाहिए, वरन् शुद्ध आर्थिक और राजनैतिक सिद्धांतों पर होना चाहिये।

(७) **चुनाव**––देश के जनमत को प्रकट करने का चुनाव भी एक महत्वपूर्ण साधन है। इनके द्वारा विभिन्न राजनैतिक दलों को जनता के सामने अपने कार्यक्रम और नीति को रखने का मौका मिलता है जनता जिस दल के कार्यक्रम को पसन्द करती है, उसीके पक्ष में राय देती है।

(८) **धार्मिक संगठन**—धर्म ने सदा से ही मनुष्यों के मस्तिष्क पर एक ज़बरदस्त प्रभाव डाला है। पिछड़े हुए देशों में इसका प्रभाव बहुत अधिक होता है। धार्मिक संस्थाएँ इसलिए जनमत के निर्माण में समुचित भाग लेती हैं। परन्तु एक सही जनमत के निर्माण के लिये यह आवश्यक है कि धार्मिक संस्थाएँ अपने संकुचित दृष्टिकोण से ही अपने राजनैतिक प्रश्नों पर विचार न करें बल्कि एक उदार दृष्टिकोण से इन प्रश्नों का अध्ययन करें। आजकल विशेषकर हमारे देश में, कितनी ही धार्मिक संस्थाएँ 'धर्म खतरे में है' का नारा लगाकर भोले-भाले भावुक लोगों का पथ भ्रष्ट कर देती हैं।

उपरोक्त वर्णित सभी संस्थाएँ जनमत के निर्माण में बहुत महत्वपूर्ण भाग लेती हैं। इसलिए इनका किसी भी प्रकार से दुरुपयोग न किया जाना चाहिए।

योग्यता-प्रश्न

१. जनमत से आप क्या समझते हैं ? यह किस प्रकार व्यक्त किया जाता है ? (यू० पी०, १९४८)

२. आधुनिक राज्य में जनमत कौन सा फ़र्ज अदा करता है ? जनमत किस तरह निर्मित और व्यक्त किया जाता है ? सच्चे जनमत के निर्माण और प्रकट करने में जो बातें बाधक स्वरूप सिद्ध होती हैं उन पर प्रकाश डालिए। (यू० पी०, १९३६)

३. जनमत के अर्थ पर प्रकाश डालिये। किसी भी देश में सुदृढ़ जनमत निर्माण करने में कौन-सी बाधाएँ उत्पन्न होती हैं ?

४. जनमत क्या है ? किसी भी देश में सुदृढ़ जनमत के निर्माण करने में कौन-

(३) **निर्धनता का अन्त**—एक सच्चे जनमत के निर्माण के लिए यह भी आवश्यक है कि देश से ग़रीबी, और भूख का भी अन्त होना चाहिए। एक ऐसे देश में जहाँ कि अधिकांश जनता को एक वक्त पेटभर खाना भी न मिलता हो, जहाँ के मजदूरों को पेट के धन्धे से ही फ़ुर्सत न मिलती हो जहाँ के किसानों को सदा ही अकाल का भय बना रहता हो, यह कैसे आशा की जा सकती है कि जनता सार्वजनिक प्रश्नों पर निष्पक्ष रूप से विचार कर सकेगी। ऐसे देश में केवल धनिक लोगों का मत ही जनमत कहलाएगा।

(४) **साम्प्रदायिकता का अन्त**—सच्चे जनमत के निर्माण के लि' यह भी आवश्यक है कि जनता अपने जीवन से संकुचित तथा साम्प्रदायिक भावों को निकाल कर बाहर कर दे। जनता में राष्ट्रीय प्रश्नों पर एक विशाल दृष्टिकोण से अध्ययन करने की क्षमता होनी चाहिये।

(५) **निष्पक्ष समाचार-पत्र**—असत्य, झूठ तथा भ्रमपूर्ण खबरों को उड़ाने वाले अखबार और धार्मिक, जातीय एवं साम्प्रदायिक भावनाओं से ओत-प्रोत सम्पादक एक सच्चे जनमत के निर्णय में भारी बाधक सिद्ध होते हैं। प्रजातन्त्रीय देशों में ऐसा भी देखने में आता है कि बड़े-बड़े पूँजीपति बहुत से अखबारों को खरीद कर अपने आधीन कर लेते हैं, और फिर उनके द्वारा अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए झूठा प्रचार करते हैं। एक सच्चे जनमत के निर्माण के लिए ऐसे पत्रों का भी बन्द होना आवश्यक है।

(६) **राजनैतिक दलों का आर्थिक एवं राजनैतिक सिद्धान्तों पर निर्माण**—प्रजातन्त्रीय देशों में राजनैतिक दलों का निर्माण, धार्मिक, जातीय अथवा साम्प्रदायिक सिद्धांतों पर कदापि नहीं होना चाहिए, वरन् शुद्ध आर्थिक और राजनैतिक सिद्धांतों पर होना चाहिये।

(७) चुनाव—देश के जनमत को प्रकट करने का चुनाव भी एक महत्वपूर्ण साधन है। इनके द्वारा विभिन्न राजनैतिक दलों को जनता के सामने अपने कार्यक्रम और नीति को रखने का मौक़ा मिलता है जनता जिस दल के कार्यक्रम को पसन्द करती है, उसीके पक्ष में राय देती है।

(८ धार्मिक संगठन—धर्म ने सदा से ही मनुष्यों के मस्तिष्क पर एक ज़बरदस्त प्रभाव डाला है। पिछड़े हुए देशों में इसका प्रभाव बहुत अधिक होता है। धार्मिक संस्थाएँ इसलिए जनमत के निर्माण में समुचित भाग लेती हैं। परन्तु एक सही जनमत के निर्माण के लिये यह आवश्यक है कि धार्मिक संस्थाएँ अपने संकुचित दृष्टिकोण से ही अपने राजनैतिक प्रश्नों पर विचार न करें बल्कि एक उदार दृष्टिकोण से इन प्रश्नों का अध्ययन करें। आजकल विशेषकर हमारे देश में, कितनी ही धार्मिक संस्थाएँ 'धर्म खतरे में है' का नारा लगाकर भोले-भाले भावुक लोगों का पथ भ्रष्ट कर देती हैं।

उपरोक्त वर्णित सभी संस्थाएँ जनमत के निर्माण में बहुत महत्वपूर्ण भाग लेती हैं। इसलिए इनका किसी भी प्रकार से दुरुपयोग न किया जाना चाहिए।

योग्यता-प्रश्न

१. जनमत से आप क्या समझते हैं? यह किस प्रकार व्यक्ति कया जाता है? (यू० पी०, १९४८)

२. आधुनिक राज्य में जनमत कौन सा फ़र्ज अदा करता है? जनमत किस तरह निर्मित और व्यक्त किया जाता है? सच्चे जनमत के निर्माण और प्रकट करने में जो बातें बाधक स्वरूप सिद्ध होती हैं उन पर प्रकाश डालिए। (यू० पी०, १९३६)

३. जनमत के अर्थ पर प्रकाश डालिये। किसी भी देश में सुदृढ़ जनमत निर्माण करने में कौन-सी बाधाएँ उत्पन्न होती हैं?

४. जनमत क्या है? किसी भी देश में सुदृढ़ जनमत के निर्माण करने में कौन-

सी शर्तें ज़रूरी हैं ? ये शर्तें भारतवर्ष में कहाँ तक पाई जाती हैं ?
(यू० पी०, १९४५)

५. सुदृढ़ जनमत निर्माण करने में स्वतंत्र समाचार-पत्र और ईमानदार समाचार-पत्र की आवश्यकता पर प्रकाश डालिये।

६. प्रजातांत्रिक राज्यों में जनमत जिन मार्गों द्वारा प्रकट किया जाता है उनका वर्णन कीजिये। (यू० पी०, १९४०)

बाईसवाँ अध्याय

स्थानीय स्वराज्य (Local Self-Government)

स्थानीय स्वराज्य का अर्थ म्यूनिसिपल बोर्ड, ग्राम पंचायत, इंप्रूवमेंट ट्रस्ट इत्यादि उन संस्थाओं से होता है जिन्हें स्थानीय मामलों में, जैसे शिक्षा का प्रबन्ध, सफाई, स्वास्थ्य रक्षा, पानी, रोशनी, सड़कों तथा नाली इत्यादि के इन्तज़ाम का स्वराज्य प्राप्त होता है। स्वायत्त शासन की संस्थाएँ संसार के प्रायः सभी देशों में पाई जाती हैं। उपयोगिता, कुशलता, मितव्ययता तथा नागरिक शिक्षा के दृष्टिकोण से इन संस्थाओं का अस्तित्व अत्यत ही आवश्यक समझा जाता है।

स्थानीय स्वराज्य की उपयोगिता (Utility of Local Self-Government)

(१) **सुविधाजनक प्रबन्ध**—आधुनिक राज्यों का आकार इतना बड़ा होता है कि देश की केन्द्रीय सरकार अथवा प्रान्तीय सरकारें अपने हाथों में केवल रक्षा, अंतर्राष्ट्रीय संबंध, शांति और व्यवस्था, मुद्रा, बैंक तथा उद्योग-धन्धों की उन्नति इत्यादि महत्वपूर्ण विषयों का प्रबन्ध ही ले सकती हैं। हमारे घरों के सामने वाली सड़कों व नालियों की सफाई, रोशनी व पानी का प्रबन्ध, हस्पताल और दवाखानों का इन्तज़ाम, जच्चाघर और दाइयों का प्रबन्ध, टूटे-फूटे मकानों और सड़कों के गड्ढों की मरम्मत, पार्क और खेलने इत्यादि के स्थानों का प्रबन्ध—यह कुछ ऐसे प्रश्न हैं जिनके संबंध में दूर पर रहने वाली केन्द्रीय या प्रान्तीय सरकारें ठीक जानकारी नहीं रख सकतीं, और इस कारण इन विषयों का प्रबन्ध सफलतापूर्वक तथा हर स्थान की सुविधा के अनुसार नहीं कर सकतीं। इन विषयों का उचित

प्रबन्ध तो किसी विशेष स्थान के निवासी ही कर सकते हैं। क्योंकि इनके कुप्रबन्ध से उन्हीं को दिक्कतों का सामना करना पड़ता है। इसलिए स्वायत्त शासन की सर्वप्रथम उपयोगिता जनता की प्रतिदिन की आवश्यकताओं का उत्तम और सुविधाजनक प्रबन्ध है।

(२) शासन की कुशलता— Efficiency)—स्थानीय स्वराज्य की संस्थाओं से केन्द्रीय और प्रांतीय सरकारों का कार्य भार बहुत कम हो जाता है, और छोटे-छोटे मामलों की देखभाल से छुटकारा पाकर, वह अपनी शक्तियाँ देश के बड़े-बड़े और महत्वपूर्ण प्रश्नों को हल करने में लगा सकती हैं। इस कार्य विभाजन से सरकार के काम की कुशलता (Efficiency) बढ़ जाती है और वह तेजी से अपने काम को संपन्न कर सकती है।

(३) मितव्ययता—स्थानीय संस्थाओं से सरकार के खरचे में भी भारी बचत हो जाती है। यदि यह संस्थाएँ न होतीं तो सरकार को अनेक कर्मचारियों को नियुक्त करके स्थानीय विषयों का प्रबन्ध करना पड़ता। स्थानीय संस्थाओं के सदस्य बिना किसी वेतन के ही काम करते हैं और इस प्रकार देश की सरकार के खरचे में काफ़ी बचत हो जाती है।

(४) व्यवसायिक कार्य (Municipal Trading)—स्थानीय संस्थाओं को अनेक व्यवस्थापिक कार्य भी करने पड़ते हैं जिनसे न केवल जनता को ही सुविधा होती है, वरन् उनको स्वयं भारी आर्थिक लाभ पहुँचता है, और अनेक लोगों को बड़े-बड़े व्यवसायों के प्रबन्ध का अनुभव हो जाता है। प्रायः प्रत्येक देश में ही बड़े नगरों की म्यूनिसिपैलटियाँ, पानी (water works), बिजली, ट्रैम्वे, बस, ट्राली बाज़ारों तथा कुछ कारखानों का प्रबन्ध करती हैं। यह व्यवसाय ऐसे हैं कि इन्हें केन्द्रीय सरकार ठीक प्रकार से नहीं चला सकती, और जनता की सुविधा तथा बचत के दृष्टिकोण से इनको व्यक्तिगत हाथों में भी नहीं दिया जा सकता। इससे प्रायः प्रत्येक देश में ही ऐसे व्यवसायों का प्रबन्ध स्थानीय संस्थायों

को ही दिया जाता है। पाश्चात्य देशों में तो स्थानीय संस्थाएँ और भी अनेक व्यवस्थापिक कार्य करती हैं। वह अपनी ओर से सिनेमाओं, थियेटरों, नृत्य-घर, स्केटिंग हाल (Skating Hall), स्नान-गृह गौशाला, भोजनालय, रैस्टोरैंट तथा होटलों इत्यादि का भी प्रबन्ध करती हैं। इससे जनता को हर प्रकार की सुविधाएँ बहुत सस्ती क़ीमत में ही मिल जाती हैं।

(५) नागरिक शिक्षा (Civil Education)—स्थानीय स्वराज्य की संस्थाओं के पक्ष में सबसे ज़बरदस्त दलील उनका शिक्षा सम्बन्धी मूल्य है। यह नागरिक तथा राजनैतिक शिक्षा का एक प्रधान साधन है। यह नागरिकों में उन गुणों तथा भावों का संचार करती हैं जिन पर किसी देश की प्रजातन्त्रीय संस्थाओं की सफलता निर्भर है। यह जनता में प्रेम, सहयोग, सेवा तथा बलिदान के भाव और सार्वजनिक प्रश्नों के प्रति रुचि पैदा करती हैं।

स्थानीय प्रश्न अर्थात् सफाई का प्रबन्ध, यातायात के साधनों की सुविधा, बग़ीचों तथा आमोद-प्रमोद के स्थानों का प्रबन्ध इत्यादि—यह कुछ ऐसे विषय हैं जिनमें किसी स्थान की जनता, राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं के मुकाबले में, अधिक दिलचस्पी लेती है, क्योंकि इनके सुप्रबन्ध पर ही उसके दैनिक जीवन का सुख तथा अच्छाई निर्भर करती है। स्थानीय संस्थाओं के द्वारा मनुष्यों की एक बड़ी संख्या राजनैतिक अनुभव और शिक्षा प्राप्त कर लेती है। ऐसे मनुष्य आगे चलकर देश के राजनैतिक क्षेत्र में अधिक अच्छा काम कर सकते हैं। इसलिए कुछ विद्वानों का कथन है कि स्थानीय स्वराज्य की संस्थाएँ राष्ट्रीय स्वराज्य की जड़ हैं।

प्रजातन्त्र की सफलता के लिए स्थानीय संस्थाएँ सबसे महत्वपूर्ण कार्य करती हैं। इन संस्थाओं के द्वारा जनता में सार्वजनिक कार्यों के प्रति रुचि पैदा होती है। लोग अपने स्वार्थ की बातों से परे हटकर समान

हित के कार्यों में भाग लेने लगते हैं। वे न्यायप्रिय, नम्र तथा शील नागरिक बन जाते हैं। वे आपस में मिल जुलकर विचार करने लगते हैं।

डी टॉकविले (De Toequ ville) का कहना है कि नागरिकों की स्थानीय संस्थाओं से स्वतन्त्र राष्ट्रों की शक्ति सन्नहित रहती है। जिस प्रकार प्राथमिक शिक्षा के लिए विज्ञान की शिक्षा आवश्यक है, ठीक उसी प्रकार स्वाधीनता के लिए नागरिकों की सभाएँ आवश्यक हैं। एक स्वतन्त्र राष्ट्र सरकार का संगठन तो कर सकता है परन्तु स्थानीय संस्थाओं के बिना, उसमें एक सुसंस्कृत राष्ट्र की भावनाएँ जाग्रत नहीं हो सकतीं।

स्थानीय स्वराज्य को संस्थाओं की सफलता के लिए आवश्यक ?र्तें

कुछ देशों में, विशेषकर भारतवर्ष में ऐसा देखने में आया है, कि स्थानीय संस्थाएँ, अधिक सफल नहीं हो पाई हैं। जनता की सेवा करने के बजाय वे उनके दुःख तथा मुसीबत का कारण बन गई हैं। इन संस्थाओं ने दलबन्दी बेईमानी, जालसाज़ी, रिश्वत तथा झूठ का प्रचार किया है। इन संस्थाओं के सदस्य जनता के हित की इतनी परवाह नहीं करते जितनी कि अपनी स्वार्थसिद्धि की। इन्हीं सब दोषों के कारण कुछ लोगों ने कहना आरम्भ कर दिया है कि 'स्थानीय संस्थाएँ कुप्रबंध तथा सार्वजनिक हित के कामों की अवहेलना' का दूसरा नाम है।

स्वायत्त शासन की इन संस्थाओं की असफलता के अनेक कारण हैं, और इनमें सबसे बड़ा यह है कि कुछ देशों में इनकी सफलता के लिए आवश्यक वातावरण वर्तमान नहीं हैं। स्थानीय स्वराज्य की संस्थाएँ केवल उस दशा में सफल हो सकती हैं जब कि उन मनुष्यों में, जिनके ऊपर वह शासन करती हैं, निम्नलिखित गुण विद्यमान हों :—

(१) जनता में नैतिक सदाचार, ईमानदारी, तथा सहयोग का उच्च आदर्श और सार्वजनिक कर्तव्यों के प्रति उत्तरदायित्व की भावन—यदि किसी देश की जनता समान हित के कार्यों के प्रति

उदासीन रहती है, या सुस्त, स्वार्थी और अभिमानी है तो स्वायत्त शासन की संस्थाएँ सफल नहीं हो सकतीं। जनता को चाहिए कि वह सहयोग और समझौते का मूल्य तथा सार्वजनिक प्रश्नों पर एक दूसरे के विचारों की इज़्ज़त करना सीखें। उनमें अपने पड़ोसियों के हित की उन्नति के लिए सेवा की भावना विद्यमान होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त, उनमें उच्च व्यापक हित साधना के लिए छोटे स्वार्थों का बलिदान करने की क्षमता होनी चाहिए। स्थानीय हितों की प्राप्ति के लिए उसे राष्ट्रीय हितों के प्रति अन्धा न बन जाना चाहिये। उसमें सार्वजनिक प्रश्नों पर स्वतन्त्र रूप से निर्णय करने की योग्यता होनी चाहिए।

(२) स्थानीय संस्थाओं की सफलता के लिये दूसरी आवश्यक शर्त यह है कि देश में एक तीव्र, चैतन्य और सजीव जनमत का निर्माण होना चाहिए। जनता को चाहिए कि वह म्यूनिसिपल संस्थाओं के कामों की सदा रचनात्मक आलोचना करती रहे, जिससे कि यह लोग सार्वजनिक हित के कार्यों के प्रति उदासीन न हो जाएँ। इसी उद्देश्य से प्रत्येक देश में मतदाताओं की सभाएँ (Voter's Council) बननी चाहिएँ जिससे कि वह स्वतन्त्र रूप से सार्वजनिक प्रश्नों पर विचार कर सकें और म्यूनिसिपल सदस्यों को जनता के मत का बोध करा सकें।

(३) चुनाव के समय निर्वाचकों को चाहिए कि वह अपने प्रतिनिधियों को मत देते समय उनकी योग्यता और सार्वजनिक सेवा का ध्यान रक्खें, और जातीय या पारिवारिक बन्धनों की भावनाओं से प्रभावित न हों।

(४) केन्द्रीय सरकार को भी चाहिए कि वह स्थानीय संस्थाओं के काम में अधिक हस्तक्षेप न करे। हस्तक्षेप केवल उसी दशा में किया जाना चाहिए जब कि स्थानीय संस्था का प्रबन्ध इतना दूषित हो जाए कि उसको सुधारने का और कोई उपाय शेष न रह जाए।

स्थानीय स्वराज्य की संस्थाएँ

किसी भी देश की स्थानीय स्वराज्य की संस्थाओं का अध्ययन करने से पता चलेगा कि यह संस्थाएँ कई प्रकार की होती हैं। उदाहरणार्थ, प्रत्येक गाँव में ग्राम पंचायतें, छोटे-छोटे कस्बों में टाउन एरिया कमेटी (Town Area Committee), शहरों में म्यूनिसिपल बोर्ड, तथा बड़े नगरों में कौरपोरेशन और इम्प्रूवमेन्ट ट्रस्ट (Corporation and Improvement Trust) होते हैं। अलग-अलग देशों में इन संस्थाओं को भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा जाता है। जैसे इंगलैंड में ग्राम पंचायतों को पैरिश (Parish) म्यूनिसिपल कमेटियों को काउन्टी (County), तथा कौरपोरेशन्स को बौरोज (Boroughs) कहा जाता है इत्यादि।

अधिकार विभाजन का सिद्धान्त

प्रश्न उठता है कि केन्द्रीय सरकार, प्रान्तीय सरकार तथा विभिन्न स्थानीय संस्थाओं में किस प्रकार अधिकार विभाजन किया जाता है। इसका उत्तर यह है कि जो विषय राष्ट्रीय महत्व के होते हैं, जैसे फ़ौज का प्रबन्ध, रक्षा, हवाई सेना तथा समुद्री बेड़े का प्रबन्ध, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, आयात-निर्यात कर, आयकर, मुद्रा तथा केन्द्रीय बैंक का प्रबन्ध इत्यादि, वह केन्द्रीय सरकार के हाथ में सौंपे जाते हैं। जो विषय प्रांतीय महत्व के होते हैं, जैसे शांति और व्यवस्था, कृषि तथा उद्योग-धन्धों की उन्नति, शिक्षा का प्रबन्ध, सार्वजनिक स्वास्थ्य तथा जेलों इत्यादि का इन्तज़ाम, वे प्रांतीय सरकारों को दिये जाते हैं। ऐसे विषय जैसे सड़कों, गलियों तथा नालियों की सफाई, रोशनी का प्रबन्ध, संक्रामक बीमारियों की रोक थाम, हस्पताल और औषधालयों का प्रबन्ध, आने-जाने के साधन, इत्यादि, स्थानीय संस्थाओं को दिये जाते हैं। यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि अधिकार विभाजन का कोई फौलादी नियम नहीं होता। सरकार के विभिन्न अंग एक दूसरे से बिल्कुल अलग रहकर काम नहीं करते, वरन् एक दूसरे

के सहयोग से काम करते हैं। प्रत्येक सार्वजनिक कार्य का प्रभाव बहुत दूर तक पड़ता है। यदि किसी स्थानीय संस्था द्वारा शिक्षा अथवा स्वास्थ्य का ठीक प्रबन्ध नहीं किया जाता तो इससे केवल एक स्थान में रहने वाले लोगों को ही असुविधा नहीं होती वरन् इसका प्रभाव देश के दूसरे भागों तथा नागरिकों पर भी पड़ता है। इसलिए प्रायः प्रत्येक देश में ही केन्द्रीय सरकार, प्रान्तीय तथा स्थानीय संस्थाओं के कामों की देख भाल करना अपना कर्त्तव्य समझती है।

स्थानीय स्वराज्य की संस्थाओं के मुख्य कार्य

स्थानीय संस्थाओं के कार्यों का हम निम्न प्रकार से विवेचन कर सकते हैं।

(१) **स्वास्थ्य रक्षा**—स्वास्थ्य रक्षा दो प्रकार से होती है। एक, रोग की उत्पत्ति के कारणों को दूर करके, और दूसरे, रोग उत्पन्न होने पर उसकी चिकित्सा द्वारा। रोग फैलने के भी अनेक कारण होते हैं। जैसे गन्दगी, अस्वच्छ जल का पीना, वायु में रोगों के कीटाणुओं की उपस्थिति आदि। स्थानीय संस्थाएँ रोगों के इन कारणों को दूर करने के लिए अनेक उपाय करती हैं, जैसे सड़कों और नालियों की सफ़ाई, शुद्ध जल का प्रबन्ध, चेचक, प्लेग हैजे आदि के टीकों का इन्तजाम, सड़ी-गली खाने की चीज़ों की बिक्री को रोकना, गन्दे मकानों व मुहल्लों को तोड़कर, उनके स्थान पर खुले और स्वास्थ्यप्रद मकान बनवाना आदि। रोगियों की चिकित्सा के लिए वे अस्पताल और औषधालय स्थापित करती हैं।

(२) **प्रारम्भिक शिक्षा**—बच्चों की प्रारम्भिक शिक्षा के लिए पाठशालाएँ, नरसरी स्कूल, मौन्टसरी स्कूल इत्यादि खोलना, स्थानीय संस्थाओं का मुख्य कार्य है। पुस्तकालय और वाचनालय इत्यादि का प्रबन्ध भी इन्हीं संस्थाओं द्वारा किया जाता है, जिससे कि वयस्क जनता की शिक्षा में सहायता मिल सके।

(३) यातायात के साधनों का प्रबन्ध—स्थानीय संस्थाएं लोगों को इधर-उधर लाने ले जाने के लिए सड़कों, ट्राम्बे, बस, तथा स्थानीय रेलों आदि का प्रबन्ध भी करती हैं।

(४) आकस्मिक आपत्तियों से रक्षा—अँधेरी सड़कों पर गिर पड़ना, दो मोटरों में टक्कर हो जाना, तथा आग इत्यादि का लगना आकस्मिक दुर्घटनाएँ हैं। जनता की इनसे रक्षा के लिए स्थानीय संस्थाएं रोशनी का प्रबन्ध करती हैं, गाड़ियों आदि के चलने के लिए नियम बनाती हैं, मेलों और तमाशों में विशेष प्रबन्ध करती हैं। और आग बुझाने वाले इंजन आदि का इन्तज़ाम करती हैं।

(५) जनता के मनोरंजन का प्रबन्ध—जनता के मनोरंजन के लिए, प्रगतिशील संस्थाएँ. सिनेमा. थिएटर, दंगल, सर्कस, पार्कों, स्नान-गृहों, तैरने के तालाबों इत्यादि का प्रबन्ध करती हैं।

(६) म्यूनिसिपल व्यापार—जैसा कि पहले भी बतलाया जा चुका है, स्थानीय संस्थाएँ जनता की सुविधा और स्वयं के आर्थिक लाभ के लिए बिजली और पानी, किराए की ट्राम वा मोटरों, बाग व नरसरी तथा कुछ छोटे-छोटे कारखानों के चलाने का प्रबन्ध करती हैं। हमारे देश में स्थानीय संस्थाएँ, दूसरे देशों की अपेक्षा कम व्यापारिक काम करती हैं। दूसरे देशों में तो बैंकों का प्रबन्ध, टाकी, सिनेमा, नृत्य-घर, होटलों, रेस्टूरेन्ट, डेयरी तथा इसी प्रकार के दूसरे कामों को भी स्थानीय संस्थाएँ ही करती हैं।

(७) विविध कार्य—इनके अतिरिक्त स्थानीय संस्थाएँ और भी दूसरे काम करती हैं। जैसे बड़े नगरों को उन्नत और सुन्दर बनाना (Town Planning) आदि। गाँव की संस्थाएँ जैसे डिस्ट्रिक्ट बोर्ड. इलाक़ा बोर्ड, ग्राम पंचायतें इत्यादि कुछ और काम भी करती हैं, जैसे वृक्षों का लगाना, नदियों के घाटों पर नाव आदि का प्रबन्ध करना, मवेशीखानों और पशुओं की चिकित्सा का प्रबन्ध करना, कृषि की

उन्नति और अकालों की रोक थाम का प्रबन्ध करना इत्यादि। ग्राम पंचायतें इसके अतिरिक्त गाँव के लोगों के बीच मुकदमों का फैसला भी करती हैं।

स्थानीय संस्थाओं की आमदनी के साधन

स्थानीय संस्थाओं की आमदनी के मुख्य साधन निम्नलिखित होते हैं :

म्युनिसिपल बोर्ड की आमदनी के साधन—(१) हाउस टैक्स, (२) बाहर से आने वाले माल पर चुंगी, (३) हैसियत और सम्पत्ति टैक्स, (४) म्युनिसिपल व्यापार से आमदनी, (नल, बिजली, ट्राम, मोटर, बस इत्यादि से), ५) स्कूलों की फीस सफाई कर (Conservatory Tax) इत्यादि। (६) म्युनिसिपल सम्पत्ति, बाजारों, दूकानों इत्यादि का किराया, ७) लायसेंस की फीस (किराये पर चलने वाली सवारियों आदि से) और (८) प्रान्तीय सरकार से आर्थिक सहायता।

ग्राम पंचायतों की आमदनी के साधन

(१) स्कूलों की फीस, (२) कोर्ट फीस या जुर्मानों की आमदनी, (३) गाँव के कूड़े या खाद की बिक्री से आमदनी, (४) डिस्ट्रिक्ट बोर्डों से वार्षिक सहायता।

भारतवर्ष की स्थानीय स्वराज्य संस्थाएँ

हमारे देश में स्थानीय स्वराज्य संस्थाएँ अधिक उन्नत अवस्था में नहीं हैं। अधिकांश म्युनिसिपल और डिस्ट्रिक्ट बोर्ड दलबन्दियों के शिकार हैं। आये दिन चेयरमैनों पर अविश्वास के प्रस्ताव पास होते रहते हैं, जिसमें वे निश्चिंत होकर प्रबन्ध कार्य में भाग नहीं ले पाते। स्थानीय संस्थाओं का दूसरा काम म्यूनिसिपल कर्मचारियों का रखना और निकालना रह गया है। म्युनिसिपल तथा डिस्ट्रिक्ट बोर्डों के सदस्य अपने मित्रों और सम्बंधियों को नौकरियों पर लगाने का प्रयत्न करते हैं और इस बात का ध्यान नहीं करते कि इससे स्थानीय संस्थाओं की कार्य-

कुशलता (Efficiency) पर क्या असर पड़ता है। भारतवर्ष के प्रत्येक बोर्ड में ही प्राय: आये दिन ग़बन के केस होते रहते हैं। पृथक् निर्वाचन-पद्धति के कारण हिन्दू और मुसलमान सदस्यों में मतभेद बना रहता है, इन सब दोषों का मूल कारण यह है कि चुनाव के समय निर्वाचक योग्य व्यक्तियों को राय नहीं देते वरन् अपने रिश्तेदारों तथा सम्बन्धियों को ही मत देते हैं। इसका दूसरा कारण यह है कि हमारे देश की जनता अशिक्षित है।

इन सब बुराइयों को दूर करने के लिए यह आवश्यक है कि जनता को शिक्षित बनाया जाय तथा उनमें नागरिक शिक्षा का प्रचार किया जाय वयस्क मताधिकार (Adult franchise) की प्रथा का होना भी नितान्त आवश्यक है। इन संस्थाओं को लोकप्रिय बनाने के लिए जनता के प्रत्येक सदस्य को ही उनमें भाग लेने का अवसर प्रदान करना चाहिए।

योग्यता-प्रश्न

१. शासन के कार्य और अधिकार किन सिद्धान्तों के आधार पर, केन्द्रीय शासन प्रान्तीय शासन, और स्थानीय संस्थाओं में विभाजन किये जाते हैं?
(यू० पी०, १९३४)

२. आप केन्द्रीय शासन और स्थानीय शासन को किस तरह अलग करेंगे? किन कारणों से आप स्वायत्त शासन के अस्तित्व को उचित समझते हैं।
(यू० पी०, १९३५)

३. आधुनिक राज्य में स्वायत्त शासन के महत्त्व को भारतवर्ष का खास हवाला देते हुए समझाइये। (यू० पी०, १९३७, १९४६, १९४९)

४. म्युनिसिपल और डिस्ट्रिक्ट बोर्डों के काम में सार्वजनिक दिलचस्पी पैदा करने के लिये आप कौन से उपाय ठीक समझते हैं और क्यों?

५. स्वायत्त शासन स्वराज्य की जड़ है इस कथन पर प्रकाश डालिये।
(यू० पी०, १९३०)

६. म्यूनिसिपल और डिस्ट्रिक्ट बोर्डों को कौन-कौन से काम सौंपने चाहिये और क्यों ? (यू० पी०, १९३३)

७. किसी भी शासन को अच्छा होने के लिये उसे अपनी प्रजा के मत्त की क़दर करनी चाहिए, इसकी प्राप्ति का सबसे अच्छा तरीक़ा स्वायत्त शासन को यथासम्भव प्रोत्साहित करना है। इस पर प्रकाश डालिये (यू० पी०, १९४०)

८. केन्द्रीय शासन को स्थानीय संस्थाओं पर कहाँ तक और क्यों नियंत्रण रखना चाहिये ? (यू० पी०, १९४५)

९. यदि तुम्हें किसी क्रिकिट मैच के लिये कैप्टिन का तथा म्यूनिसिपल कमेटी के लिये प्रधान का चुनाव करना पड़े तो तुम कौनसे गुण इन व्यक्तियों में तलाश करोगे ? (यू० पी०, १९४९)

———

तेईसवाँ अध्याय

नागरिक आदर्श

नागरिक जीवन में अधिकारों का स्थान

इस पुस्तक के पिछले अध्यायों में हमने नागरिक जीवन का अर्थ तथा राज्य के संगठन का स्वरूप समझाने का प्रयत्न किया है। परन्तु यह सब कुछ समझाने के पश्चात् आवश्यक है कि हम यह जानने का प्रयत्न करें कि वास्तव में नागरिक जीवन का आदर्श क्या होना चाहिये ? हम देख चुके हैं कि समाज का एक आदर्श नागरिक वही है जिसका जीवन अपने कर्तव्यों के उचित पालन तथा अधिकारों के समुचित ज्ञान पर अवलम्बित हो। हम यह भी देख चुके हैं कि नागरिक जीवन में विचार स्वतन्त्रता, भाषण स्वतंत्रता, तथा संगठन स्वतन्त्रता का क्या महत्व है ? जिस नागरिक के जीवन में इन स्वतन्त्रताओं को कोई स्थान नहीं मिलता, जो एक ऐसी सरकार के अन्तर्गत रहता है जो नागरिकों को किसी प्रकार के सामाजिक अधिकार प्रदान नहीं करती ; जिस राज्य के अन्तर्गत सदा जीवन का भय बना रहता है, जहाँ जनता को जीवका उपार्जन के साधन नहीं मिलते, जहाँ धार्मिक स्वतन्त्रता नहीं होती तथा जहाँ जनता स्वतंत्रतापूर्वक अपने विचारों को दूसरों पर व्यक्त नहीं कर सकती उस देश की जनता एक सुखी तथा उन्नतिशील जीवन व्यतीत नहीं कर सकती।

पिछले महायुद्ध के समय प्रेसीडेंट रूज़वेल्ट ने कहा था कि प्रत्येक नागरिक को चार स्वतन्त्रताओं का अवश्य अधिकार मिलना चाहिये।

(१) Freedom from wants (भूखा मरने के भय से स्वतंत्रता)।

(२) Freedom from fear (हर प्रकार के जीवन के प्रति भय से स्वतन्त्रता)।

(३) Freedom of conscience (किसी भी धर्म में विश्वास करने की स्वतन्त्रता)।

(४) Freedom of speech (भाषण और विचार की स्वतन्त्रता)।

यदि संसार का संगठन इन चार स्वतंत्रताओं के आधार पर किया जाय, यदि कोई एक देश दूसरे देश पर आक्रमण न करे, यदि साम्राज्य-वाद की भावना का संसार से लोप हो जाय, यदि प्रत्येक मनुष्य को उसके आर्थिक अधिकार मिल सकें तो इस पृथ्वी पर एक स्वर्गीय आनन्द की स्थापना हो सकती है। नागरिकशास्त्र उसी विद्या का नाम है जो हमें इस पृथ्वी पर रहते हुये, हमारे सामाजिक जीवन में उन अच्छाइयों का निर्माण करना सिखाती है, जिससे सारा हा विश्व, एक निरन्तर बहते हुये पानी के झरने के समान एक आनन्दमयो जीवन का अनुभव कर सके। नागरिकता का आधार इसलिये मनुष्य के उन अधिकारों तथा स्वतन्त्रताओं की रक्षा पर निर्भर है जिनके द्वारा मनुष्य अपने व्यक्तित्व का पूर्णरूप से विकास कर सकता है।

परन्तु यहाँ यह भी पूर्णरूप से समझ लेने की आवश्यकता है कि अधिकारों की रक्षा ही नहीं, मनुष्य के जीवन में कर्तव्य पालन की भावना भी उतनी ही या शायद यह कहने में भी अतियुक्ति नहीं होगी, कि उससे भी अधिक, महत्ता रखती है। एक आदर्श नागरिक को जानना चाहिये कि उसके भिन्न-भिन्न संस्थाओं तथा समुदायों के प्रति क्या कर्तव्य हैं और यदि उसके एक सस्था तथा दूसरी संस्था के प्रति कर्तव्यों में किसी प्रकार का संघर्ष उत्पन्न हो जाय तो वह उसका किस प्रकार निवारण करे।

नागरिकता मनुष्य के भिन्न-भिन्न समुदायों के प्रति कर्तव्यों के उचित क्रम निर्माण पर अवलम्बित है। (Citizenship consists in the right ordering of royalties).

मनुष्य के जीवन में कितने ही ऐसे अवसर आते हैं जब उसके एक समुदाय और दूसरे समुदाय के प्रति कर्तव्यों में भारी संघर्ष उत्पन्न हो

जाता है। उदाहरणार्थ हमारा अपने परिवार के प्रति कर्तव्य है कि हम अपने बच्चों का पालन-पोषण करें, उन्हें अच्छी से अच्छी शिक्षा दें, इत्यादि। हमारा राष्ट्र के प्रति कर्तव्य है कि यदि कभी देश की स्वतन्त्रता को खतरा हो तो हम तुरन्त ही फौज में भर्ती होकर अपने देश की रक्षा का कार्य अपने कन्धों पर सम्भाल लें। प्रश्न उत्पन्न होता है कि इन दो समुदायों के प्रति हमारे कर्तव्यों में जो संघर्ष है, उसे किस प्रकार दूर किया जाय? राष्ट्रीय सङ्कट के समय क्या हमें घर पर रुककर अपने परिवार की सेवा करनी चाहिये या सेना में भर्ती होकर अपने देश की रक्षा करनी चाहिये? इसी प्रकार का एक दूसरा उदाहरण भी ले लीजिये। हमारे घर में कोई बच्चा बीमार है, उसकी सेवा-सुश्रुवा करना हमारा धर्म है, पड़ोस के एक मकान में आग लगी है, एक अजीब कोलाहल तथा कुहराम मचा है। हमें क्या करना चाहिये—रोगी की सेवा अथवा पड़ोसी की आग से रक्षा? मनुष्य के जीवन में न मालूम कितने इस प्रकार के संघर्ष पैदा होते हैं। नागरिक-शास्त्र हमें इन संघर्षों को मिटाने का सही मार्ग बतलाता है। वह कहता है कि एक बड़े हित की साधना के लिये हमें छोटे और संकुचित हित का बलिदान कर देना चाहिये। हिन्दू शास्त्र भी हमें यही शिक्षा देते हैं। मनुस्मृति के एक श्लोक में कहा गया है :—

त्यजेदेकं कुलास्यार्थे, ग्रामास्यार्थे कुलं त्यजेत्;
ग्राम जन पदास्यार्थे आत्मार्थे पृथ्वीं त्यजेत्।

इस श्लोक का अर्थ है कि मनुष्य को अपने कुल के लिये देह को, ग्राम के लिये कुल को, देश के लिये ग्राम को, और आत्मा के लिये पृथ्वी तक को छोड़ देना चाहिये। नागरिकशास्त्र की भी यही अनुपम शिक्षा है।

मनुष्य जीवन के शक्ति आदर्श

परन्तु यहाँ प्रश्न उठता है कि मनुष्य किस लिये अपने अधिकारों

तथा स्वतन्त्रता की रक्षा या अपने कर्तव्यों की पूर्ति के झमेले में पड़ता है? संसार के अधिकतर मनुष्य कर्तव्यों की अपेक्षा अधिकारों की अधिक परवाह करते हैं। वह चाहते हैं कि उनके सभी अधिकार सुरक्षित रहें, और वह स्वयं अपने कर्तव्य पालन करें या न करें। परन्तु प्रश्न उठता है कि मनुष्य किस लिये यह अधिकार चाहता है? क्या वह अधिकारों के द्वारा संसार का एक ऐसा व्यक्ति बनना चाहता है जिसकी शक्ति तथा प्रभुता के सामने सारा विश्व थर्राये? क्या वह शक्ति का संचय करके अपने देश के नागरिकों को अपने नीचे दबाना तथा अपनी स्वार्थसिद्धि एवं एक बिलासितापूर्ण जीवन व्यतीत करने की इच्छा से उनका शोषण करना चाहता है? क्या वह अपने देश के नागरिकों के अधिकारों का हनन करके संसार के दूसरे स्वतन्त्र राष्ट्रों की स्वाधीनता को भी छीनना चाहता है? यदि मनुष्य अपने नागरिक जीवन का यही आदर्श बनाये जिसमें कि साम्राज्यवादी (Imperialist) तथा फासिस्ट (Fascist) लोग भी विश्वास रखते हैं तो वह आदर्श नागरिकशास्त्र द्वारा प्रतिपादित जीवन का नहीं वरन् एक राक्षसी विद्या के जीवन का आदर्श कहा जा सकता है। इसी शक्ति सिद्धान्त के कारण संसार में अधिकतर प्रलयकारी युद्ध होते हैं, इसी सिद्धान्त में विश्वास के कारण पिछले दो महायुद्धों में हजारों और लाखों व्यक्तियों ने रणचंडी के चरणों में अपने मधुर-जीवन के पुष्प चढ़ाए। इसी राक्षसी प्रवृत्ति के कारण असंख्य नारियों और अबोध बालकों ने अपने पति और संरक्षकों का बलिदान किया, इसी भावना के आधार पर आज भी सारा विश्व भूख, महामारी तथा बेकारी की आग में झुलस रहा है।

सेवा या कर्तव्य-पालन का सिद्धांत

एक आदर्श नागरिक को इसलिये शक्तिसिद्धांत का अवलम्बन नहीं करना चाहिये। उसे अपने जीवन का लक्ष्य संसार के दुखी, अपाहिज, भूख से पीड़ित, तथा दरिद्रता से त्रस्त जनता की सेवा बनाना चाहिये।

सेवा धर्म की शिक्षा नागरिकशास्त्र की सबसे अनुपम शिक्षा है। यही एक अच्छे नागरिक जीवन का आदर्श है। विश्व के सारे धर्म, हमारे प्राचीन धर्मशास्त्र संसार के सब महान् व्यक्ति हमारे परम पावन अवतार—सब हमें इसी आदर्श की शिक्षा देते हैं। हमारा धर्म है कि हम अपने जीवन में दूसरे मनुष्यों के अधिकारों की रक्षा अपने जीवन का ध्येय बनाएँ। हम अपने अन्दर पाशविक शक्ति का नहीं वरन् एक आत्मिक शक्ति का संचार करें। हमारा सारा जीवन सहयोगपूर्ण, संयमी, अनुशासित. प्रेम से ओत-प्रोत, घृणा और स्वार्थपरता से दूर, सेवा और बलिदान की भावना से प्रभावित बने। हमें चाहिये कि हम अपने जीवन में घृणा के स्थान पर प्रेम, संघर्ष के स्थान पर सहयोग, अविश्वास के स्थान पर विश्वास. और भेद-भाव के स्थान पर सहिष्णुता का पाठ सीखें। यदि संसार के सारे भी मनुष्य अपने अधिकारों की अपेक्षा कर्तव्य पालन की भावना पर अधिक जोर दें तो अधिकारों की तो रक्षा स्वयं हो ही जायगी परन्तु इस सबसे बढ़कर संसार का सारा समाज एक ऐसे निरन्तर तथा अविच्छिन्न आनन्द का अनुभव कर सकेगा जो केवल स्वर्गीय जीवन में ही मिल सकता है। हमारे राष्ट्र पिता महात्मा गांधी की भी यही शिक्षा थी। उन्होंने संसार के सभी मनुष्यों को प्रेम, अहिंसा, कर्तव्य-पालन तथा एक नैतिक जीवन व्यतीत करने का पाठ पढ़ाया। इस प्रकार हम देखते हैं कि नागरिक आदर्श नागरिकशास्त्र की शिक्षा, संसार के समस्त धर्मों तथा हमारे राष्ट्र पिता महात्मा गांधी के उपदेशों में कितनी समानता है। जीवन में कर्तव्य-पालन तथा सेवा की भावना नागरिक जीवन का सबसे उच्च आदर्श है। यही इस शास्त्र की शिक्षा का निचोड़ है।

———

उपसंहार

Hindi Equivalent of Political Terms used In English

Absent Voting	अनुपस्थित मतप्रदान
Absolute	पूर्ण, अनियंत्रित
Absolute Majority	स्वतन्त्र बहुमत
Absolute Monarchy	निरंकुश राजतन्त्र
Adjournment-Motion	काम-रोको प्रस्ताव
Advisory Council	परामर्श-परिषद, सलाहकारी मंडल
Agent Polling	उमेदवार का एजेन्ट
Anarchism	अराजकतावाद
Anarchist	अराजक
Anarchy	अराजकता
Arbitrary	स्वेच्छाचारी
Arbitration	मध्यस्थ का निर्णय; पंच निर्णय
Aristoocracy	कुलीन-तन्त्र
Assembly	व्यवस्थापिका सभा
Assembly Constituent	संविधान सभा
" Legislative	व्यवस्थापिका सभा, धारा सभा
Autocracy	निरंकुश तन्त्र, स्वेच्छाचारी तन्त्र
Autoorat	निरंकुश, स्वेच्छाचारी

Hindi Equivalent of Political Terms used In English

Autonomy Provincial	प्रांतीय स्वराज्य
Award	पंच निर्णय; फैसला
Balance of Power	शक्ति-सन्तुलन, शक्ति-साम्य
Ballot	मत-पत्र
Ballot box	चुनाव की पेटी
Benevolent despot	हितैषी स्वेच्छाचारी
Blue book	सरकारी रिपोर्ट
Bonafide	प्रामाणिक; विश्वसनीय
Bourgeoisie	मध्यम श्रेणी का व्यक्ति
Boycott	बहिष्कार
Budget	आय व्यय, अनुमान पत्र
Buffer State	उदासीन राज्य
Bureaucracy	नौकरशाही
Bye-election	उपनिर्वाचन
Bye-Law	उपनियम
Cabinet	मंत्रिमण्डल
" Government	मंत्रिमण्डलात्मक सरकार
Candidature	उम्मेदवारी
Cast a Vote	मत देना वोट देना
Casting Vote	निर्णायक मत

Hindi Equivalent of Political Terms used In English

Catch-Word	संकेत शब्द
Caucas	गुप्त चुनाव कमेटी
Censure, Vote of	निन्दात्मक प्रस्ताव
Census	जन-गणना
Civil Government	असैनिक सरकार
,, Law	दीवानी कानून
,, Liberty	नागरिक स्वतन्त्रता
Civil War	गृह-युद्ध
Class Representation	श्रेणी-प्रतिनिधित्व
,, Struggle	श्रेणी संघर्ष
,, War	श्रेणी युद्ध
Classification	श्रेणी विभाग
Clause	धारा
Coalition Ministry	सम्मिलित मन्त्री-दल
Common-Wealth	पंचायती राज्य
Communal	साम्प्रदायिक
Communal award	साम्प्रदायिक निर्णय
,, Electorate	साम्प्रदायिक निर्वाचक संघ
,, Representation	साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व
Communalism	साम्प्रदायवाद
Communism	साम्यवाद
Constituency	निर्वाचन क्षेत्र
Constituent Assembly	संविधान सभा
Constitution	संविधान

Hindi Equivalent of Political Terms used In English

Flexible Constitution	परिवर्तनशील संविधान
Rigid ,,	अपरिवर्तनशील संविधान
Constitutional	संविधान सम्बन्धी
Constitutional Law	संवैधानिक कानून
Constitutional Monarchy	वैधानिक राजतंत्र
Constitutionalism	संविधानवाद
Constructive	रचनात्मक
Consul	एलची
Contract theory	समझौता सिद्धान्त
Co-opted Member	मिलाये हुए सदस्य
Council of State	राज्य-परिषद
Coupd' etat	आकस्मिक राज्यपरिवर्तन
Court Criminal	फौजदारी अदालत
Court Martial	सैनिक न्याय सभा
Covenant	प्रतिज्ञा-पत्र
Cumulative Voting	एकत्रित मतप्रदान
Customs	आयात-निर्यात कर
De-jure Sovereignty	विधानतः राजसत्ता
Demagogue	सिद्धान्तहीन नेता
Democracy	प्रजातंत्र
Despotic	स्वेच्छाचारी
Despotic Government	स्वेच्छाचारी सरकार

Hindi Equivalent of Political Terms used In English

Dictator	तानाशाह
Dictatorship	तानाशाही
Diplomacy	कूटनीति
Diplomat	कूटनीतिज्ञ
Disfranchisement	मताधिकार हरण
Ecclesiastical	धर्म सम्बन्धी-विभाग
Election	चुनाव
,, Bye	उप-चुनाव
,, Direct	प्रत्यक्ष चुनाव
,, Fever	चुनाव की सरगर्मी
,, Indirect	अप्रत्यक्ष चुनाव
Elector	निर्वाचक
Electoral Campaign	निर्वाचन-युद्ध
,, College	निर्वाचक मंडल
,, List	,, सूची
,, Right	निर्वाचन अधिकार
,, Roll	निर्वाचक-सूची
Electorate	निर्वाचक
Embassy	दूतावास
Enfranchisement	मताधिकार-प्रदान
Exchequer	कोष
Excheduer Chancellor	राजस्व मन्त्री
Excluded Area	पृथक् क्षेत्र

Hindi Equivalent of Political Terms used In English

External Sovereignty	बाह्य राजसत्ता
Extraordinary Session	असाधारण अधिवेशन
Federal	संघीय
,, Government	संघ-सरकार
,, Court	संघ-न्यायालय
Federalism	संघवाद
Federalist	संघवादी
Federal-Law	संघीय कानून, संघीय विधान
Federal State	संघीय राज्य
Federation	सङ्घ
Female Franchise	स्त्री मताधिकार
Feudal System	सामन्त प्रथा
Finance	राजस्व-शासन
Flexibility	परिवर्तनशीलता, लचीलापन
Franchise	मताधिकार
General Election	साधारण निर्वाचन
Government Popular	लोकप्रिय सरकार
Government Presidential	अध्यक्षात्मक सरकार
,, Unitary	एकात्मक सरकार
Habeas Corpus	शारीरिक स्वाधीनता-पत्र
Home Department	गृह विभाग
Impeachment	सार्वजनिक दोषारोपण

Hindi Equivalent of Political Terms used In English

Imperialism	साम्राज्यवाद
Imperialist	साम्राज्यवादी
Import	आयात
Initiative	प्रस्तावाधिकार
Interpellation	प्रश्न
Jurisdiction	अधिकार-सीमा
Jurisprudence	क़ानून-विज्ञान, विधान विज्ञान
Jus Gentium	अन्य जातियों सम्बन्धी क़ानून
Jus Naturale	प्राकृतिक क़ानून
Joint Electorate with reservation of seats	सुरक्षित स्थानयुक्त संयुक्त निर्वाचन प्रणाली
Kinship	जाति सम्बन्ध
Law	क़ानून, विधान
,, Administrative	शासन सम्बन्धी क़ानून
,, Constitutional	संवैधानिक क़ानून
,, Federal	संघ क़ानून
,, International	अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून
,, Natural	प्राकृतिक नियम
Law Positive	मानवी क़ानून
,, Private	निजी क़ानून
,, Public	सार्वजनिक क़ानून
Legislative Assembly	व्यवस्थापिका सभा
Legislative Council	व्यवस्थापिका परिषद्

In

Hindi Equivalent of Political Terms used In English

Limited Vote Plan	सीमित मत-प्रथा
Mandate	शासनादेश
Matriarchal Theory	मातृप्रधान सिद्धांत
Monarchical	राजतन्त्रीय
Monarchy	राजतन्त्र
Natural-born citizen	जन्म-जात नागरिक
Naturalized citizen	राज्यदत्त नागरिक
Naturalisation	नागरिककरण
Nominal Sovereignty	नाम मात्र की राजसत्ता
Ochlocracy	झुंड तंत्र
Opening Ceremony	उद्घाटन समारोह
Paramountcy	सर्वोच्चता
Patriarchal State	पितृ-प्रधान राज्य
Patriarchical Theory	पितृ-प्रधान सिद्धान्त
Plutocracy	धनिक तंत्र
Plebiscite	लोकमत संग्रह
Polling Agent	निर्वाचन एजेन्ट
Polling Officer	मत लेने वाला अफसर
Post-Folio	मंत्री का कार्य विभाग
Presidential Government	अध्यक्षात्मक सरकार
Prime Minister	प्रधान-मंत्री

Hindi Equivalent of Political Terms used In English

Proportional Representation	आनुपातिक मतप्रदान प्रथा
Quorum	कार्य निर्वाहक संख्या
Quota	निर्धारित भाग
Republic	लोकतंत्र, गणतंत्र, सम्राट्हीन प्रजातंत्र
Revolution	क्रान्ति
Referendum	जनमत संग्रह
Recall	प्रत्यावर्तन
Rigid Constitution	विधान अपरिवर्तनशील शासन
Secular State	लौकिक राज्य
Socialism	समाजवाद
Sovereignty	राजसत्ता
,, Nominal	नामधारी राजसत्ता
Sovereignty Actual	वास्तविक राजसत्ता
,, Defacto	तथ्यत: राजसत्ता
Sovereignty Dejure	विधनात: राजसत्ता
,, External	बाह्य राजसत्ता
,, Internal	आंतरिक राजसत्ता
,, Legal	क़ानूनी, अथवा वैध राजसत्ता
,, Political	राजनैतिक राजसत्ता

Hindi Equivalent of Political Terms used In English

Separate Electorate	प्रथक निर्वाचन-प्रणाली
Theocracy	धमतंत्र शासन
Titular Executive	नाम मात्र का शासक
Tyranny	अत्याचारी शासन
Tyrant	अत्याचारी
Universal	सार्वभौम
Universal Suffrage	आम मताधिकार, सर्व मताधिकार
Un-Written Constitution	अलिखित-संविधान
Urban Cons,ituency	शहरी निर्वाचन क्षेत्र
Vote of Censure	निन्दात्मक प्रस्ताव
Vote of Single Transferable	एकाकी हस्तान्तरित मत
Voter	मतदाता
Voter's list	मतदाता-सूची
Voting by Proxy	प्रतिनिधि द्वारा मतप्रदान
Ways and Means	उपाय और साधन
Weighted Representation	प्रभावयुक्त-प्रतिनिधित्व

Hindi Equivalent of Political Terms used In English

Whip of Party	दल उद्बोधक
Wire-pullers	सूत्रधार
Women Franchise	स्त्री मताधिकार
Written Constitution	लिखित संविधान